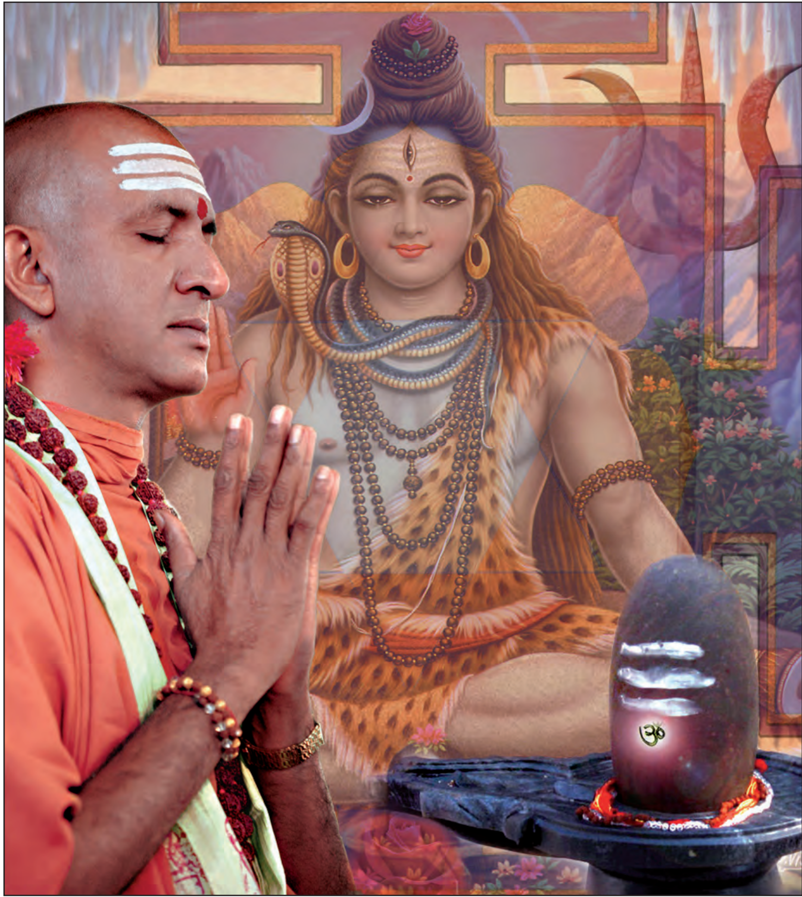
स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

शिव चरित्र

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

शिव चरित्र



WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

शिव चरित्र

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

*सन् 2009 में 13 से 19 फरवरी तक बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग,
मुंगेर में आयोजित 'शिव चरित्र एवं शिव आराधना'
में दिए गए प्रवचनों का संकलन*



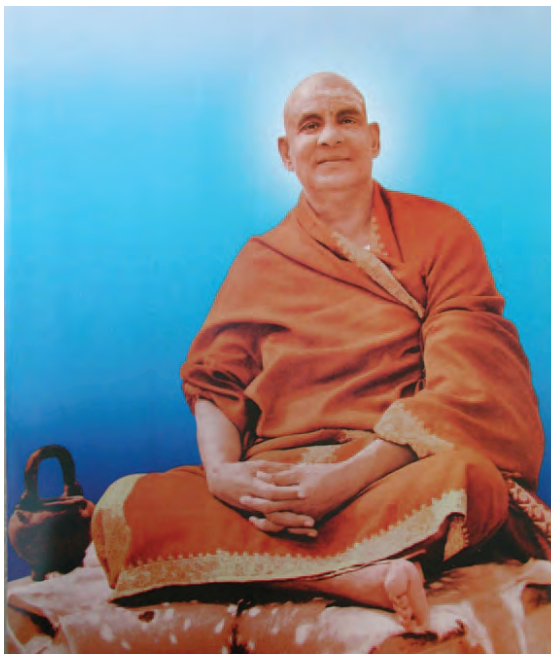
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा *प्रथम प्रकाशन 2012*

ISBN: 978-93-81620-17-5

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

भूमिका

बाल योग मित्र मण्डल, मुंगेर के बच्चों ने हमारे अपने स्वामी निरंजनानन्द जी से निवेदन किया कि वे बच्चों को शिवजी के बारे में बतायें। बच्चों को दिये गये आश्वासन के कारण स्वामीजी ने वर्ष 2009 में 13 से 19 फरवरी तक श्री बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग, मुंगेर में शिव चरित्र एवं शिव आराधना के आयोजन हेतु अपनी स्वीकृति दे दी, जिसकी सारी व्यवस्था बाल योग मित्र मण्डल, मुंगेर के बच्चों ने सम्भाली।

इस अवधि में शिवालय में स्वामीजी के श्रीमुख से जो अमृत वर्षा हुई, उसमें अवगाहन करने के लिए भारत ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व के कोने-कोने से स्वामीजी के भक्तों, शिष्यों एवं प्रशंसकों का समूह उमड़ पड़ा। प्रतिदिन जब कार्यक्रम शुरू होता, सब मन्त्रमुग्ध स्थिति में बैठे रहते और समाप्त होने पर एक अभूतपूर्व एहसास के साथ तन्द्रा टूटती। आश्चर्य तो तब होता जब हिन्दी न समझने वाले विदेशी भक्तगण भी आरंभ से अंत तक सम्पूर्ण शिव चरित्र को इस प्रकार ध्यानमग्न हो सुनते कि एक शब्द भी छूट न जाए। श्रोतागणों की श्रवणेन्द्रिय जैसे समुद्र के समान हो गयी थी, जिनमें स्वामीजी की ओजस्विनी वाणी की मन्दाकिनी अनवरत प्रवेश करती जा रही थी, पर वे भर ही नहीं पा रही थीं। सभी को ऐसा अनुभव हो रहा था मानो वे धरतीवासी न होकर शिवलोक के प्राणी हो गये हों और साक्षात् शिव-मुख से उन्हीं की लीलाओं का आनन्द ले रहे हों।

व्यासपीठ पर विराजमान होते ही स्वामीजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक दिव्य आवेश से भर जाता था। शिव चरित्र के गूढ़तम रहस्यों को वे ओजस्वी, पर सरल भाषा में उपस्थित जनमानस को हृदयंगम कराते। ईश्वर को समर्पण और प्राणियों को दिशा-निर्देश देने की व्याकुलता लिए स्वामीजी के

अन्त:करण के उद्‌गार उनकी ओजमयी वाणी में स्वत: प्रस्फुटित हो रहे थे। शिव महिमा के आलोक से दिग्-दिगन्तर आलोकित होने लगे। स्वामीजी की वाणी से शिव का ही अनुग्रह बरसता रहा।

कबीरदास ने कहा है– *दोनों हाथ उलीचीए यों संतन को काम*। इस उक्ति को चरितार्थ करती हुई श्री स्वामीजी की वाणी शिव महिमा के रहस्यमय पक्षों को सहज भाव से उद्‌घाटित करती रही। इसमें शिव चरित्र के सरस प्रसंग ही नहीं, वरन् ज्ञान, विज्ञान एवं दर्शन के गूढ़ रहस्य भी समाहित थे। परमशिव तत्त्व, सदाशिव स्वरूप, प्रणव व्याख्या, भक्ति व्याख्या, लिंग व्याख्या, शिव-शक्ति की अभिन्नता, सृष्टि रचना, शक्तिपीठ, पाशुपत तंत्र, लोकों का निर्माण, सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग में शिवजी के विभिन्न अवतार, महाकाल की महिमा, लिंग पूजा का महत्त्व, बारह ज्योतिर्लिंगों की कथा एवं सम्बन्धित घटनाओं का इतना सजीव वर्णन मानो ये अभी आँखों के सामने घट रही हों। सम्पूर्ण आयोजन के दौरान स्वामीजी की बाल सेना के बच्चे विभिन्न रूपों में सबको मोहते और सहज ही सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते रहे–कभी ये भगवान शिव के विलक्षण बाराती होते थे, तो कभी द्वादश ज्योतिर्लिंगों के प्रतीकों के समक्ष सौम्य गम्भीर पण्डितों की तरह सहस्त्रार्चन कर रहे होते थे।

इस शिव चरित्र का आनन्द बच्चों ने कहानियों के रूप में, बड़ों ने गूढ़ रहस्य एवं युवाओं ने नयी दिशा के रूप में लिया। सात दिनों की अमृत वाणी युगों की तृप्ति दे गयी। सभी छ: दिन शिवलिंग की सम्पूर्ण आराधना होती रही। अंतिम दिन सायंकाल का समय अविस्मरणीय एवं आह्लादकारी रहा। जिस लिंग की पूजा चल रही थी, उसकी स्थापना गंगादर्शन के अखाड़ा परिसर में श्री स्वामीजी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुई। योग की रक्षा हेतु उन्होंने इस लिंग का नामकरण किया, 'योगेश्वर लिंग'। साथ-ही उन्हें सबके हृदय-मन्दिर में प्रेरणा एवं भक्ति स्वरूप स्थापित भी कर दिया।

स्वामीजी ने शिव शब्द की व्याख्या करते हुए बताया–शिव शब्द शकार, इकार और वकार से मिलकर बना है। शिव में शकार का अर्थ होता है, नित्य सुख और आनन्द। इकार का अर्थ होता है पुरुष। और वकार का अर्थ होता है, अमृत स्वरूपा शक्ति। शिव शब्द में शिव और शक्ति दोनों सम्मिलित हैं। शिव और शक्ति व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्माण्ड के सनातन तत्त्व हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् और जीवन का विस्तार होता है। शिव और

शक्ति ने अपने निराकार स्वरूप को जिस प्रतीक के रूप में प्रकट किया है, वह है 'शिवलिंग'।

अखाड़ा परिसर में योगेश्वर लिंग की स्थापना के साथ ही शिवलिंग आराधना अब गंगादर्शन की एक अभिन्न परम्परा बन गयी है। स्वामीजी ने समझाया कि देव आराधना और संत प्रसाद ही इस लोक तथा परलोक में मोक्ष के साधन बनते हैं। साथ-ही जब ईश्वर सामने हों, तब मन में किसी प्रकार का विकार नहीं होना चाहिए। वह विकारशून्य स्थिति ही ईश्वर का सहज बोध कराती है।

मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो भौतिकता और आध्यात्मिकता में एक सुदृढ़ सम्बन्ध कायम कर आगे बढ़ सकता है। *बड़े भाग मानुष तन पावा*– मानव शरीर में उत्थान की सम्भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मानव शरीर मिलने का अर्थ है कि ईश्वर की कृपा तुम्हें प्राप्त हो गयी है, तुम्हारे उत्थान का मार्ग निश्चित हो चुका है, अत: ईश्वराभिमुख होकर आगे बढ़ते जाओ। अब यह संकल्प लो कि 23 घण्टे 50 मिनट संसार के लिए और दस मिनट अपनी आत्मोन्नति के प्रयास के लिए। प्रणव उपासना मनुष्य के समस्त कर्मों को समाप्त कर उन्हें नूतन जीवन, अर्थात् शिवस्वरूप प्रदान करती है। किन्तु साधना के क्षेत्र में परम्परा द्वारा निश्चित किये गये क्रम का पालन होना चाहिए। अपने इच्छानुसार, अपनी सुविधा के लिए साधना में परिवर्तन नहीं लाना चाहिए। अगर तुम एक परम्परा, व्यवस्था, विधि और विधान के अनुसार चलोगे, तो निश्चित रूप से जीवन में सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त करोगे।

भक्ति ही जीव के बंधन को हटाकर उसे शिवपद दिलाने में सक्षम होती है, इसलिए चाहे तुम योगासन, प्राणायाम, व्यायाम, तपस्या, व्रत या अनुष्ठान करो, चाहे मन्त्र जपो या समाधि लगाओ, लेकिन भक्ति के लिए दस मिनट समय अवश्य निकाल कर रखो। निवृत्तिरूपा भक्ति में ही वह शक्ति है कि वह मनुष्य के मोह की अवस्था को दूर कर दे। भक्ति साधना ही मनुष्य को मोक्ष तक ले जाती है। और जो एक बार शिव की शरणागति प्राप्त कर लेता है, शिव की आराधना में तन्मय और तल्लीन हो जाता है, वह अपने आपको जगत् के सभी प्रपंचों से मुक्त कर जीवन में शाश्वत शान्ति और सुख प्राप्त करता है।



प्रात: स्मरामि भवभीति हरं सुरेशं
गंगाधरं वृषभवाहनमम्बिकेशम् ।
खट्वांगशूल-वरदाभयहस्तमीशं
संसार रोग हरमौषधमद्वितीयम् ।।

प्रातर्नमामिगिरिशं गिरिजार्द्धदेहं
सर्ग-स्थिति-प्रलय-कारणमादिदेवम् ।
विश्वेश्वरं विजित विश्वमनोऽभिरामं
संसार रोग हरमौषधमद्वितीयम् ।।

प्रातर्भजामि शिवमेकमनन्तमाद्यं
वेदान्त-वेद्यमनघं पुरुषं महान्तम् ।
नामादिभेदरहितं षड्भावशून्यं
संसार रोग हरमौषधमद्वितीयम् ।।



प्रथम दिवस

14-02-2009

महाप्रलय

इस ब्रह्माण्ड में अनेक युग और मन्वन्तर बीत चुके हैं। अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार संहार भी। अभी चारों तरफ अंधकार ही अंधकार है, कहीं जीवन का कोई अस्तित्व ही नहीं। पिछले मन्वन्तर का समय बीत चुका है, स्तब्ध वातावरण है, शून्य अन्तरिक्ष है, उस शून्य स्तब्ध अन्तरिक्ष में कुछ नहीं है। जीवन नहीं, मृत्यु नहीं, गुण नहीं, अवगुण नहीं, ज्योति नहीं, प्रकाश नहीं, पदार्थ नहीं, द्रव्य नहीं–सब का लय हो गया है, एक अव्यक्त, परम तत्त्व में।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

तम आसीत् तमसा गूलहनग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुम्सति निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कवयो मनीषा ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा मधः स्विदासीऽऽऽदुपरि स्विदासीऽऽऽत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात ॥

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि: ।
अर्वाग्र्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥

वेदों के नासदीय सूक्त का कहना है कि सृष्टि से पहले सत् नहीं था, असत् भी नहीं था, अन्तरिक्ष भी नहीं था, आकाश भी नहीं था, छिपा था क्या? कहाँ? और किसने उसे ढका था, क्योंकि उस क्षण अगम अटल जल भी नहीं था। सृष्टि का कौन है कर्त्ता? कर्त्ता है या अकर्त्ता? ऊँचे आकाश में रहता, सदा अदृश्य बना रहता, वही सचमुच में जानता या नहीं भी जानता? है किसी को नहीं पता, नहीं पता, नहीं है पता।

परम शिव तत्त्व

सभी दिशाओं में केवल अंधकार था और उस अंधकार में मात्र एक तत्सत् ब्रह्म रूप में जो सत् था, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उस तत्सत् ब्रह्म को शैवागमों में परम शिव तत्त्व कहते हैं, जो सभी में व्याप्त है, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण भी बनता है, लेकिन इनसे मुक्त है। द्रष्टाभाव से परम शिव तत्त्व जगत् की लीला का साक्षी है। उस परम शिव तत्त्व के भीतर उस शून्य में एक स्पन्दन की उत्पत्ति होती है। अंधकारपूर्ण अन्तरिक्ष में प्रकाश की झिलमिलाहट दिखलाई देती है, धीरे-धीरे मानो पूरा शून्य अन्तरिक्ष अंधकार और प्रकाश के खेल का आँगन बन रहा है। उस समय उस परम् शिव तत्त्व में लीला की इच्छा उत्पन्न होती है और एक से अनेक होने का संकल्प उद्भूत होता है। उस समय परम शिव तत्त्व ने एक स्वरूपभूता शक्ति को प्रकट किया और वह शक्ति 'शिवा' नाम से जानी जाती है।

शिव और शिवा

शिव और शक्ति एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। शिव पुल्लिंग नहीं और शक्ति स्त्रीलिंग नहीं है। भाषा की दृष्टि से लोग शिव को पुल्लिंग और शक्ति को स्त्रीलिंग मानते हैं, किन्तु परम् शिव तत्त्व, ब्रह्म तत्त्व में न तो पुल्लिंग है, न पुरुषत्व का आभास होता है, न स्त्रीलिंग है, न स्त्रीत्व का आभास होता है। लकड़ी में अग्नि छुपी है, लेकिन दिखलाई नहीं देती। फिर

भी अग्नि का वास लकड़ी में है। लकड़ी और अग्नि दो भिन्न तत्त्व, भिन्न पदार्थ हैं, एक दृश्य है और दूसरा अदृश्य। अग्नि को लकड़ी में प्रकट करने के लिए एक विधि का पालन किया जाता है। उसी प्रकार शक्ति भी शिव में हमेशा विद्यमान है। वह शिव की अभिन्न शक्ति है, और शिव चेतन तत्त्व के रूप में सभी का साक्षी बनता है। शैवागमों में कहा है कि शिव और शक्ति, दोनों संयुक्त रूप से जगत् का विस्तार करते और जगत् की लीला में भाग लेते हैं और बाद में अपने आप में ही जगत् को समेट लेते हैं।

विष्णु का प्राकट्य

जब परम् शिव तत्त्व में *'एकोऽहं बहुस्याम:'*–'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ' का संकल्प उदय होता है, तब परमशिव अमृत को अपने बाएँ अंग पर मलते हैं। अमृत को मलने पर उनके वाम भाग से एक सुन्दर पुरुष प्रकट होता है। उस पुरुष में सत्त्व गुण अधिक था, वह शान्त, सौम्य, तेज से युक्त और गंभीरता का सागर था।

अविमुक्त क्षेत्र

परमशिव उस पुरुष से कहते हैं, 'तुम मेरे वाम भाग से उत्पन्न हुए हो, तुम आने वाली सृष्टि में व्यापक रूप से समाओगे, अत: तुम्हारा नाम विष्णु होगा। विष्णु! तुम तपस्या करो, साधना करो कि एक नयी सृष्टि हो।' विष्णु कहते हैं, 'प्रभु! चारों तरफ शून्य आधारहीन अन्तरिक्ष के अलावा कुछ नहीं है। मैं कहाँ तपस्या करूँ? कहाँ बैठूँ? कहाँ श्रम करूँ? कहाँ चिन्तन करूँ?'

तब परमशिव ने अंतरिक्ष में पाँच कोस लम्बे एक नगर का निर्माण किया। और उस नगर को विष्णु की बगल में स्थापित कर दिया। विष्णु उस नगर में स्थित होकर सृष्टि की कामना से तपस्या करने लगे। तपस्या के दौरान विष्णु के शरीर से जल की धाराएँ बहने लगीं, और इतना स्वेद निकला कि उसने पूरे शून्य अन्तरिक्ष को व्याप्त कर दिया। अन्तरिक्ष में जल ही जल दिखलाई देने लगता है और उस जल में पाँच कोस का वह नगर डूबने लगता है।

जब जल का स्तर बढ़ता है तब विष्णु का ध्यान भंग होता है और अपने को जल में पाते हैं। उनको आश्चर्य होता है–यह कैसे हुआ? क्या हुआ? और आश्चर्य में वे चारों तरफ सिर घुमा कर देखते हैं, इस क्रम में उनके कानों का एक कुण्डल उस नगर के एक खण्ड में गिर जाता है। जहाँ वह कुण्डल

गिरा, वही मणिकर्णिका है। उस समय चूँकि धरती पानी के भीतर समा चुकी थी, अविमुक्त क्षेत्र पानी में चला गया था, विष्णु पुनः शिव का स्मरण करते हैं कि भगवन्! आपने मुझे तपस्या का आदेश दिया, लेकिन यह नगर जल से भर चुका है।

परमशिव अपने त्रिशूल के अग्र भाग में उस नगर को धारण कर स्थिर बना देते हैं। वही नगर अविमुक्त क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। शैवागमों में कहा है कि प्रलय के समय भी उस नगर का नाश नहीं होता है, वह परमशिव के त्रिशूल के अग्र भाग पर स्थित है। सृष्टि समाप्त हो जाती है, सब कुछ परम तत्त्व में लीन हो जाता है, किन्तु वह पाँच कोस का नगर हमेशा शिव के त्रिशूल के अग्र भाग पर स्थित रहता है। बाद में पुनः पृथ्वी के बनने पर परमशिव उस नगर को पृथ्वी में स्थापित कर वहाँ वास करते हैं। उसी नगर को काशी कहा है, उसका दूसरा नाम आनन्दवन और तीसरा नाम अविमुक्त क्षेत्र है।

तत्त्वों की उत्पत्ति

विष्णु पुनः तपस्या में लग गये। तपस्या करते-करते वे ध्यान में योगनिद्रा की अवस्था में प्रवेश कर गए। उन्होंने जल में ही शयन किया। चूँकि जल को नार कहा जाता है, इसलिए विष्णु का दूसरा नाम हो जाता है नारायण। जल में ही दीर्घकाल तक विष्णु योगनिद्रा की स्थिति में रहते हैं, और उसी समय उनके शरीर से सभी तत्त्व प्रकट होते हैं। पहले महत् तत्त्व, महत् तत्त्व से तीन गुण, तीन गुणों के भेद से त्रिविध अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ, इन तन्मात्राओं से पंचमहाभूत, इन पंचमहाभूतों से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन सभी तत्त्वों को धारण कर नारायण उस जल में योगनिद्रा करते हैं। सभी चौबीस तत्त्व विष्णु से एकाकार हो जाते हैं।

ब्रह्मा की उत्पत्ति

समय बीतता जाता है, पता नहीं कितना समय बीता है। हो सकता है एक क्षण बीता हो, हो सकता है अनन्तकाल बीत चुका हो। जब परम शिव ने विष्णु को तपस्या कर शयन करते देखा तो जाना कि अब इनसे सृष्टि होने वाली नहीं है। तब उन्होंने अमृत को अपने दाहिने भाग में मला और उससे ब्रह्माजी

प्रकट हुए, लेकिन उन्होंने शिव को, जो निर्गुण और अदृश्य हैं, देखा नहीं, अपने को ही अकेले देखा, अपने स्वरूप को देखा। परमशिव भी उनके मन को भ्रमित कर, उन्हें विष्णु के पास ले आए। उस समय शिवेच्छा से विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और उस निर्गुण, अव्यक्त, अदृश्य परमशिव ने भ्रमित ब्रह्मा को विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर बैठा दिया।

जब ब्रह्मा आँख खोलते हैं, तब स्वयं को एक कमल पर बैठा हुआ पाते हैं। उस समय ब्रह्माजी के मन में प्रश्न उठता है कि चारों तरफ अंधकार है, शून्य है, कुछ नहीं है, सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और मैं यहाँ पर अकेला बैठा हुआ हूँ। मुझे किसने जन्म दिया? मैं कहाँ से आया? जब से मेरी आँखें खुलीं, मैंने स्वयं को देखा है। कोई तो मेरा जन्मदाता होगा। कहाँ है वह जन्मदाता? पता लगाना चाहिए। इस विचार से प्रेरित ब्रह्मा उस कमल की नाल में प्रवेश कर नीचे की ओर जाते हैं यह पता लगाने कि मुझे किसने जन्म दिया है।

कमल की एक-एक नाल में ब्रह्मा घूमते रहे, पता नहीं कितना समय बीता अनन्तकाल में, लेकिन उनको कुछ पता नहीं चला। फिर ब्रह्मा कमल में ऊपर आने लगे। लेकिन पता नहीं रास्ता भूल गए या क्या हुआ, सैकड़ों वर्षों तक वे कमलनाल के अन्दर ही रहे। बाहर का रास्ता न मिलने पर ब्रह्मा भयभीत होते हैं, पर परम शिव की कृपा से उनको ज्ञान होता है कि 'ब्रह्मा, खोजने से तुमको अपने सृष्टिकर्त्ता की प्राप्ति नहीं होगी। अगर तुम जानना चाहते हो कि तुम्हारा सृष्टिकर्त्ता कौन है, तो तपस्या करो।' और परम शिव ने ब्रह्मा को अपनी शक्ति और माया से मोहित कर पुन: कमल के ऊपर स्थापित कर दिया। ब्रह्मा आश्चर्य में थे कि कोई दिखलाई नहीं दिया, फिर भी यह आदेश है, 'तप करो'।

परमलिंग

ब्रह्मा तपस्या करने लगे। अनन्तकाल तक उन्होंने तपस्या की, तब उनके सामने नारायण प्रकट होते हैं। नारायण को देख ब्रह्मा की बातचीत आरम्भ होती है।

ब्रह्मा पूछते हैं, 'आप हैं कौन?' नारायण कहते हैं, 'मैं ही तुम्हारा सृष्टिकर्त्ता हूँ। मेरे ही नाभि-कमल से तुम प्रकट हुए हो।' लेकिन परमशिव को तो लीला करनी है। उन्होंने ब्रह्मा की मति को भ्रमित कर दिया। तब ब्रह्मा ने नारायण से कहा, 'यह कैसे सम्भव है कि मैं तुम्हारे नाभि-कमल से प्रकट हुआ हूँ? तुम

तो मेरे ही समान हो। ऊँचाई दोनों की बराबर है, शरीर दोनों का समान है। और अगर तुम्हारी नाभि से कमल प्रकट हुआ, तो तुमको उसी समय आ जाना चाहिए था जब मैं तुमको खोज रहा था। तुम मेरे सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकते हो, तुम मेरी ही तरह हो, किसी ने तुम्हें भी जन्म दिया है।'

नारायण ने कहा, 'नहीं, मैं ही तुम्हारा सृष्टिकर्त्ता हूँ, मैंने ही तुम्हें जन्म दिया है।' इस प्रकार दोनों में वाद-विवाद होने लगा और बढ़ता ही गया। जब यह विवाद चरम सीमा पर पहुँच रहा था, तब उस शून्य अन्तरिक्ष में एक भीषण नाद उत्पन्न होता है और एक अग्नि-स्तम्भ नारायण और ब्रह्मा के मध्य प्रकट हो जाता है। वह अग्नि-स्तम्भ पूरे अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लेता है। न कोई उसके ऊपर देख पाता है और न नीचे। इतना विशाल अग्नि-स्तम्भ जो दोनों देवताओं के बीच प्रकट होता है, दोनों देवताओं को मूक बना देता है।

इन दो देवों में यह जानने की उत्सुकता होती है कि यह नाद और अग्नि-स्तम्भ कहाँ से प्रकट हुआ है। ब्रह्मा कहते हैं, 'मैं इसके आरंभ का पता लगाने शीर्षभाग की ओर जाता हूँ।' विष्णु कहते हैं, 'मैं इसके अंत का पता लगाने नीचे की तरफ जाता हूँ। हम दोनों में जो जानकारी लेकर लौट आएगा, वही श्रेष्ठ होगा।'

विष्णु ने ब्रह्मा के सामने एक चुनौती रखी, 'पता करो कि यह अग्नि-स्तम्भ क्या है? इसकी शुरुआत कहाँ से होती है और अन्त कहाँ है?' ब्रह्मा हंस का रूप लेकर ऊपर की ओर उड़ जाते हैं और विष्णु शूकर का रूप लेकर नीचे की ओर आते हैं।

शैवागमों में बहुत-सी कहानियाँ आती हैं, जो कथाकार सुनाते हैं। लेकिन मैं कथाकार नहीं हूँ, इसलिए मूल बात ही कहूँगा। ब्रह्मा ऊपर जाते हैं और विष्णु नीचे की ओर। अग्नि-स्तंभ का आदि और अन्त खोजते हैं, लेकिन उन्हें प्राप्त नहीं होता और दोनों देवता वापस आते हैं। आपस में मिलने पर दोनों हाथ जोड़ कर कहते हैं कि हम इस अग्नि-स्तम्भ का न तो आदि खोज पाए न अन्त।

प्रणवाक्षर

उस समय उस अग्नि-स्तम्भ से 'ॐ' नाद प्रकट हुआ, जो सभी दिशाओं में स्पष्ट रूप से सुनाई दिया, जिसे सबसे पहले नारायण तथा ब्रह्मा ने सुना।

स्तम्भ के दक्षिण भाग में इन दोनों देवताओं ने सनातन आदिवर्ण, आदिस्वर 'अकार' ध्वनि का साक्षात्कार किया, उत्तर भाग में 'उकार' का और मध्य भाग में 'मकार' का। इन तीनों के संयुक्त नाद 'ॐ' को सुन कर, इन दोनों के मन में पुनः प्रश्न उठा—यह कौन-सा कौतुहल है, यह क्या घटित हो रहा है?

शैवागमों के अनुसार उस समय ब्रह्मा और नारायण के सामने एक दिव्य पुरुष, ऋषि रूप में प्रकट होते हैं और उनसे कहते हैं कि 'ॐ' कार की जो ध्वनि तुमने सुनी है, और जिस अग्नि-स्तम्भ को देख रहे हो, वह परमशिव का रूप है। परमशिव ही मूल, परम तत्त्व है, जिससे समस्त जीवों और पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। और 'ॐ' कार नाद परमशिव का शब्दमय शरीर है। साक्षात् परमशिव ही अग्नि-स्तम्भ और नाद 'ॐ' के रूप में तुम लोगों के बीच प्रकट हुए हैं। ऐसा कहकर ऋषि अदृश्य हो जाते हैं।

लिंग स्तम्भ

ब्रह्मा और विष्णु, दोनों उस अग्नि-स्तम्भ, परमलिंग को प्रणाम कर उसके दाएँ और बाएँ भाग में शान्तिपूर्वक खड़े हो जाते हैं। उस समय परमशिव उनके सामने साकार रूप में प्रकट होते हैं।

शिव-स्वरूप

पंचमुखी शिव परमशिव का साकार स्वरूप है। वे दस भुजाओं से युक्त हैं, हाथों में कलश, चन्द्रहास खड्ग, पिनाक धनुष, पाशुपत अस्त्र, त्रिशूल, शंख, चक्र, डमरू, अभयमुद्रा और पद्म धारण किये हैं, शरीर का रंग कपूर के समान श्वेत है, सभी मुखों में तीन नेत्र हैं, जटाएँ हैं, गले में सर्प हैं।

इस रूप में परमशिव नारायण तथा ब्रह्मा के सामने प्रकट होकर उनसे कहते हैं, 'मैं परमशिव हूँ। मेरे दो रूप हैं—निष्कल और सकल। निष्कल का अर्थ है निराकार और सकल का अर्थ है साकार।'

शिवरात्रि

परमशिव आगे कहते हैं—आज की तिथि, जब मैं प्रकट हुआ, शिवरात्रि के नाम से जानी जाएगी। और इस दिन जो भी मेरे निष्कल लिंग स्वरूप और

सकल विग्रह स्वरूप की आराधना करेगा, वह निश्चित रूप से शिव पद को प्राप्त करेगा, निश्चित रूप से मुक्त हो जाएगा।'

शिवलिंग

परमशिव, जो अव्यक्त, अनन्त, अनादि, नित्य, शाश्वत और चैतन्य है, जो किसी को दिखलाई नहीं देता, किसी इन्द्रिय से जिसका बोध नहीं हो पाता है, किसी मन से जिसका स्पर्श संभव नहीं है, किसी भावना से जिस तक पहुँचा नहीं जा सकता है, जो निराकार है, उस परम तत्त्व का प्रतीक शिवलिंग है। शिवलिंग परमशिव के निराकार अस्तित्व का प्रतीक होता है। परमशिव बतलाते हैं कि मेरे निराकार होने के कारण ही यह शिवलिंग भी निराकार है। और निराकार की पूजा आधारभूत लिंग के द्वारा सम्पन्न होती है।

सदाशिव रूप

परमशिव ब्रह्मा और नारायण के सामने जिस रूप में प्रकट होते हैं, वह उनका सदाशिव रूप है। पंचमुखी, त्रिनेत्री, दस भुजाओं से युक्त, कपूर जैसे श्वेतवर्णी, शून्य अन्तरिक्ष को अपनी आभा से प्रकाशित करते हुए, सकल रूप में ब्रह्मा और नारायण को परमशिव दिखलाई देते हैं।

साकार विग्रह का दूसरा रूप परमशिव का मंत्र शरीर है। ॐ–अ, उ और म–को परमशिव का निष्कल, शब्दब्रह्ममय रूप माना गया है तथा सदाशिव के पाँच मुखों के पाँच मंत्रों को सकल शिव का शब्दमय शरीर माना गया है। शिव के पाँच मुखों में एक मुख है 'न', दूसरा है 'म', तीसरा है 'शि', चौथा है 'वा' और पाँचवाँ है 'य'। 'न-म-शि-वा-य' में पाँच मंत्र हैं, इसको पंचाक्षरी मंत्र कहते हैं।

मंत्र ॐ में भी पाँच की संख्या आती है। 'अ' आदि स्वर हुआ। इसके बाद है 'उ'। अ आ इ ई उ। उ पंचम स्वर है। उसके बाद मकार है, 'म'। प फ ब भ म। म भी पाँचवाँ वर्ण है और इस क्रम में क च ट त प, पवर्ग पाँचवाँ है। अ, उ और म की गणना भी पाँच में ही हुई है। अ, उ और म के योग से बन जाता है ॐ मंत्र, परमशिव के निराकार, निष्कल स्वरूप का मंत्र। शिवलिंग की आराधना ॐ मंत्र से होनी चाहिए। शिवलिंग का, निष्कल स्वरूप का मूल मंत्र है 'ॐ'। पंचमुखी शिव, शिवजी का साकार स्वरूप है, उसमें 'नमः शिवाय' मंत्र आता है–वह भी पंचाक्षरी है। जब ॐ मंत्र नमः शिवाय मंत्र

से जुड़ता है, तब वह निराकार और साकार, दोनों प्रकार की उपासनाओं का माध्यम बनता है।

ॐकारं बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥

नमन्ति ऋषयो देवाः नमन्त्यप्सरसांगणाः ।
नराः नमन्ति देवेशं नकाराय नमो नमः ॥

महादेवं महात्मानं महाध्यानपरायणम् ।
महापापहरं देवं मकाराय नमो नमः ॥

शिवं शान्तं जगन्नाथं लोकानुग्रहकारकम् ।
शिवमेकपदं नित्यं शिकाराय नमो नमः ॥

वाहनं वृषभो यस्य वासुकी कण्ठभूषणम् ।
वामे शक्तिधरं देवं वकाराय नमो नमः ॥

यत्र यत्र स्थितो देवः सर्वव्यापी महेश्वरः ।
यो गुरुः सर्वदेवानां यकाराय नमो नमः ॥

सादाख्य

पंचमुखी शिवजी के पाँच मुखों को शैवागमों में सादाख्य कहा गया है और सादाख्य सकल, साकार होता है। पाँच मुँह कहने के बदले कहते हैं कि शिवजी के पाँच सादाख्य हैं। पहला है शिव सादाख्य, जो हमेशा शुद्ध होता है। दूसरा है अमूर्त्त सादाख्य, तीसरा है मूर्त्त सादाख्य। चौथा कर्त्री सादाख्य और पाँचवाँ है कर्म सादाख्य। ये शिव के पाँच मुँह हैं। पहले मुख में शुद्धि की अवस्था है–शिव तत्त्व में किसी प्रकार का दाग, धब्बा या कालापन नहीं, वह अपने आपमें पूर्ण और शुद्ध है, उसमें कोई विकार या विकृति नहीं है। शुद्ध शिव सादाख्य सदाशिव का स्वरूप भी है।

उसके बाद उनका अमूर्त्त सादाख्य, जो उत्तर दिशा की ओर है। अमूर्त्त सादाख्य का तेज कोटि सूर्य प्रकाश के समान होता है। इसकी आकृति ज्योति-स्तम्भ के समान है और यह प्रपंच की उत्पत्ति और विलय का कारण भी

है। जैसे शिव सादाख्य शुद्धता और दिव्यता का प्रतीक था, वैसे ही अमूर्त्त सादाख्य प्रपंच के विस्तार और विलय का प्रतीक है, स्वरूप है।

तीसरा है मूर्त्त सादाख्य। अग्नि की ज्वाला के समान इसकी आकृति है और सभी सुन्दर लक्षणों से युक्त है। यह पश्चिम दिशा वाला मुँह है और इच्छाशक्ति इस मुख की अभिव्यक्ति है।

कर्त्री सादाख्य का स्वरूप शुद्ध स्फटिक प्रभा के समान होता है। यह साकार है, सभी अवयवों से युक्त है और इसका स्वरूप ज्ञान है। काम करने के लिए बुद्धि का प्रयोग होगा, और बुद्धि है ज्ञान। कर्त्री सादाख्य को ज्ञान के रूप में, एक व्यवस्था के रूप में देखा गया है।

और फिर कर्म सादाख्य है। जो जीव को संसार के विषयों में लिप्त करता है, संसार के विषयों से जोड़ता है, और बाद में उसको अनुग्रह से संसार की विषय-वासना से मुक्त करता है, कर्म सादाख्य है।

शिव के ये पाँच मुँह हैं। इन्हीं पाँच मुखों के द्वारा परमशिव की शक्ति शिवा अपने को जगत् में प्रकट करती है। वही परमशक्ति, परमशिवा इन सादाख्यों के साथ, शिव के इन पाँच मुखों के साथ कलाओं के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करती है। इसलिए शिव और शिवा, दोनों की कहानी एक साथ आती है।

पंच कृत्य

ब्रह्माजी परमशिव से कहते हैं, 'प्रभु! आपका दर्शन पाकर हम धन्य हो गए। कृपया बताइये कि आप क्या करते हैं? आपकी भूमिका क्या है? हमने आपके इस शब्दमय शरीर को जाना ॐकार के रूप में। आपके साकार विग्रह का दर्शन किया पंचमुखी सदाशिव के रूप में। आपने बताया कि आपके पंच मुखों का क्या प्रयोजन है। अब कृपा कर बताएँ कि आप किस प्रकार के कर्म करते हैं।'

शिवजी कहते हैं, 'देखो! मेरे पाँच कार्य होते हैं, जो पंचकृत्य के नाम से जाने जाते हैं। पंचकृत्य में पहला है सृष्टि, दूसरा है पालन, तीसरा है संहार, चौथा है तिरोभाव और पाँचवाँ है अनुग्रह। ये कार्य नित्य सिद्ध हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होता है। सृष्टि, पालन, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह का कार्य आदि काल से मैंने किया है। समय-समय पर मैं दूसरों को भी कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित करता हूँ, जो मेरे इच्छानुसार कार्य को सम्पन्न करते हैं।'

'संसार की रचना सृष्टि है, उसी को सर्ग भी कहते हैं। सृष्टि का सुस्थिर रूप से रहना स्थिति है और सृष्टि का विनाश होना संहार है। प्राणों के उत्क्रमण को तिरोभाव कहते हैं और इनसे मुक्ति को अनुग्रह। सृष्टि होती है भूतल में, स्थिति होती है जल में, संहार होता है अग्नि में, तिरोभाव होता है वायु में और अनुग्रह होता है आकाश में। इन पाँच कृत्यों को वहन करने के लिए मेरे ये पाँच मुख हैं।'

ब्रह्मा ने तपस्या की है, अत: मैं ब्रह्मा को सृष्टि का कार्य सौंपता हूँ। ब्रह्मा, तुम सृष्टि का कार्य करो। अपने एक कृत्य का अधिकार मैं तुमको देता हूँ। मेरा एक काम कम हो गया। विष्णु ने भी तप किया है, मैं उसे स्थिति का काम सौंपता हूँ। विष्णु, अपने दूसरे कृत्य का अधिकार मैं तुमको देता हूँ। तुम स्थिति कार्य को देखो। मेरे ही अंश से दो स्वरूप और प्रकट हुए हैं। इस सदाशिव रूप को, जिसमें मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ, मैं तिरोभाव का कृत्य प्रदान करता हूँ। और कुछ समय पश्चात् रुद्र रूप में मेरा अवतार होगा, उसे मैं संहार का कार्य सौंपता हूँ। मैं अव्यक्त, अनादि और अनन्त परमशिव के रूप में अनुग्रह कृत्य को स्वयं करता रहूँगा।'

परमशिव के रूप में उन्होंने अनुग्रह कृत्य को अपने पास रखा। तिरोभाव कृत्य को सदाशिव को सुपुर्द किया, संहार रूपी कृत्य को रुद्र को अर्पित किया, स्थिति रूपी कृत्य को विष्णु को अर्पित किया और सृष्टि रूपी कृत्य को ब्रह्मा को अर्पित किया। परमशिव ने सदाशिव के रूप में ब्रह्मा और विष्णु से बात करते समय तिरोभाव को धारण किया, और ब्रह्मा से कहते हैं कि कुछ समय पश्चात् जब मैं तुम्हारे ही शरीर से जन्म लूँगा तब मेरा स्वरूप रुद्र का रहेगा और वह संहार का कार्य करेगा।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूपी पंचकृत्य उन्हीं की ही लीला हैं। लीला किसी नाटक को नहीं, बल्कि इन पंच कृत्यों को कहा गया है। पंचकृत्य परमशिव के संकल्प मात्र से ही सिद्ध होते हैं।

शिवजी लीला करते हैं और यह लीला उनके संकल्प का परिणाम है। शिवजी अकेले अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से कभी सृष्टि करते हैं, कभी पालन और कभी संहार। अपने में ही सबको समेटते और अपने से ही पूरे विश्व का विस्तार भी करते हैं। कभी-कभी सृष्टि के जीवों को वे अपने तिरोधान और अनुग्रह से बंधन में भी डालते हैं और मुक्त भी करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् मूल रूप से शिवलीला है। और हम सभी शिवलीला में इन पाँच कृत्यों के अधीन अपना जीवन जीते हैं।

ब्रह्मा और विष्णु को सृष्टि का आदेश

सदाशिव रूप में परमशिव ने विष्णु और ब्रह्मा को श्वास रूप से वेदों का उपदेश दिया। वेदों का उपदेश देकर आज्ञा देते हैं–'ब्रह्मा, तुम मेरी दाहिनी बगल से उत्पन्न हुए हो, तुम्हारी उत्पत्ति का प्रयोजन है सृष्टि, अतएव तुम सृष्टि करो।' विष्णु को कहते हैं कि तुम मेरे बाएँ भाग से उत्पन्न हुए हो और सृष्टि का पालन करो। मेरे अंश से प्रकट होने वाले रुद्र सृष्टि का संहार करेंगे। इस प्रकार त्रिदेवों के रूप में सृष्टि का कार्य तुम लोगों को सम्भालना है। सदाशिव और परमशिव के रूप में हम तिरोभाव और अनुग्रह का कार्य सूक्ष्म रूप से करते रहेंगे। स्थूल रूप से केवल सृष्टि, स्थिति और संहार की प्रक्रिया दिखलाई देगी और सूक्ष्म रूप में तिरोधान और अनुग्रह की प्रक्रिया मेरे द्वारा संचालित की जाएगी।

मेरी अनन्य शक्ति वाग्देवी के रूप में ब्रह्मा की सेवा करेंगी, लक्ष्मी के रूप में विष्णु का आश्रय लेंगी और काली नामक तीसरी शक्ति मेरे अंशभूत रुद्र को प्राप्त होगी। मेरी ही परा शक्ति तीन भागों में बँटकर ब्रह्मा के पास जाएगी वाग्देवी सरस्वती के रूप में, क्योंकि सृष्टि के लिए ज्ञान और बुद्धि, वाणी और चिन्तन, कला और अभिव्यक्ति की आवश्यकता है। मेरी शक्ति लक्ष्मी रूप में, समृद्धि और पूर्णता जिसका स्वरूप है, विष्णु को प्राप्त होगी। स्थिति में समृद्धि और पूर्णता की खोज हर व्यक्ति करता है। काली नाम की शक्ति मेरे अंशभूत रुद्र को प्राप्त होगी। रुद्र का कार्य है संहार करना और यह शक्ति उस कार्य में रुद्र को मदद करेगी और इस प्रकार सृष्टि का कार्य आगे बढ़ेगा।

शिव और विष्णु की समानता

परमशिव कहते हैं–'मेरे हृदय में विष्णु है और मैं विष्णु के हृदय में हूँ–जो इन दोनों में अन्तर नहीं समझता, जो इन दोनों में भेद नहीं देखता, वही प्राणी मुझे प्रिय होगा।' शिवजी ने नहीं कहा कि ब्रह्मा मेरे हृदय में हैं और मैं ब्रह्मा के हृदय में हूँ। उन्होंने विष्णु का ही नाम लिया। ब्रह्मा के हृदय में क्यों नहीं? जबकि ब्रह्मा भी परमशिव के शरीर से उत्पन्न हुए। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं, उनके मन में शिव और विष्णु के बारे में अनेक प्रकार की शंकाएँ उठी थीं। वे स्वयं को परमशिव और विष्णु से भी बड़ा मान रहे थे। वे रजोगुणी स्वभाव के प्रतीक हैं। विष्णु में सत्त्वगुण अधिक है, ब्रह्मा में रजोगुण। ब्रह्मा किसी को मानते नहीं थे, सीधा कहते थे कि सृष्टिकर्त्ता तो मैं हूँ, मैं बड़ा हूँ, सभी को मैंने उत्पन्न

किया है। विष्णु से उनका विरोध हुआ था, शिव से उनकी झड़प हुई थी। शिवजी ने कहा कि जिसका भाव सरल है, जो शुद्ध और पवित्र है, मैं उसके भीतर हूँ। जिसके मन में छल, कपट, धूर्त्तता और अविद्या है–मैं वहाँ कैसे रह सकता हूँ! विष्णु शान्त, सौम्य, गम्भीर, शुद्ध, नित्य, सनातन और सुन्दर है। वह मेरे भीतर है और मैं उसमें हूँ।

परमशिव विष्णु को कहते हैं कि तुम समस्त लोकों में हमेशा माननीय और पूज्य बने रहोगे। ब्रह्मा के द्वारा रचे गए लोकों में जब भी कोई संकट आएगा, तब उसके निवारण के लिए तुमको प्रयत्न करना होगा। सम्पूर्ण दु:खों का नाश करने के लिए तुमको सदा तत्पर रहना होगा और मैं अज्ञात रूप से हमेशा दु:सह कार्यों में तुम्हारी सहायता करता रहूँगा। तुम्हारे दुर्जय और उत्कट शत्रु को मैं मारूँगा, तुम ब्रह्मा द्वारा रची गई सृष्टि में नाना प्रकार के अवतार लेकर अपनी उत्तम कीर्ति का विस्तार करो और सबके उद्धार के लिए हमेशा तत्पर रहो।

परमशिव विष्णु को आगे कहते हैं कि तुम रुद्र के ध्येय हो और रुद्र तुम्हारे ध्येय हैं–

रुद्रध्येयो भवांश्चैव भवद्ध्येयो हरस्तथा ।
युवयोरन्तरं नैव तव रुद्रस्य किंचन ॥

तुममें और रुद्र में कोई अन्तर नहीं है–जो मनुष्य रुद्र या शिव का भक्त होकर, तुम्हारी निन्दा करेगा, उसका सारा पुण्य समाप्त हो जाएगा। तुमसे द्वेष करने के कारण मेरे विधान, नियम, कानून और अनुशासन से, उस प्राणी को नरक में जाना पड़ेगा।

रुद्रभक्तो नरो यस्तु तव निन्दां करिष्यति ।
तस्य पुण्यं च निखिलं द्रुतं भस्म भविष्यति ॥

शिवजी के ऐसा कहने पर विष्णु और ब्रह्मा शिवजी की स्तुति करते हैं–

नमो निष्कलरूपाय नमो निष्कलतेजसे ।
नम: सकलनाथाय नमस्ते सकलात्मने ॥

नम: प्रणववाच्याय नम: प्रणवलिंगिने ।
नम: सृष्ट्यादिकर्त्रे च नम: पञ्चमुखाय ते ॥

पञ्चब्रह्मस्वरूपाय पञ्चकृत्याय ते नमः ।
आत्मने ब्रह्मणे तुभ्यमनन्तगुणशक्तये ॥

सकलाकलरूपाय शम्भवे गुरवे नमः ।

परमशिव आशीर्वाद देकर दोनों के देखते-देखते वहाँ से अंतर्धान हो जाते हैं और तभी से इस लोक में लिंग पूजा का विधान आरम्भ हुआ है।

लिंग पूजा

लिंग पूजा का विधान शिव के साकार विग्रह की उपासना से भी अधिक प्राचीन है। शिवलिंग परमशिव का प्रथम व्यक्त प्रतीक है। जब संसार में कुछ नहीं था, तब निराकार ने स्वयं को लिंग रूप में प्रकट किया। अत: शिवलिंग संसार का प्रथम दैवीय प्रतीक, ईश्वरीय प्रतीक माना गया है।

भूलना नहीं कि शिव और शिवा एक हैं, जैसे लकड़ी में अग्नि छुपी रहती है वैसे ही शिव तत्त्व में शिवा तत्त्व छुपा है। जैसे जल में तरलता है, वैसे ही शिव तत्त्व में शिवा तत्त्व है। ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जैसे शरीर में बल है, लेकिन छुपा है, जब आवश्यकता होती है, तब शरीर में बल प्रकट होता है। अगर एक गिलास उठाना हो, तो गिलास उठाने के लिए जितनी शक्ति चाहिए, प्रकट होगी। अगर एक टेबल को उठाना हो तो टेबल उठाने के लिए शक्ति शरीर में, माँसपेशियों में प्रकट होगी। अगर अलमारी को हिलाना हो तो अलमारी हिलाने के लिए जितनी शक्ति चाहिए, उतनी प्रकट होगी। शक्ति हमेशा शरीर के भीतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। उसी प्रकार से शिव तत्त्व के भीतर वह शिवा तत्त्व सूक्ष्म रूप से हमेशा विद्यमान रहता है।

यह शिवलिंग उसी शिव और शक्ति के स्वरूप का परिचायक है। लिंग जिस पर स्थापित है, उसे अर्घा या पीठ भी कहते हैं। वह अर्घा शक्ति का स्वरूप है।

लिंग नाम क्यों दिया गया है? लिंग साक्षात् परमशिव का प्रतीक है और लय का अधिष्ठान होने के कारण उसको लिंग कहते हैं। जब सारी सृष्टि विलीन हो जाती है, समाप्त हो जाती है, तब लय का अधिष्ठान है लिंग। उसी लिंग में सब समाहित होता है।

लिंग परमशिव का और पीठ या अर्घा परमशक्ति का प्रतीक है। शक्ति के बिना जीवन नहीं, सृष्टि, संहार, स्थिति, तिरोधान और अनुग्रह नहीं।

शक्ति का अस्तित्व और स्थिति सभी युगों में है। अर्घा शक्ति रूपा है, जिसने भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों को अपने आश्रय में लिया है। शिवलिंग चेतन तत्त्व का प्रतीक है, जो हमेशा ऊर्ध्वमुखी होता है। जो हमेशा अपने को जानने, पाने और समझने का प्रयत्न करती है, जो हमेशा संसार में ऊर्ध्वमुखी होने का प्रयास और उत्थान की कामना करती है, वह चेतना शिवलिंग का रूप है और ऊर्जा का रूप है पीठ, जिसका विस्तार तीनों कालों–भूत, वर्तमान और भविष्य में होता है। शिवलिंग में शिव और शक्ति, दोनों स्थित हैं। अर्घा योनि का भी प्रतीक है, उसी योनि में लिंग की स्थापना होती है। पुरुषत्व और स्त्रीत्व के संयोग से जो सृजन का कार्य होता है, उसका प्रतीक भी यह शिवलिंग है।

सृष्टि रचना

'सृष्टि करो' का आदेश देकर परमशिव के अदृश्य होने पर विष्णु और ब्रह्मा अपने-अपने क्षेत्र में वापस चले जाते हैं। ब्रह्मा पुन: कमल पुष्प पर आकर बैठ जाते हैं और सृष्टि के बारे में विचार करते हैं। उन्होंने सृष्टि का चिन्तन किया और चिन्तन करते समय, उनकी इच्छा से एक अण्ड प्रकट होता है। वह अण्ड उन चौबीस तत्त्वों का जड़ रूप था, जो नारायण की तपस्या के समय उत्पन्न हुए थे। उन चौबीस तत्त्वों को लेकर ब्रह्माजी ने जिस अण्ड को प्रकट किया, उसी को कहा गया है हिरण्यगर्भ। गर्भ उसको कहते हैं जहाँ पर जीव पलता है, पनपता है, और हिरण्यगर्भ हुआ स्वर्णमय गर्भ।

सृष्टि में विष्णु

ब्रह्मा ने विष्णु से चौबीस तत्त्वों को लेकर, जो विष्णु के पास जड़ रूप में थे, इस स्वर्णमय अण्ड में समाहित कर दिया। विष्णु भी स्वयं ब्रह्मा द्वारा निर्मित उस अण्ड में प्रवेश कर गये। विष्णु के प्रवेश करने पर चौबीस जड़ तत्त्व धीरे-धीरे चेतन होने लगे। विष्णु ने उस ब्रह्माण्ड में अनेक रूप धारण कर प्रवेश किया। उस परमपुरुष के सहस्त्रों मस्तिष्क, सहस्त्रों नेत्र और सहस्त्रों पैर थे और उन्होंने भूमि को सब ओर से घेरकर उस अण्ड को व्याप्त कर लिया।

'सहस्त्रशीर्षा पुरुष: सहस्त्राक्ष: सहस्त्रपात् स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठ-शाङ्गुलम्'।

इस प्रकार जब महाविष्णु उस ब्रह्माण्ड में अपने आपको व्याप्त कर लेते हैं, तब वह चौबीस तत्त्वों का अण्ड, जो पहले जड़ रूप में था, अब चेतन हो जाता है और उस विराट् अण्ड में व्यापक विष्णु, 'वैराज पुरुष' कहलाते हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गी

इसके बाद ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। लोकों की सृष्टि पहले होती है, उसके पश्चात् पाताल की, फिर नरकों की और संसार की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँच भूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, ये पाँच विषय हैं। ये पंचभूत और इनके विषय ही सृष्टि में प्राणियों की कामना के विषय बनते हैं और इनकी आशा को मन में लेकर जो कर्म में संलग्न रहते या इस संसार में व्यापार करते हैं, वे मनुष्य प्रवृत्तिगामी, प्रवृत्तिमार्गी कहलाते हैं। देवता, मनुष्य और दैत्य भी इन विषयों को लेकर संसार में रम जाएँ तो प्रवृत्तिमार्गी कहलाएँगे। और जो पंचभूतों तथा उनके विषयों से मुक्त हो जाता है, जो निष्काम-भाव से शास्त्रविहित कर्म करता है, वह निवृत्तिमार्गी कहलाता है। अत: सकाम-भाव से कर्म करने वाला प्रवृत्तिमार्गी और निष्काम-भाव से कर्म करने वाला निवृत्तिमार्गी कहलाता है।

लोकों का निर्माण

ब्रह्मा ने सृष्टि में पाताल से सत्यलोक तक चौदह लोकों का निर्माण किया। ये ब्रह्मा के लोक कहलाते हैं। सत्य लोक से ऊपर क्षमा लोक तक चौदह अन्य भुवन हैं, लोक हैं, जो विष्णु के साम्राज्य में आते हैं। क्षमा लोक के ऊपर शुचि लोक तक अट्ठाइस लोक हैं, जिसके सम्राट् रुद्र हैं। इस प्रकार ब्रह्मा और विष्णु चौदह-चौदह लोकों के तथा रुद्र अट्ठाइस लोकों के स्वामी हैं। शुचि लोक के ऊपर अहिंसा लोक तक छप्पन भुवन हैं और अहिंसा लोक का आश्रय लेकर ज्ञान कैलाश नाम का नगर शोभा पाता है, जहाँ पर सदाशिव वास करते हैं। यह ज्ञान कैलाश, जहाँ सदाशिव का वास है, छप्पन भुवनों के अन्त में है। अहिंसा लोक के बाद काल चक्र स्थित है, जहाँ विराट् स्वरूप का वर्णन होता है। वहीं तक लोकों का तिरोधान अथवा लय होता है, उसके आगे नहीं।

लोकों का लय और तिरोधान अथवा संहार कहाँ तक होता है? ब्रह्मा के चौदह भुवनों, विष्णु के चौदह भुवनों, रुद्र के अट्ठाईस भुवनों और सदाशिव

के छप्पन भुवनों का तिरोधान होता है। उसके ऊपर में है महाकाल की स्थिति। महाकाल के परे सनातन और शाश्वत जीवन होता है।

लय कहाँ होता है? जहाँ पर कर्मों का भोग हो। जहाँ पर कर्म भोग है, वहीं पर लय भी होगा। कर्म भोग में ही मनुष्य सुख-दु:ख, परेशानी और संकट को झेलता है और अच्छाई की कामना करता है। अत: लय कर्म भोग का होता है, और ज्ञान कैलाश तक ही लय होता है।

अहिंसा लोक के आगे कालचक्र है और उसके आगे है ज्ञान का भोग। वहाँ मनुष्य परम सत्य से अपने को एकाकार कर लेता है, जिसको प्राप्त कर फिर बार-बार जन्म-मरण चक्र में आने की आवश्यकता नहीं होती है। नीचे भुवनों में है कर्म-माया और काल-चक्र के ऊपर है ज्ञान-माया। मनुष्य जीवन का विकास कर्म-माया से ज्ञान-माया की ओर है। माया दोनों में है। विद्या भी माया से प्रेरित होती है, अविद्या भी माया का ही परिणाम है। ज्ञान भी माया से प्रेरित होता है। अज्ञान भी माया का परिणाम है। बुद्धि भी माया से प्रेरित होती है, और अविवेकपूर्ण कार्य भी माया का परिणाम है। माया से मुक्त तो कोई नहीं है। सभी भुवनों में वही माया छाई हुई है। उन लोकों तक जहाँ तक संहार होता है, वही माया कर्म-माया के रूप में जानी जाती है। और जब मनुष्य का साक्षात्कार अपने आराध्य, इष्ट या ईश्वर के साथ होता है, तब वही माया ज्ञान-माया के नाम से जानी जाती है।



लिंगाष्टकम्



ब्रह्म मुरारि सुरार्चित लिंगं निर्मल भासित शोभित लिंगम् ।
जन्मज दुःख विनाशन लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 1 ॥

देव मुनि प्रवरार्चित लिंगं काम-दहन करुणाकर लिंगम् ।
रावण दर्प विनाशन लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 2 ॥

सर्व सुगन्धि सुलेपित लिंगं बुद्धि-विवर्द्धन कारण लिंगम् ।
सिद्धसुरासुर वन्दित लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 3 ॥

कनक महामणि भूषित लिंगं फणिपति-वेष्टित शोभित लिंगम् ।
दक्ष सुयज्ञ विनाशन लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 4 ॥

कुंकुम चन्दन लेपित लिंगं पंकज हार सुशोभित लिंगम् ।
संचित पाप विनाशन लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 5 ॥

देवगणार्चित सेवित लिंगं भावैर्भक्तिभिरेव च लिंगम् ।
दिनकर कोटि प्रभाकर लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 6 ॥

अष्टदलो परिवेष्टित लिंगं सर्व समुद्भव कारण लिंगम् ।
अष्ट दरिद्र विनाशन लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 7 ॥

सुरगुरु सुरवर पूजित लिंगं सुरतरु पुष्प सदार्चित लिंगम् ।
परात्परं परमात्मक लिंगं तत्प्रणमामि सदाशिव लिंगम् ॥ 8 ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ हरिः ॐ ॥



द्वितीय दिवस

15-02-2009

रुद्र गण

सर्वप्रथम ब्रह्मा ने लोकों, भुवनों का निर्माण किया। लोकों में अब प्राणियों की आवश्यकता है। अब जीवों की सृष्टि आवश्यक है। इसलिए ब्रह्माजी ने पुन: साधना की, तपस्या की और मानस पुत्रों को जन्म दिया। ब्रह्माजी के सभी मानस पुत्र योगी, वीतराग और ईर्ष्या-द्वेष से परे थे। ब्रह्माजी इनसे कहते हैं कि तुम लोग सृष्टि कार्य में मेरी सहायता करो। ये मानस पुत्र उत्तर देते हैं–पिताजी, आप हमको कहाँ फँसा रहे हैं? हमको सृष्टि-कार्य में कोई रुचि नहीं है। हम लोग ईश्वर-चिन्तन में रमना चाहते हैं, योग करना चाहते हैं, ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते हैं। इस प्रकार सृष्टि से विरत होकर ये सभी संत-महात्मा, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, तपस्या के लिए चले जाते हैं।

अब सृष्टि होगी कैसे? ब्रह्मा स्वयं परमशिव के दाहिने अंग से लीलावश प्रकट हुए थे। विष्णु भी परमशिव के बायें अंग से उत्पन्न हुए थे। ये दोनों संकल्प जनित देवता थे, जो परमशिव के संकल्प से पैदा हुए थे। परमशिव और पराशक्ति शिवा, ये दोनों अनन्य रूप से परमशिव तत्त्व में विद्यमान हैं, लेकिन ब्रह्माजी एकाकी पुरुष हैं, उनमें कोई शक्ति नहीं है। विष्णुजी भी पुरुष हैं, उनमें अभी शक्ति नहीं है। परमशिव ने संकेत दिया था कि सृष्टि के कार्य में शिवा की वाक् शक्ति सरस्वती के रूप में ब्रह्माजी की सहायता करेगी। स्थिति कार्य में शिवा शक्ति लक्ष्मी रूप में विष्णु का सहयोग देंगी। और रुद्र रूप में शिवा शक्ति काली सती रूप में मुझे प्राप्त होगी, सती रूप में लीला करेगी, फिर चली आयेगी। यह सब परमशिव ने पहले ही ब्रह्मा और विष्णु को बता दिया था। ब्रह्मा ने संकल्प से जन्म लिया था, और उनको जन्म देने

का वही तरीका मालूम था, उन्होंने उसी तरीके का प्रयोग भी किया, संकल्प से पुत्रों को जन्म दिया। याद रखना कि संसार की माया संकल्पित प्राणी को संसार में बाँध नहीं सकती। संकल्प मन की एक तीव्र, केन्द्रित शक्ति है। संकल्पित शक्ति, शक्ति का समग्र, घना रूप होती है।

जब ब्रह्माजी के सभी मानस पुत्रों ने मना कर दिया कि हमलोग सृष्टि नहीं करेंगे, हम तपस्या, साधना, आराधना में ही अपना समय बिताना चाहते हैं, और ऐसा कह कर वे तपस्या के लिए चले गए, तब ब्रह्माजी को बहुत कष्ट हुआ। स्वाभाविक है, जब आपका बेटा या बेटी आपकी बात न मानकर घर छोड़ कर चले जाते हैं, तब दुःख होता है। ब्रह्माजी को क्षोभ हुआ, दुःख हुआ। शैवागमों में कहा गया है कि उस दुःख से ब्रह्माजी को हृदयाघात हो गया। अपने पुत्रों को जाते देख वे मूर्च्छित हो गिर पड़े और प्राण उनके शरीर से निकल गये।

जब ब्रह्माजी मूर्च्छित होकर धरती पर गिरते हैं और उनके शरीर से प्राण निकलते हैं, तब उस समय उनके ललाट से परमशिव 'रुद्र' रूप में प्रकट होते हैं। चूँकि वह रुद्र रूप परमशिव का पूर्ण रूप माना गया है, इसलिए उनका नाम 'शिव' भी है। त्रिदेवों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आते हैं। रुद्र परमशिव के सभी गुणों से युक्त थे, उनको संहार का कृत्य दिया गया था। रुद्र ने प्रकट होकर ब्रह्मा के शरीर से अपने ही समान ग्यारह अन्य स्वरूपों की रचना की। वे सभी 'एकादश रुद्र' कहलाते हैं। इन ग्यारह रुद्रों को शिव रूपी रुद्र कहते हैं– 'देखो, ब्रह्माजी के प्राण उड़ गये हैं और लोकों पर अनुग्रह करने के लिए मैंने तुम लोगों को उत्पन्न किया है। तुम लोकों की स्थापना करो, प्रजा-संतान की वृद्धि के लिए प्रयत्न करो।' जब शिव ने अपने स्वरूपभूत रुद्रों को यह बात कही तब सभी रुद्र अकबका कर, इधर-उधर हाहाकार करते दौड़ने लगते हैं। उनको भी पता नहीं था कि सृष्टि कैसे होती है, वे स्वयं अजर और अमर थे। जो व्यक्ति अजर और अमर है, जिसका कभी नाश नहीं होता, एक 'मर्त्य सृष्टि' कैसे उत्पन्न करेगा? वह ज्ञान तो उसको है नहीं।

व्याख्याकार कहते हैं कि चूँकि वे हाहाकार करते हुए, रोते हुए चारों तरफ दौड़ रहे थे, इसलिए उनका नाम रुद्र पड़ा। बहुत कहते हैं कि रुद्र शब्द 'रुद्' धातु से बना है, जिसका मतलब होता है रोना, रुदन करना। शैवागमों में रुद्र शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है, 'रुत द्रावण'। द्रावण का मतलब होता है, हरने वाला। दुःखों को हरने वाला रुद्र कहलाता है। रुद्र समूह ने

शिवजी से कहा–'भगवन्! हमसे यह कार्य होने वाला नहीं है, हमको इसका प्रशिक्षण भी नहीं है। हमको केवल संहार करने का प्रशिक्षण है। हम लोग सैनिक हैं, हमको प्रबंधन नहीं, संहार आता है।'

शिवजी ने कहा–'तुम लोग सभी इस ब्रह्मा के शरीर में प्रवेश कर जाओ, तुम्हारा रूप आज से प्राणियों के भीतर प्राणों का होगा।' तदनुसार वे एकादश रुद्र ब्रह्मा के शरीर में प्रवेश कर ब्रह्मा को पुनर्जीवित करते हैं। वे एकादश रुद्र हमारे इस भौतिक शरीर में 'प्राण' रूप में आज भी विद्यमान हैं। प्राण ग्यारह होते हैं। पंच प्राण होते हैं–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पंच उप प्राण होते हैं–कूर्म, कृकर, नाग, देवदत्त और धनंजय। और एक मालिक होता है महाप्राण, जो गर्भ धारण करने के समय शरीर में प्रवेश करता है तथा इसके प्रस्थान से शरीर शान्त हो जाता है। महाप्राण, पंच प्राण और पंच उपप्राण, यह रुद्र का स्वरूप हुआ। ये रुद्र शरीर के भीतर सदा चंचल रूप में भागते रहते हैं, कभी स्थिर नहीं रहते। प्राणों में चंचलता होती है।

जब ये रुद्र ब्रह्माजी के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, तब ब्रह्माजी पुनः जीवित हो उठते हैं और अपने सामने एक व्यक्ति को खड़ा देख कर पूछते हैं–'महात्मन्, आप कौन हैं?' शिव बतलाते हैं, 'ब्रह्मा, मैं तुम्हारे ललाट से उत्पन्न रुद्र हूँ और परमशिव ने मुझे संहार कृत्य का आदेश दिया है। मैं परमात्मा हूँ और तुम्हारा पुत्र होकर प्रकट हुआ हूँ। मेरे स्वरूपभूत ग्यारह रुद्र, तुम्हारी रक्षा के लिए, संसार की रक्षा के लिए मेरे साथ प्रकट हुए हैं। तुम अपने विषाद का त्याग कर पुनः सृष्टि के कार्य में संलग्न हो जाओ।' ब्रह्माजी ने बहुत प्रयास किया कि पुनः सृष्टि की जाये, किन्तु ब्रह्माजी की सृष्टि का विस्तार हो नहीं पा रहा था, क्योंकि सभी मानस पुत्र ही थे।

अर्ध-नारी-नर रूप

एक दिन ब्रह्माजी कमल दल पर बैठ कर चिन्तन कर रहे थे कि सृष्टि हो नहीं पा रही है, क्या कारण है। उस समय उनको एक आकाशवाणी सुनाई दी–'ब्रह्मा, तुम मैथुनी सृष्टि करो, तभी संसार में प्राणियों की वृद्धि होगी, अन्यथा नहीं। जो प्राणी मैथुनी सृष्टि के द्वारा जन्म लेगा, वह अजर और अमर नहीं होगा। कुछ काल तक जीवित रहकर, फिर मृत्यु को प्राप्त करेगा। इस प्रकार संसार में संतुलन बना रहेगा, एक व्यवस्था बनी रहेगी। यह नहीं कि दुष्ट अजर-अमर होकर पूरे संसार को पीड़ा दे रहा है। और ऐसा भी

नहीं कि साधु अजर-अमर होकर पूरे संसार को साधु-मार्ग की ओर चलने के लिए प्रेरित कर रहा है। दोनों में संतुलन होना चाहिए। अगर जीवन में पचास प्रतिशत दु:ख है, तो पचास प्रतिशत सुख भी होना चाहिए। पचास प्रतिशत प्रकाश है, तो पचास प्रतिशत अंधकार भी होना चाहिए। सभी में संतुलन का होना जरूरी है, इसलिए तुम मैथुनी सृष्टि करो।'

ब्रह्माजी सोचने लगे कि मैथुनी सृष्टि कैसे सम्भव है। आज तक संसार में नारी कुल का विस्तार हुआ ही नहीं है। अभी तक तो भुवन, देवता, संत और ऋषि-मुनि बने हैं, सभी दिव्य या मानस पुत्र हैं। नारी कुल का विस्तार कैसे हो? अब तो परमशिव और शिवा की शरण में जाना होगा और उन्हीं से प्रार्थना करनी होगी कि वे मेरी सहायता करें।

ब्रह्माजी ने तपस्या आरम्भ की। तपस्या से प्रसन्न होकर परमशिव अर्धनारीश्वर रूप में ब्रह्माजी के सामने प्रकट होते हैं। अर्धनारीश्वर रूप का अर्थ शिव और शिवा, दोनों एक साथ। आधे भाग में शिवा है और आधे भाग में शिव। आधे भाग में शक्ति रूप, आधे भाग में शिव रूप; आधे भाग में स्त्री रूप, आधे भाग में पुरुष रूप। परमशिव ब्रह्माजी से कहते हैं कि तुमने जिस मनोरथ को लेकर यह तपस्या की है, वह मुझे मालूम है। ऐसा कह कर उन्होंने अपने शरीर से शिवा को पृथक् किया, अलग किया और दो रूपों में प्रकट हो गये। सम्पूर्ण पुरुष और सम्पूर्ण नारी। शिव से अलग उस परम शक्ति को देखकर ब्रह्माजी प्रार्थना करते हैं कि मुझे नारी कुल की सृष्टि करने की शक्ति प्रदान करो शिवा कहती हैं–'तथास्तु। यह परमशिव की इच्छा है कि संसार में प्राणियों की वृद्धि हो। संसार में जो भी रहेगा, वह प्रकृति के वश में रहेगा।'

शिव से अलग होकर जब शिवा प्रकट होती हैं, तब उनका स्वरूप अष्ट भुजा शिवा का होता है। सिर एक, लेकिन भुजाएँ आठ हैं। वह अष्टभुजा देवी अष्ट प्रकृति का रूप लेकर प्रकट होती हैं। गीता में भी इसका वर्णन है कि प्रकृति आठ रूपों में, आठ प्रकार की होती हैं। अष्टभुजाधारी शक्ति ब्रह्माजी को आशीर्वाद देती हैं कि मैं तुम्हें सहयोग दूँगी और मेरी कृपा से तुम नारी कुल की सृष्टि करो। ब्रह्माजी कहते हैं–'माते! मेरा एक निवेदन है। आपकी आज्ञा के अनुसार मैं कार्य करूँगा, लेकिन चूँकि आप अभी मेरे सामने हैं, इसलिए एक निवेदन और कर देता हूँ। जब इस मैथुनी सृष्टि के प्रचार-प्रसार में मेरा पुत्र जन्म लेगा, आप मेरे पुत्र की कन्या के रूप में जन्म लीजिएगा। उससे मेरा कुल पवित्र हो जायेगा। अगर आप, जगत् जननी माँ,

शिव की अनन्य शक्ति शिवा, मेरे पुत्र के यहाँ पुत्री रूप में अवतार लेंगी तो मेरा कुल पवित्र हो जायेगा।'

शिवा मुस्कुराती हैं, कहती हैं–ठीक है, लेकिन वह तो बाद की बात है। अभी तुमको मैं वह क्षमता प्रदान करती हूँ कि मैथुनी सृष्टि हो। यह वरदान प्रदान कर शिव और शिवा, दोनों अन्तर्धान हो जाते हैं, शिवा पुनः शिव के शरीर में मिल जाती हैं।

मैथुनी सृष्टि

शिवा के आशीर्वाद से अब ब्रह्माजी के वाम भाग से स्त्री निकलती है और उसके पश्चात् दायें भाग से पुरुष प्रकट होता है। स्त्री शतरूपा के नाम से जानी जाती है और पुरुष स्वायम्भुव मनु के नाम से। आदिशक्ति के आशीर्वाद के कारण ब्रह्माजी के शरीर से स्वायम्भुव मनु और शतरूपा प्रकट होते हैं। स्वायम्भुव मनु उच्चकोटि के साधक और शतरूपा एक तपस्विनी, एक योगिनी। ब्रह्माजी इनको आदेश देते हैं कि तुम लोग मैथुन जनित मर्त्य सृष्टि के लिए प्रयत्न करो।

उनके आदेश के अनुसार स्वायम्भुव मनु और शतरूपा, दोनों संसार वृद्धि के कार्य में संलग्न हो जाते हैं। इनके प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र होते हैं, और आकूति, देवहूति एवं प्रसूति नाम की तीन कन्यायें होती हैं। आकूति का विवाह प्रजापति रुचि के साथ, देवहूति का विवाह प्रजापति कर्दम के साथ और प्रसूति का विवाह प्रजापति दक्ष के साथ होता है। फिर इनके द्वारा कुल की वृद्धि होती है। दक्ष की दस कन्यायें होती हैं, जिनका विवाह उसने धर्म के साथ किया। पुनः दक्ष की सत्ताईस कन्यायें होती हैं, जिनका विवाह उसने चन्द्रदेव के साथ किया। पुनः दक्ष की तेरह कन्यायें उत्पन्न होती हैं, जिनका विवाह महर्षि कश्यप के साथ किया। चार कन्यायें अरिष्टनेमि को दीं, दो-दो कन्यायें भृगु, अंगिरा और कृशश्व को दीं। और इन्हीं महर्षि कश्यप की कन्याओं से आज सम्पूर्ण संसार बसा है। महर्षि कश्यप ने तेरह दक्ष कन्याओं से विवाह किया था। उन्हीं से अनेकानेक देवता, दानव, दैत्य तथा अन्य जातियाँ जन्म लेती हैं और उन्हीं की संतानों से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है। अदिति से देवता, दिति से दैत्य और दनु से दानव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हर स्त्री से एक-एक जाति का जन्म होता है। जाति विस्तार में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की वृद्धि भी होती है, झंझट शुरू होते हैं।

आप लोगों को मुझसे ज्यादा अनुभव है, आप लोग तो परिवार चलाते हैं। जब तक दो थे, कोई चिन्ता नहीं थी। तीसरा आता है तो देखभाल शुरू होती है, चौथा आता है तो फिर दो के बीच खींचा-तानी शुरू हो जाती है। पाँचवाँ आता है तब तीन के बीच लड़ाई, झगड़ा, झंझट शुरू होता है। होता है या नहीं? बच्चे जहाँ हैं, उद्दण्ड होंगे और उत्पात करेंगे। दैत्य, दानव, देवता तथा अन्य जातियाँ भी तरह-तरह के कृत्य करती हैं, जिससे किसी को सुख मिलता है तो किसी को दु:ख। उनमें कुछ जातियाँ थीं दु:ख पहुँचाने वालीं, वे सभी को परेशान करते थे, कभी किसी को मार देना, कभी किसी का कुछ चुरा लेना, कभी झापड़ लगा देना, कभी किसी की हत्या कर देना, कभी किसी के घर में डाका डाल देना, कभी किसी का घर जला देना।

सतयुग में विष्णु को सुदर्शन चक्र

संसार के प्राणी त्राहि-त्राहि करते भगवान विष्णु के पास जाते हैं। पालन करने का काम तो आपका है और आप ठीक से प्रबंध नहीं कर रहे हैं। देखिए, आततायी कितना तंग करते हैं। विष्णुजी कहते हैं– 'मैं करूँ क्या? मेरे पास कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जिससे मैं उनको मार सकूँ। परमशिव ने मुझको जन्म दिया, मुझे कहा कि तुम मुझसे उत्पन्न हुए हो और तुम्हारा काम है जगत् का पालन करना, लेकिन उन्होंने न डंडा दिया है, न हंटर, न रस्सी, न हथकड़ी।' ब्रह्माजी कहते हैं, 'जिसने आपको पालन करने का यह अधिकार दिया, उसी से पूछिए।'

विष्णुजी ब्रह्माजी के सुझाव पर परमशिव की आराधना वैकुण्ठ में करने लगे। एक हजार नामों से प्रतिदिन एक हजार कमल के पुष्प शिवजी को प्रसन्न करने के लिए, शिवलिंग पर अर्पित करते थे। नारायण वैकुण्ठ में शिवजी को प्रसन्न करने के लिए शिव आराधना करते हैं और एक-एक शिव सहस्रनाम के द्वारा एक-एक कमल पुष्प शिवलिंग पर अर्पित करते हैं। एक दिन परमशिव विष्णुजी की परीक्षा लेने के लिए हजार कमल के फूलों में से एक फूल को गायब कर देते हैं। इस शिवलीला का अंदाज विष्णु को पड़ा नहीं, उनको मालूम नहीं पड़ा कि एक कमल कम हो गया, वे अपना सहस्रार्चन करते गये। अंत में एक पुष्प कम हो गया तो विष्णुजी को बड़ा क्षोभ हुआ कि मैं तो कमल गिन कर लाया था, मेरी गिनती में कोई चूक नहीं हो सकती, कैसे यह फूल कम हो गया? क्या करें? दूसरा फूल लेने के लिए जा भी नहीं सकते थे, अपनी पूजा पूरी करनी थी।

तब उनको स्मरण आया कि लोग मुझे कमलनयन के नाम से सम्बोधित करते हैं। क्यों? विष्णुजी की आँखें कमल की पंखुड़ी के समान हैं। वाह! मेरे पास दो नयन हैं, एक चाहिए। एक को निकाल कर अर्पित कर देता हूँ, तो मेरी आराधना पूरी हो जाएगी। ऐसा विचार कर उन्होंने जब अपनी आँख पर छूरी लगायी, तब परमशिव सदाशिव रूप में उनके सामने प्रकट हो कहते हैं, 'महाविष्णु, मैंने ही तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए एक फूल को अदृश्य कर दिया था। क्या चाहिए?'

विष्णु कहते हैं– 'जब से संसार में प्रजा की वृद्धि हो रही है, अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के प्राणी जन्म ले रहे हैं। बुरे लोग अच्छे लोगों को तंग करते हैं, पीड़ा देते हैं, दुःख देते हैं। अच्छे लोग मेरे पास सहायता के लिए आये हैं, लेकिन मैं क्या करूँ? मेरे पास आयुध, अस्त्र-शस्त्र हैं ही नहीं।' सदाशिव कहते हैं– 'कोई बात नहीं, मैं तुम्हें अपना आयुध देता हूँ।' और सुदर्शन चक्र को हाथ में लेकर कहते हैं– 'विष्णु! सुदर्शन चक्र तुम लो, आज से यह तुम्हारी संपत्ति होगी, तुम्हारा प्रतीक होगा और तुम्हारे अधीन रहेगा। इस सुदर्शन चक्र की सहायता से तुम संसार में व्यवस्था को, नियम को लागू रखना।' इस प्रकार सदाशिव ने अपना वह दिव्य सुदर्शन चक्र श्रीविष्णु को प्रदान किया। उस सुदर्शन चक्र की सहायता से फिर श्रीविष्णु ने आतंकवादियों का, आततायियों का संहार किया।

कैलाश गमन

भगवान विष्णु को सुदर्शन चक्र देकर परमशिव अंतर्धान हो जाते हैं और दूसरे साधक के सामने प्रकट होते हैं। वह साधक कुबेर था, जो शिव-अनुग्रह प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रहा था। कुबेर पहले बहुत गरीब था, लेकिन अनन्य शिव भक्त था। उस शिव भक्त की शिव आराधना से प्रसन्न होकर सदाशिव के रूप में, परमशिव कुबेर के सामने प्रकट होते हैं और उससे तपस्या का प्रयोजन पूछते हैं। कुबेर कहता है– 'भगवान, दर्शन मेरा प्रयोजन था। दर्शन से जब जीवन की समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, तब फिर कौन-सी कामना लेकर मैं आपकी आराधना करूँ?' शिव इस भक्ति से प्रसन्न होकर उसे देवताओं का निधिपति बनाते हैं और निवास के लिए कैलाश के समीप अलकानगरी प्रदान करते हैं। फिर परमशिव अदृश्य हो जाते हैं। उनके मन में एक विचार आता है कि रुद्र रूप में मैं कुबेर से मैत्री

कर, अपने गुह्यकों, अनुयायियों के साथ कैलाश पर्वत पर निवास करूँगा। रुद्ररूपी परमशिव कैलाश पर्वत में अपने गुह्यकों के साथ, अपने अनुचरों के साथ निवास करने लगते हैं। योग परायण और ध्यान तत्पर होकर उनका जीवन बीतता है।

सतयुग में शिव के अवधूतेश्वरावतार

एक बार देवराज इन्द्र अपने गुरु बृहस्पति से कहता है कि कैलाश पर रुद्र रूप में शिव निवास करते हैं, एक बार हम लोग उनका दर्शन करें। वे बृहस्पतिजी को साथ लेकर दर्शन के लिए प्रस्थान करते हैं। रुद्र त्रिकालज्ञ हैं। वे इन्द्र और बृहस्पति की परीक्षा लेने अवधूत वेश में, निर्वस्त्र होकर, कैलाश की ओर जाने वाली पगडंडी पर खड़े हो गए और पागल जैसा व्यवहार करने लगे। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं, खुले केश, उन्मत्त, पागल की भाँति, कभी इधर, कभी उधर, कभी हँसना, कभी रोना, कभी चिल्लाना – इस प्रकार का अभिनय रुद्र कैलाश मार्ग पर करने लगे।

कुछ ही समय पश्चात् वहाँ इन्द्र और उनके गुरु बृहस्पति पहुँचते हैं। इन्द्र को देवताओं के राजा होने का बहुत गर्व था, और उस अवधूत को, जो मार्ग पर नाच-कूद रहा था, हँस रहा था, रो रहा था, देख कर पूछते हैं, 'तुम कौन हो पागल? नग्न अवस्था में क्यों खड़े हो, उन्मत्त की भाँति व्यवहार कर रहे हो, तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है?' इन्द्र के बार-बार पूछने पर भी रुद्र ने उत्तर नहीं दिया, तब इन्द्र ने नाराज होकर उस उन्मत्त अवधूत पर वज्र प्रहार करना चाहा। जैसे ही इन्द्र ने अपने हाथ में वज्र लिया कि उस अवधूत की एक दृष्टि से उसका हाथ स्तंभित हो गया और वे हिल नहीं पाए।

इधर रुद्र अवधूत अवस्था में अपना अभिनय करते जा रहे हैं। बृहस्पति जी ने देखा कि इन्द्र का हाथ स्तंभित हो गया है, ऊपर हवा में रुक गया है, तब उनको आभास हुआ कि जो उन्मत्त होकर, नग्न अवस्था में यहाँ पर नाच-गा रहा है, वही रुद्र हैं। उन्होंने महादेव की स्तुति की –

जय शंकर शान्त शशांकरुचे रुचिरार्थद सर्वद सर्वशुचे ।
शुचिदत्तगृहीतमहोपहृते हृतभक्तजनोद्धततापतते ॥

ततसर्वहृदम्बर वरद नते नतवृजिनमहावनदाहकृते ।
कृतविविध-चरित्रतनो सुतनो तनुविशिख-विशोषणधैर्यनिधे ॥

निधनादि-विवर्जित कृतनतिकृत् कृतिविहित-मनोरथपन्नगभृत् ।
नगभर्तृसुतार्पितवामवपुः स्ववपुः परिपूरितसर्वजगत् ॥

त्रिजगन्मयरूप विरूप सुदृग् दृगुदञ्चन कुञ्चनकृतहुतभुक् ।
भव भूतपते प्रमथैकपते पतितेष्वपि दत्तकरप्रसृते ॥

प्रसृताखिल-भूतलसंवरण प्रणवध्वनिसौधसुधांशुधर ।
धरराजकुमारिकया परया परितः परितुष्ट नतोऽस्मि शिव ॥

शिव देव गिरीश महेश विभो विभवप्रद गिरिश शिवेश मृड ।
मृडयोडुपतिध्र जगत् त्रितयं कृतयन्त्रणभक्ति-विघातकृताम् ॥

न कृतान्तत एष विभेमि हर प्रहराशु महाघममोघमते ।
न मतान्तरमन्यदवैमि शिवं शिवपादनतेः प्रणतोऽस्मि ततः ॥

विततेऽत्र जगत्यखिलेऽघहरं हरतोषणमेव परं गुणवत् ।
गुणहीनमहीन-महावलयं प्रलयान्तकमीश नतोऽस्मि ततः ॥

जब बृहस्पति रुद्र की स्तुति कर रहे थे, उस समय रुद्र का शरीर क्रोध में काँप रहा था, उनकी क्रोध की अग्नि में इन्द्र जल रहा था। इसी स्तुति के द्वारा बृहस्पति ने शिवजी के क्रोध को शान्त किया और इन्द्र से कहा कि तुम पहचानो कि ये ही आदिदेव परमशिव रुद्र हैं। इन्द्र शिवजी के चरणों में नतमस्तक हुआ। बृहस्पति ने रुद्र को कहा कि आपका तेज, जो इन्द्र को जला रहा था, उसे आप रोक लीजिए, अपने भीतर धारण कर लीजिए और अपने भक्त को शरणागति दीजिए। रुद्र कहते हैं, 'इस तेज को मैं पुनः अपने भीतर धारण नहीं कर सकता, इसको शान्त करना है। तुम एक काम करो, मेरे तेज को तुम समुद्र में डाल दो।' बृहस्पति रुद्र के तेज को लेकर समुद्र में डाल देते हैं और उस तेज से एक प्राणी का जन्म होता है, जो सिंधुपुत्र जलंधर के नाम से विख्यात हुआ। सिंधुपुत्र जलंधर का वध भी रुद्र के द्वारा होता है। इन्द्र शिवजी की आराधना-अर्चना करके पुनः स्वर्गलोक को लौट जाता है।

सतयुग में शिव के एकादश रुद्रावतार

स्वर्गलोक में राज्य करते-करते इन्द्र का समय बीतता है और बार-बार वह स्वर्गलोक को आतंकियों और दानवों से बचाने के लिए प्रयत्न करता है।

एक बार इतने सारे आततायी उसके दरवाजे पर पहुँच गये कि वह स्वर्ग छोड़कर भाग गया और सीधे अपने पिता महर्षि कश्यपजी के पास पहुँचा। उसने कहा, 'सब सौतेले भाई, जो दानव हैं, दैत्य हैं, अन्य जाति के प्रचारक हैं, हम देवताओं को बहुत परेशान करते हैं। हम लोग अच्छा जीवन जीते हैं, अच्छी नौकरी मिल गयी है, मकान अच्छा है, सब कुछ अच्छा है, इसलिए ये आततायी हमारी सम्पन्नता और वैभव से ईर्ष्या करते हैं, हमको परेशान करते हैं। अभी स्वर्ग में मेरे घर पर वे लोग अपना अधिकार जमा बैठ गए हैं, क्या करूँ?'

कश्यपजी कहते हैं, 'चलो, हम दोनों शिवजी की आराधना करते हैं।' जब बेटा परेशान होता है, तब बाप के पास शिकायत करता है न? इन्द्र ने भी पिता के पास जाकर शिकायत की कि मेरे भाई मुझे बहुत तंग करते हैं, आप उनको रोकिए, उन लोगों ने मेरे घर पर अपना अधिकार जमा लिया है, उनको कहिए कि वे मेरे घर को छोड़ दें। कश्यपजी कहते हैं कि इस कार्य में रुद्र से सहायता लेनी है, उन्हीं की आराधना करो। शैवागमों ने कहा है कि वाराणसी की गंगा में स्नान करके, एक शिवलिंग की स्थापना करके इन्द्र और कश्यप ने तपस्या की, और उस तपस्या से प्रसन्न हो रुद्र प्रकट होते हैं। कश्यपजी रुद्र से इन्द्र का परिचय कराते हैं, कहते हैं कि यह मेरा बेटा है इन्द्र, जिस पर आप कुछ दिन पहले नाराज हो गये थे, क्योंकि इसने आपको पहचाना नहीं था। इसको इसके भाइयों ने घर से निकाल दिया है, और इसके साथ सारी देवता जाति भी स्वर्ग से बाहर हो गयी है। अब इसे पुनः स्वर्ग में स्थापित करना है, आप कुछ प्रयत्न कीजिए। शिवजी 'जैसा तुम कहते हो वैसा ही होगा' कह कर अदृश्य हो गए।

कश्यप मुनि के यहाँ सुरभि गाय थी। शिवजी ने ग्यारह रुद्रों का स्मरण किया और कहा कि अब तुम सबके प्रकट होने का समय आया है। इस बार सुरभि गाय के गर्भ से प्रकट होओ। ग्यारह रुद्र, जो ब्रह्मा के शरीर में स्थित थे, वे रुद्र रूपी शिव की बात मानकर सुरभि के गर्भ से पुनः रुद्र रूप में प्रकट होते हैं। एकादश रुद्र जब सुरभि के गर्भ से प्रकट होते हैं तब संपूर्ण जगत् शिवमय हो जाता है। ग्यारह रुद्र थे–कपाली, पिंगल, भीम, विरूपाक्ष, विलोहित, शास्ता, अजपाद, अहिर्बुध्न्य, शम्भु, चण्ड तथा भव। ये ग्यारह रुद्र, सुरभि पुत्र कहलाए। इनको भगवान ने आदेश दिया कि देवताओं को स्वर्ग वापस दिलाओ। ये ग्यारह रुद्र देवताओं की सहायता करते हैं, देवताओं के कार्य की

सिद्धि के लिए ही इनका जन्म हुआ था, और पुन: स्वर्ग देवताओं के अधिकार में देकर, स्वर्ग के रक्षक के रूप में, स्वर्ग में ही एकादश रुद्र वास करते हैं। एकादश रुद्र का चरित्र दो बार आता है, पहले आया था ब्रह्माजी के शरीर से उत्पन्न, और पुन: उनके शरीर में प्राण रूप में समावेश और अब कथा है सुरभि के पेट से उत्पन्न देवताओं के रक्षक और स्वर्ग के उद्धारक के रूप में।

समुद्र मंथन और कालकूट विषपान

स्वर्ग प्राप्त कर देवता सोचते हैं कि हम लोगों को कुछ ऐसा प्रयास करना चाहिए कि दैत्यों के साथ, दानवों के साथ बार-बार इस प्रकार का झंझट नहीं हो। क्या करना चाहिए? क्यों न अमृत को प्राप्त किया जाय, जिसको पाकर हम देवता अमर हो सकते हैं। अमर होने के बाद हम पर कोई आक्रमण नहीं करेगा। कोई हमको अपने मकान से, लोक से हटाएगा नहीं, पद से च्युत नहीं करेगा। ऐसा विचार कर वे दैत्यों से कहते हैं–'चलो, हम लोग समुद्र मंथन करेंगे। ब्रह्माजी ने कहा है कि समुद्र में अनेक प्रकार के रत्न हैं, अमृत है। समुद्र मंथन से वह हमें प्राप्त होगा और उसमें आधा भाग तुम्हारा, आधा भाग हमारा।' ऐसा देवताओं ने दैत्यों से, दानवों से, राक्षसों से कहा, संधि की, मंजूरी ली, सहमति ली और समुद्र मंथन के कार्य में संलग्न हो गये। समुद्र मंथन देवताओं और दानवों द्वारा होने लगता है।

मंदराचल और वासुकीनाग, दोनों के सहयोग से समुद्र का मंथन प्रारम्भ होता है। लेकिन मंदराचल तो जल पर ही अवस्थित था, डूबने लगता है। यहाँ विष्णुजी हस्तक्षेप करते हैं। एक कच्छप का रूप लेकर, समुद्र के गर्भ में प्रवेश कर मंदराचल पहाड़ को अपनी पीठ पर धारण कर लेते हैं और उसको ऊपर ले आते हैं। वह विष्णुजी का कच्छप अवतार है। समुद्र मंथन का कार्य जारी रहता है। समुद्र मंथन के दौरान शिवजी का वचन देवताओं को सिद्ध होता है। शिवा लक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है और विष्णु उसे प्राप्त करते हैं, वही शिवा वाग्देवी के रूप में प्रकट होती है और ब्रह्माजी उसे प्राप्त करते हैं। रत्न और अनेक पदार्थ समुद्र से निकलते हैं, जिसमें से कुछ देवताओं के पास जाते हैं तो कुछ दानवों के पास। घोड़े निकलते हैं, हाथी निकलते हैं, रत्न निकलते हैं।

एक बार विष भी निकल आता है, हलाहल विष अपने मूल रूप में। हलाहल विष का प्रभाव ऐसा कि उसका रंग हरा और काला है। उससे हरा

और काला धुआँ निकल रहा है, जो पूरे आसमान में छा रहा है। सब उस विष को श्वास के द्वारा शरीर के भीतर ले रहे हैं, और छटपटाहट शुरू हो गयी है। हलाहल विष को कोई पहचान नहीं पाता, सूँघ नहीं पाता, देख नहीं पाता, लेकिन उसका असर हो रहा था। सभी लोगों ने भगवान से प्रार्थना की कि आप ही हमको बचा सकते हैं। हमारे गुरुजी, श्री स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि संसार में हर व्यक्ति अच्छा पचाना चाहता है, लेकिन संसार में कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो बुराई को भी पचा लेते हैं। समाज की वृद्धि हेतु, समाज में संतुलन और व्यवस्था हेतु बुराई को पचाने वाले का होना भी आवश्यक है। शिवजी प्रकट होकर उस हलाहल विष को पी लेते हैं, और अपने गले में रोक लेते हैं। तब से शिवजी का नाम पड़ा है नीलकण्ठ। क्यों? इसलिए कि उन्होंने जहर पीया, और जहर को अपने कण्ठ में रोक लिया, नीलकण्ठ कहलाये।

उसके बाद शिवजी अपना काम करके फिर वहाँ से कैलाश चले जाते हैं। कैलाश पहुँचने पर उनका शरीर विष से जलने लगता है, जलने लगता है। उन्होंने विष को गले में रोक लिया था, गला जल रहा है, नीला पड़ रहा है, आवाज नहीं निकल रही है। पूरा गला काला हो रहा है, जहरीला हो रहा है। इस बीच समुद्र मंथन का कार्यक्रम जारी है, चन्द्रमा निकलता है। जब चन्द्रमा निकलता है तब चारों तरफ शीतलता फैल जाती है। विष्णुजी चन्द्रमा को कहते हैं कि भगवान शिव ने जहर को अपने गले में रोका है, जिसके कारण उनका पूरा शरीर जल रहा है, शिवजी की सेवा में तुम जाओ। वे जहाँ भी तुमको धारण करें, वहाँ बैठ जाना और शीतलता प्रदान करना। विष्णुजी की आज्ञा से चन्द्रमा कैलाश पहुँचते हैं। जब चन्द्रमा कैलाश आता है, तब शिवजी तुरंत उसको अपने मस्तक पर धारण कर लेते हैं, चन्द्रमा की शीतलता उस हलाहल की तीव्रता को शान्त कर देती है और शिवजी पुन: ध्यानस्थ हो जाते हैं।

सतयुग में केदारेश्वर

ध्यानस्थ होने पर उनको लगता है कि कोई मेरा स्मरण कर रहा है। देखते हैं कि हिमालय की कन्दराओं में, बद्रिकाश्रम क्षेत्र में, दो ऋषि तपस्या कर रहे हैं, जिनका नाम नर और नारायण है। नर और नारायण के सामने शिवजी प्रकट हो जाते हैं। उनका दर्शन कर नर और नारायण

ने कहा– 'प्रभु! हमारी पूजा ग्रहण करने के लिए आप अपने स्वरूप से यहीं पर स्थित हो जाइए।' शिवजी ने 'तथास्तु' कहा और केदार तीर्थ में ज्योतिर्लिंग के रूप में अवस्थित हो गये। वह इस धरती पर शिव का पहला ज्योतिर्लिंग बना।

वन्दे देवमुमापतिं सुरगुरुं वन्दे जगत्कारणं
वन्दे पन्नगभूषणं मृगधरं वन्दे पशूनां पतिम् ।
वन्दे सूर्यशशांक-वह्निनयनं वन्दे मुकुन्दप्रियं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे सर्वजगद्विहारमतुलं वन्देऽन्धकध्वंसिनं
वन्दे देवशिखामणिं शशिनिभं वन्दे हरेर्वल्लभम् ।
वन्दे नागभुजंग-भूषणधरं वन्दे शिवं चिन्मयं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे दिव्यमचिन्त्यमद्वयमहं वन्देऽर्कदर्पापहं
वन्दे निर्मलमादि-मूलमनिशं वन्दे मखध्वंसिनम् ।
वन्दे सत्यमनन्तमाद्यमभयं वन्देऽतिशान्ताकृतिं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे भूरथमम्बुजाक्ष-विशिखं वन्दे श्रुतित्रोटकं
वन्दे शैलशरासनं फणिगुणं वन्देऽधितूणीरकम् ।
वन्दे पद्मजसारथिं पुरहरं वन्दे महाभैरवं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे पञ्चमुखाम्बुजं त्रिनयनं वन्दे ललाटेक्षणं
वन्दे व्योमगतं जटासुमुकुटं चन्द्रार्धगंगाधरम् ।
वन्दे भस्मकृतत्रिपुण्ड्रजटिलं वन्देष्टमूर्त्यात्मकं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे कालहरं हरं विषधरं वन्दे मृडं धूर्जटिं
वन्दे सर्वगतं दयामृतनिधिं वन्दे नृसिंहापहम् ।
वन्दे विप्रसुरार्चितांघ्रिकमलं वन्दे भगाक्षापहं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे मंगलराजताद्रिनिलयं वन्दे सुराधीश्वरं
वन्दे शंकरमप्रमेयमतुलं वन्दे यमद्वेषिणम् ।
वन्दे कुण्डलिराज-कुण्डलधरं वन्दे सहस्राननं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे हंसमतीन्द्रियं स्मरहरं वन्दे विरूपेक्षणं
वन्दे भूतगणेशमव्ययमहं वन्देऽर्थराज्यप्रदम् ।
वन्दे सुन्दरसौरभेयगमनं वन्दे त्रिशूलायुधं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे सूक्ष्ममनन्तमाद्यमभयं वन्देऽन्धकारापहं
वन्दे फूलननन्दि-भृंगिविनतं वन्दे सुपर्णावृतम् ।
वन्दे शैलसुतार्ध-भागवपुषं वन्देऽभयं त्र्यम्बकं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

वन्दे पावनमम्बरात्मविभवं वन्दे महेन्द्रेश्वरं
वन्दे भक्तजनाश्रयामरतरुं वन्दे नताभीष्टदम् ।
वन्दे जह्नुसुताम्बिकेशमनिशं वन्दे गणाधीश्वरं
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥

सतयुग में सोमनाथ

चन्द्रमा का विवाह दक्ष की सत्ताईस कन्याओं के साथ हुआ। जिस घर में सत्ताईस बीबियाँ हो जायँ और एक ही पति रहे, तो बड़ा झंझट हो जाता है। चन्द्रदेव इन सत्ताईस में रोहिणी को अधिक चाहते थे, और उनकी छब्बीस पत्नियों को बड़ा दुःख होता था कि चन्द्रदेव पूरा समय रोहिणी के साथ बिताते हैं, हम लोगों ने इतने सालों से उनके साथ विवाह किया है, लेकिन वे कभी हमारे साथ समय बिताते ही नहीं। एक दिन वे पिताजी को कहती हैं कि चन्द्रदेव हमेशा रोहिणी के साथ ही अपना समय बिताते हैं। हम लोगों की ओर देखते ही नहीं हैं। दक्ष चन्द्रदेव से कहते हैं–'सुनो, तुमने विवाह के समय सभी से समान भाव रखने का संकल्प लिया है। अब उस संकल्प को पूरा करो। तुम अपनी समस्त पत्नियों में रोहिणी को अधिक चाहते हो, वह तो सम-भाव नहीं है। बाकी भी तो तुम्हारी ही पत्नियाँ हैं, जितना ध्यान तुम रोहिणी पर देते हो, उतना औरों पर भी दिया करो।'

चन्द्रदेव ने उस समय तो हाँ कह दिया, लेकिन अपने लोक में पुन: रोहिणी के साथ समय बिताने लगे। इस प्रकार दक्ष के समझाने के पश्चात् भी जब चन्द्रदेव ने दक्ष की बात को नहीं माना, तब दक्ष ने क्रोध में चन्द्रमा को शाप दे दिया कि तुम्हारा क्षय होगा। तुम क्षय रोग से पीड़ित होओगे। उस क्षय रोग से प्रभावित होकर तुम्हारा शरीर दिन-ब-दिन दुर्बल होगा, कमजोर होगा और एक दिन तुम गल जाओगे। दक्ष के शाप से चन्द्रदेव का शरीर रोगग्रस्त हो गया और उनका शरीर धीरे-धीरे गलने लगा।

चन्द्रदेव को बड़ा क्षोभ हुआ, उनको मालूम था कि दक्ष ने न्यायोचित बात कही है। बीमार पड़ने पर उनको लगा कि अब जीवन में क्या आनन्द है, क्या रस है, क्या सुख है। इधर चन्द्रदेव के शरीर के गलने से देवताओं में हाहाकार मच गया। वे सोचते थे कि हम लोग तो देव रूप हैं, हमारा नाश कैसे हो सकता है, हम लोग अमृत भी पी चुके हैं। लेकिन दक्ष का शाप ऐसा प्रबल था कि चन्द्रमा का शरीर गलने लगा। चारों तरफ हाहाकार मच गया कि चन्द्रदेव का शरीर गल रहा है, उनको रोग हो गया है। आज तक स्वर्ग में किसी रोग ने प्रवेश नहीं किया था। वहाँ अब एक रोग एक देवता की जीवन लीला को समाप्त कर रहा है। क्या उपाय करना चाहिए?

ब्रह्माजी चन्द्रदेव को कहते हैं कि तुम प्रभास तीर्थ में जाओ, वहाँ महादेव की आराधना करो, तुमको महादेव ही बचा सकते हैं। उनकी बात मानकर चन्द्रमा प्रभास तीर्थ में आते हैं, और वहाँ शिवलिंग की स्थापना कर महामृत्युंजय आरोग्यवर्द्धक मंत्र की विधिपूर्वक साधना करते हैं। उनकी इस तपस्या से, आराधना से भगवान मृत्युंजय प्रसन्न हो जाते हैं और उनके सामने प्रकट होकर उनके क्षय रोग का उपचार करते हैं। चिकित्सा शास्त्र के भी जनक महादेव हैं। चन्द्रदेव को कहते हैं, 'तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिन तक घटेगा, पन्द्रह दिन तक बढ़ेगा।' चन्द्रदेव कहते हैं, 'आप मेरे इष्ट, मेरे आराध्य बनकर इसी विग्रह में प्रवेश कर जाइए जहाँ पर मैंने आपकी आराधना की है।' शिव ने 'तथास्तु' कह दिया, और उस समय से भगवान सोमेश्वर के नाम से भी जाने जाते हैं।

दक्ष की देवी आराधना

एक बार ब्रह्माजी अपने पुत्र दक्ष से मिलने जाते हैं। दक्ष की सभा में सभी देवी-देवता विद्यमान थे। उन सबको वहाँ उपस्थित देख कर ब्रह्माजी कहते हैं कि परमशिव ने नियम बनाया है कि सृष्टि में स्त्री तत्त्व और पुरुष तत्त्व का योग

होना जरूरी है। शिव ने मुझे वाग्देवी प्रदान की है और विष्णु को लक्ष्मी देवी, लेकिन अभी वे रुद्र रूप में ब्रह्मचारी हैं। सृष्टि में सब दो हो गये हैं, स्त्री और पुरुष का जोड़ा, केवल वही एक अकेले बचे हैं। हम लोगों का प्रयास होना चाहिए कि उनका विवाह हो जाये। विष्णुजी से पूछा जाये कि रुद्र के विवाह के लिए हम लोग क्या कर सकते हैं। वही हमको बतायेंगे कि रुद्र का विवाह किस प्रकार से सम्पन्न हो।

विष्णुजी कहते हैं, 'ब्रह्माजी, प्रभु ने हमसे कहा था कि तुम सृष्टि का कार्य करो और मैं सृष्टि का पालन करूँ। परमशिव ने यह भी कहा था कि मेरा स्वरूप ब्रह्मा के अंग से इस लोक में प्रकट होगा, जो रुद्र के नाम से जाना जायेगा। वह तुम दोनों के सम्पूर्ण मनोरथों को सिद्ध करने वाला होगा। वही जगत् की प्रलय करने वाला होगा, वही समस्त गुणों का द्रष्टा, निर्विशेष और उत्तम योग का पालन करेगा। उसकी अर्धांगिनी स्वयं शिवा बनेगी सती के रूप में। ब्रह्माजी, शिवा ने आपके इस अनुरोध पर कि तुम मेरे पुत्र के यहाँ जन्म लेना, कहा था कि मैं जन्म लूँगी। अब शिवा को स्मरण दिलाने की आवश्यकता हो गयी है कि वे दक्ष के यहाँ पुत्री के रूप में जन्म लें। अत: दक्ष से कहो कि वह देवी को प्रसन्न करने के लिए आराधना करे। इस समय परमशिव रुद्र रूप में योग परायण, ध्यान परायण होकर कैलाश पर्वत पर निवास करते हैं। दक्ष से कहो कि वह जगत् जननी शिवा की आराधना करे और उनको स्मरण कराये कि उन्होंने दक्ष के घर पुत्री के रूप में जन्म लेने का वचन दिया है। अत: दक्ष महाशक्ति से अपने घर अवतरित होने की प्रार्थना करे।'

विष्णुजी के ऐसा कहने पर दक्ष क्षीरसागर के उत्तर तट पर अष्टभुजा देवी के स्वरूप का ध्यान करते हुए, देवी की आराधना करता है। आराधना से प्रसन्न होकर शिवा दक्ष के सामने प्रकट होती हैं और कहती हैं, 'क्या चाहते हो?' दक्ष कहता है, 'मेरी कामना है कि आप मेरी पुत्री बन कर मेरे घर में जन्म लें और रुद्र से आपका विवाह हो। आप रुद्र की शक्ति बनें।' देवी तथास्तु कहती हैं, एक शर्त के साथ–'अगर तुम कभी मेरा अपमान करोगे तो मैं शरीर त्याग दूँगी।' देवी ने यहाँ दक्ष को रहस्यमय वचन कहा है–'प्रजापति, अगर तुम कभी मेरा अपमान करोगे, अगर कभी मेरे प्रति तुम्हारे मन में श्रद्धा, सम्मान या आदर का भाव घटेगा, तो मैं तुमको त्याग दूँगी, तुम्हारे दिये गये शरीर को भी त्याग दूँगी। यही मेरी शर्त है।' दक्ष ने स्वीकार किया। महादेवी

ने कहा, 'समय आने पर तुम्हारे घर जन्म लूँगी।' ऐसा आश्वासन देकर शिवा अदृश्य होती हैं। दक्ष प्रजापति घर वापस आता है।

दक्ष-नारद प्रसंग

अभी तक दक्ष कुल में कन्यायें अधिक थीं, जिनका विवाह उसने अन्य ऋषियों, मनीषियों और देवताओं से किया था। आराधना के बाद वह संतान प्राप्ति का प्रयत्न करता है। तब पहले दक्ष के दस हजार पुत्र जन्म लेते हैं, जो हर्यश्व कहलाये। इन दस हजार पुत्रों को, जो हर्यश्व कहलाए, दक्ष आदेश देता है– 'तुम सब प्रजा वृद्धि के लिए प्रयत्न करो।' और उनको घर के बाहर भेज देता है। जब ये हर्यश्व बाहर निकलते हैं तब ब्रह्माजी के मानस पुत्र नारद सामने दिखलाई देते हैं और पूछते हैं– 'हर्यश्व, आप कहाँ जा रहे हैं?' हर्यश्व कहते हैं, 'अपने पिता की आज्ञा का पालन करने जा रहे हैं।' 'अच्छा! पिताजी ने तुमको क्या आज्ञा दी है?' 'पिताजी ने कहा है कि संसार की वृद्धि, जन वृद्धि, संतान वृद्धि होनी चाहिए, हम उसी हेतु जा रहे हैं।'

नारद कहते हैं, 'तुम लोगों ने संसार को देखा है पहले कभी?' हर्यश्वों ने कहा, 'नहीं, हम अभी घर से निकले हैं।' नारद कहते हैं, 'पहले संसार को जान लो। समस्त ब्रह्माण्ड को एक बार देख लो, जो तुम्हारे अधीन होने वाला है। तुम्हारी प्रजा का विस्तार सब जगह होगा, एक बार देख तो आओ कि तुम कहाँ रह रहे हो।' हर्यश्वों ने सोचा नारदजी ठीक कह रहे हैं। जब तक अपने राज्य को जानेंगे नहीं, करेंगे क्या? वे ब्रह्माण्ड घूमने निकल गये और अभी तक घूम रहे हैं। सृष्टि तो अनन्त है, अभी तक घूम रहे हैं, घर वापस लौटे ही नहीं। सृष्टि अनन्त है, उस अनन्त में जो घूमेगा, वह अनन्त काल तक ही घूमेगा। सृष्टि का न यह छोर पता चल रहा है न वह छोर।

किसी ने प्रश्न किया कि सृष्टि का मध्य बिन्दु कौन है? सृष्टि का मध्य केन्द्र कौन है? जवाब है कि जहाँ पर भी हो, वही सृष्टि का मध्य केन्द्र है। कोई ग्रह, कोई नक्षत्र, कोई गंगा, आकाशगंगा या पातालगंगा, आदि सृष्टि का केन्द्र नहीं है। तुम जहाँ पर भी होगे, वही सृष्टि का मध्य केन्द्र होगा, सृष्टि तुम्हारे चारों तरफ उतनी ही फैली होगी। हर्यश्व उसी अनन्त को जानने के लिए आज तक प्रयास कर रहे हैं।

दक्ष को मालूम पड़ा कि मेरे दस हजार बेटे नारद की बातों में फँस कर अनन्त सृष्टि का भ्रमण करने चल पड़े हैं। सोचा, वे लोग तो गये हाथ से। एक बार जो बच्चा किसी साधु की संगत में आ जाता है, फिर वह घर का नहीं, साधु का हो जाता है। ये सब बाल योग मित्र मण्डल के बच्चे उदाहरण हैं। अगर घर में रहते तो सिनेमा का गाना रोज चलता। यहाँ आते हैं तो स्तोत्र पाठ होता है, भजन-कीर्तन करते हैं। यह तो साधु के संग का असर है न! हम इनको साधु बनाने के फेरे में नहीं हैं। हम चाहते हैं कि ये अपने जीवन में आगे बढ़ते चले जायें। लेकिन बहुत से साधु ऐसे होते हैं जो चेला बनाने के फेरे में रहते हैं। नारदजी उनमें से एक हैं। उन्होंने दस हजार हर्यश्वों को ब्रह्माण्ड में भेज दिया।

दक्ष ने पुन: पंचजनकन्या असिक्नी के गर्भ से एक हजार पुत्र उत्पन्न किये, जो शबलाश्व कहलाये। इनको भी आदेश रहता है कि तुम प्रजा-वृद्धि के कार्य में संलग्न हो जाओ। ये लोग जब घर से बाहर निकलते हैं तब बाहर नारायण-नारायण कहते नारदजी खड़े मिलते हैं। 'तुम लोग कहाँ जा रहे हो?' शबलाश्व कहते हैं, 'हम प्रजा-वृद्धि के लिए जा रहे हैं।' यह सुनकर नारदजी ने सुझाव दिया कि तुम लोग कार्य में संलग्न होने के पहले नारायण सरोवर में स्नान करो, उसके बाद प्रजा-वृद्धि का कार्य करना। जब शबलाश्व, हजार भाई, नारायण सरोवर में डुबकी लगाते हैं, चूँकि नारायण ने वहाँ स्नान किया था, इसलिए वे सभी नारायण की भाँति शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं। अब घर कौन जायेगा? चले भगवान का भजन करने के लिए। ये शबलाश्व भी दक्ष के हाथ से निकल गये।

दक्ष इधर पुत्र-शोक में इतने क्रुद्ध हो जाते हैं कि वे नारद को शाप दे देते हैं, 'नारद, आज से तुम स्थिर नहीं रह पाओगे। कोई तुम्हारा स्थान नहीं कहलायेगा। तुमको हमेशा चलना होगा, चलते-चलते ही तुम्हारा जीवन बीतेगा। तुम शान्तिपूर्वक कहीं नहीं बैठ पाओगे।' तब से नारद एक जिप्सी की भाँति सभी ब्रह्माण्डों का भ्रमण करते रहते हैं। उनकी अपनी कोई राष्ट्रीयता नहीं है। उसके पश्चात् दक्ष-पत्नी वीरणी के गर्भ से सात कन्याओं का जन्म होता है, उनका विवाह कर देने के पश्चात् दक्ष और उसकी पत्नी जगदम्बा की आराधना करते हैं। प्रार्थना करते हैं, 'मातेश्वरी, अब तो तुम पुत्री रूप में इस घर में अवतरित होओ।' इन्हें शिवा का संदेश मिलता है कि मैं वीरणी के गर्भ से जन्म लूँगी।

सती का जन्म

कालान्तर में वीरणी के गर्भ में, देवी का अंश निवास करने लगता है। समय आने पर देवी का प्राकट्य होता है। और उस बच्ची को देखने, अपनी पोती को देखने के लिए ब्रह्माजी अपने पुत्र के घर आनंद-उत्सव में आते हैं। पोते-पोती को देखने से सुख मिलता है। ब्रह्माजी भी पहुँच गये और उस बालिका को देखने पर मालूम पड़ गया कि जगदम्बा ने इस घर में मेरी इच्छा के अनुसार और दक्ष की आराधना के कारण जन्म लिया है। उनका नाम ब्रह्माजी ने सती रखा और आशीर्वाद दिया कि तुम महादेव रुद्र को पति रूप में प्राप्त करोगी। दक्ष और पूरा कुल प्रसन्नता से झूम उठा, उनके लिए अब निश्चित हो गया कि सती का विवाह भगवान रुद्र के साथ होगा। सती बड़ी होती गयी, उसने विवाह की अवस्था को प्राप्त कर लिया। दक्ष के मन में चिन्ता होती है कि किस प्रकार सती का विवाह परमशिव रुद्र के साथ होगा। सती की भी इच्छा है कि मेरे आराध्य से विवाह जितनी शीघ्र हो सके, हो जाये।

शिव की स्वीकृति

ब्रह्माजी के आदेशानुसार शिवजी को प्रसन्न करने सती घर में ही शिव आराधना करती है। इधर ब्रह्माजी शिवजी के पास कैलाश पहुँचते हैं और कहते हैं– 'भगवन्! विश्व हित के लिए आपको एक पत्नी का वरण करना होगा। आपने परमशिव रूप में यह संकेत भी दिया था कि शिवा विष्णु की अर्धांगिनी लक्ष्मी रूप में प्रकट होगी। शिवा ब्रह्मा के लिए सरस्वती रूप में प्रकट होगी। और वही शिवा रुद्र के लिए सती रूप में प्रकट होगी। उस शिवा ने दक्ष के यहाँ जन्म ले लिया है और विवाह के योग्य भी हो गई है, अत: भगवन् आप उसके साथ विवाह कर लीजिए।'

रुद्र मुस्कुरा पड़े, कहा, 'वैसा ही होगा जैसा तुम चाहते हो।' नवमी तिथि के दिन, दक्ष के यहाँ, जहाँ सती तपस्या कर रही थी, रुद्र प्रकट होते हैं और सती से कहते हैं, 'हम और तुम अभिन्न हैं, तुम चलो मेरे साथ।' सती कहती है, 'भगवन्! यह तो निर्विवाद है कि आप और हम अभिन्न हैं, लेकिन अभी एक लीला करनी है। अत: उस लीला के अनुरूप आप मेरे पिता से मेरा हाथ माँगिये, तब मैं विवाह कर पाऊँगी। मेरा पाणिग्रहण वैवाहिक विधि के अनुसार होना चाहिए।' शिवजी ने कहा, 'तथास्तु।' और कैलाश जाकर

ब्रह्मा को बुलाकर कहते हैं, 'तुम जाकर दक्ष को कह दो कि मैं सती के साथ विवाह करने के लिए आऊँगा।'

शिव विवाह

ब्रह्माजी दक्ष के पास गये और कहा कि रुद्र की अनुमति मिल चुकी है, वे सती से विवाह करेंगे, तुम तैयारी शुरू कर दो, मण्डप वगैरह बनाओ, सबको निमंत्रण भेजो। और मुहूर्त्त निश्चित कर दिया कि इस दिन सती की शादी होगी। तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने स्मरण किया तो उनके सभी मानस पुत्र वहाँ पर उपस्थित हो गये। ब्रह्माजी ने कहा, 'तुम लोग सब शिवजी की बारात में साथ आओगे।' देवताओं को स्मरण किया, तो देवता उपस्थित हो गये। उन्हें कहा, 'तुम लोग सब शिवजी के साथ बारात में आओगे।' ऋषि-मुनियों को स्मरण किया, वे उपस्थित हो गये। कहा, 'तुम लोग सब दक्ष के यहाँ विवाह की तैयारी करो, सुन्दर तैयारी होनी चाहिए, निमंत्रण-पत्र अच्छा छपना चाहिए, मेहमानों की सूची में सबका नाम आना चाहिए। सबके लिए रहने की व्यवस्था, खाने की व्यवस्था, उपहार की व्यवस्था, हर प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए।' सभी ऋषि-मुनि व्यवस्था में लग गये।

विष्णुजी भी गरुड़ पर बैठकर लक्ष्मीजी के साथ आ गये। चैत शुक्ल पक्ष त्रयोदशी तिथि में रविवार को पूर्वा-फाल्गुनी नक्षत्र में भगवान शिव कैलाश से अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं और दक्ष के नगर में आते हैं। वे दक्ष को कहते हैं, 'अब वैवाहिक कार्य सम्पन्न कराइए। विधि से आप कन्यादान कीजिए, हम तैयार हैं।' दक्ष भी बहुत ही सुन्दर एवं शुभ तरीके से कन्यादान करता है और सती का विवाह शिव के साथ हो जाता है। सती को लेकर शिवजी वापस अपने धाम कैलाश में आते हैं। बीच रास्ते से ही शिवजी दक्ष को लौटा देते हैं, कहते हैं, 'तुम जाओ, अपना काम करो, प्रजापति होने के नाते तुमको बहुत सारा कार्य है।' शिवा को लेकर रुद्र अपने प्रमथगणों के साथ कैलाश आ जाते हैं और आनन्दपूर्वक सती के साथ विहार करते हैं।

कैलाश में दीर्घकाल तक सती के साथ विहार भी किया। इसी विहार के क्रम में बातचीत होती थी और शिवजी ने सती को सृष्टि के बारे में बतलाया कि किस प्रकार पहले विष्णु की, ब्रह्मा की, तत्पश्चात् भुवनों की रचना होती है; किस प्रकार मानसी सृष्टि होती है; किस प्रकार भूत, प्रेत, पिशाच और पितृ भी अस्तित्व में आते हैं। एक कहानी शिवजी ने सती को सुनायी कि जब

ब्रह्माजी के मानस पुत्रों ने सृष्टि रचना से इंकार कर दिया और ब्रह्माजी को छोड़कर वे ईश्वर आराधना के लिए प्रस्थान कर गये, तब उस समय ब्रह्माजी क्षोभ में, क्रोध में आकर रो पड़ते हैं। और उनके जो आँसू गिरते हैं, उनसे भूत, प्रेत, पिशाच आदि की उत्पत्ति होती है।

मैथुनी सृष्टि के पहले जो सृष्टि हुई थी, वह मानसी थी और पदार्थ रूप में नहीं थी, पदार्थ शरीर को प्राप्त नहीं थी। पदार्थ शरीर प्राप्त होता है स्वायम्भू मनु और शतरूपा के जन्म के साथ। और ये दोनों आदि पुरुष और आदि नारी माने गये हैं। पंच तत्त्वों द्वारा निर्मित पदार्थ शरीर में पहले इनका जन्म होता है। इसके पहले जो भी रचना हुई, वह पदार्थ शरीर की नहीं थी। देवताओं का दिव्य ऊर्जामय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय शरीर था। ब्रह्मा के मानस पुत्रों का संकल्परूपी शरीर था। भूत, प्रेत, पिशाच का वायु जैसा शरीर था। पंचतत्त्व रूपी पदार्थ शरीर आरम्भ होता है स्वायम्भू मनु और शतरूपा के जन्म के साथ। जब पदार्थ रूपी शरीर में जीव प्रवेश करता है, तब प्रकृति के बंधनों में आता है, दु:ख झेलता है, क्योंकि प्रकृति के बंधन में आकर जीव कर्म-पाश में बँध जाता है। माया में भ्रमित हो जाता है–'मैं कौन हूँ', भूल जाता है और क्षणिक प्राप्ति, क्षणिक सुख और विषयों के पीछे भागता है, अपनी कामनाओं को तृप्त करना चाहता है। इसके लिए संघर्ष करता है, तो जीवन में दु:ख और क्लेश उत्पन्न होते हैं।

नवधा भक्ति का स्वरूप

सती प्रश्न करती है, 'क्या संसार में ऐसा कोई कर्म है, अनुष्ठान है, जिसको करने से मनुष्य अपने दु:खों, संघर्षों, अशान्ति और संसार बंधन से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त कर ले?' शिवजी कहते हैं, 'हाँ, कर्म ऐसा होना चाहिए जिससे ज्ञान प्राप्ति हो कि मैं ब्रह्म हूँ। मुझमें ब्रह्मत्व है, ईशत्व है, परम तत्त्व है, यह बोध होना चाहिए।' जो व्यक्ति सृष्टि में आता है, जन्म लेता है, उसका मूल कर्म यही है–अपने भीतर ईश्वरत्व की खोज। और जन्म लेने का प्रयोजन भी यही है। अमरकोष में संसार की व्याख्या की गई है–'*संसरति इति संसार:*'। कहते हैं कि जो चलता रहता है, सरकता रहता है, सर्प की भाँति रेंगता रहता है, वह संसार है। और संसार में विषयों का, इन्द्रियों का व्यापार है। इससे अधिक कुछ नहीं है। इन्द्रियाँ और उनके जो गुण हैं–शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध, जीवन में हम इन्हीं का व्यापार करते हैं। इनके ही बल पर

सुख भोग की कामना करते हैं। अच्छा सुनना चाहते हैं, उससे सुख मिलता है। बुरा सुनने से दु:ख होता है। अच्छा देखना चाहते हैं, उसमें आनन्द आता है। बुरा देखने से मन विचलित हो जाता है। हर व्यक्ति इन्द्रिय और उसके रस के विषयों को प्राप्त करना चाहता है, चाहे जिस रूप में हो–पदार्थ रूप में हो, भाव रूप में हो या विचार रूप में हो। यह सब करते हुए, एक प्रयास करना चाहिए, जिससे तुमको मालूम पड़े कि तुममें ईशत्व है, तुम्हारे भीतर परमात्म तत्त्व है।

सती पूछती हैं कि वह कौन-सा कर्म है, अनुष्ठान है, जिससे मालूम पड़े कि मनुष्य के भीतर वह अनंत ईश्वरीय तत्त्व है। शिवजी कहते हैं कि उस कर्म, अनुष्ठान को 'भक्ति' कहते हैं। यहाँ पर शिव ने सती को नवधा भक्ति के बारे में समझाया है। कहते हैं कि भक्ति ही वह कर्म है, जिसके द्वारा तुम अपने भीतर स्थित ईश्वर को प्राप्त कर सकते हो। किन्तु उस भक्ति का सम्बन्ध ज्ञान से होना चाहिए, भक्ति ज्ञान की पूर्णाहुति है। अगर ज्ञान की पूर्णाहुति भक्ति में न हो, तो वह ज्ञान अधूरा है और वह भक्ति भी अधूरी है। अगर भक्ति और ज्ञान साथ न हों, तो भक्ति का रूप सकाम होता है। अपनी इच्छा पूर्ति के लिए मनुष्य भक्ति करता है। लेकिन जब भक्ति में ज्ञान शामिल हो जाता है और जब ज्ञान की परिणति भक्ति होती है, तब उसमें अंतिम स्थिति होती है सात्मक, मनुष्य अपने सभी कर्मों को करते हुए भी ईश्वर को अर्पित कर देता है और स्वयं फल की कामना नहीं करता। ज्ञान और भक्ति, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे के अभिन्न अंग हैं। ज्ञान होता है कि मैं वह हूँ। '*स: अहम्–सोऽहम्*'। जब इस प्रकार का ज्ञान होता है कि ईश्वर मुझमें है, मैं ईश्वर में हूँ, यह जगत् ईश्वरमय है, ईश्वर जगत् में समाहित है, जब चारों तरफ ईशत्व का बोध, ईशत्व का ही साक्षात्कार होता है, ईशत्व का ही अनुभव करते हैं, तब वह ज्ञान की स्थिति होती है, जो भक्ति में परिणत हो जाती है। भक्ति ज्ञान की सर्वोच्च उपलब्धि है।

शिवजी ने भक्ति के नौ अंगों, नौ स्वरूपों को समझाया है। नवधा भक्ति में प्रथम है श्रवण, दूसरा है कीर्तन, तीसरा है स्मरण, चौथा है सेवन, पाँचवाँ है दास्य, छठा है अर्चन, सातवाँ है वंदन, आठवाँ है साख्य और नौंवा है आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण।

श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं सेवनं तथा ।
दास्यं तथार्चनं देवि वन्दनं मम सर्वदा ॥
सख्यमात्मार्पणं चेति नवांगानि विदुर्बुधा: ।

भक्ति के जो नौ स्वरूप बतलाये गये हैं, उनमें से अगर पहले स्वरूप श्रवण को ही देखा जाय, तो वह मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया है। कोलाहल चारों तरफ हो रहा है, शोरगुल चारों तरफ है, लेकिन आप मेरी बात पर ध्यान दे रहे हैं, उसे सुन रहे हैं, उसको ग्रहण करने का प्रयास कर रहे हैं, वहाँ पर आपकी एकाग्रता है, ध्यान है, तन्मयता है। और अगर मन भटक जाए, शोरगुल में लग जाये, संलग्न हो जाए, तो आपकी एकाग्रता भंग हो जाती है और एकाग्रता भंग होने पर, फिर मैं क्या बोल रहा हूँ उसको आप सुनेंगे नहीं। अत: श्रवण भी ध्यान की पद्धति है–अपने मन को एक विचार, एक बिन्दु या कथा के श्रवण में केन्द्रित करना।

दूसरा है कीर्तन। कीर्तन का क्या अर्थ होता है? ईश्वर के नामों को गाना, ईश्वर के गुणों को गाना। जब मन ईश्वर के नाम, ईश्वर के गुण गाता है, तब उसमें से जो भाव प्रकट होता है वह मनुष्य को अपने आराध्य के साथ जोड़ता है। नहीं तो कीर्तन और गाने में अंतर क्या है? लोग फिल्मी गाना गाते हैं, प्रेम गीत गाते हैं, अच्छे-अच्छे गाने भी रहते हैं। लेकिन इन सब से भावना विकसित, शुद्ध और जाग्रत नहीं होती। मनोरंजन होता है, लेकिन मनोरंजन एक मानसिक अनुभूति है, भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं। और कीर्तन एक भावनात्मक अभिव्यक्ति है, जिससे भावना शुद्ध एवं जाग्रत होती है। फिर वही भावना आपको अपने इष्ट या आराध्य के साथ जोड़ने में सहायक होती है। *जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखहिं तिन तैसी*। जिसकी जैसी भावना होती है, जिसका जैसा भाव होता है, वह ईश्वर को उस अनुरूप देखता, उस अनुरूप अनुभव करता है।

रामचरितमानस में कथा आती है कि जब श्रीराम सीता स्वयंवर में पहुँचे और उन्होंने स्वयंवर सभा में प्रवेश किया, तब वहाँ पर जितने लोग उपस्थित थे, वे राम को अनेक रूपों में देखते हैं–माताएँ उनको पुत्र रूप में देखती हैं, युवतियाँ उनको पति रूप में देखती हैं, राजा उनको सम्राट् रूप में देखते हैं, आततायी और राक्षस उनको काल रूप में देखते हैं, संत-महात्मा और विद्वान् उनको ज्योति रूप में देखते हैं। व्यक्ति एक है राम, लेकिन सभा में जितने लोग बैठे थे, सब राम को अपनी भावना के अनुसार देख रहे थे। इसीलिए भक्ति शास्त्र में कीर्तन को महत्त्व दिया गया है। इसलिए नहीं कि आप भगवान का नाम गा रहे हैं, गुणगान कर रहे हैं, बल्कि इसलिए कि आप उनके द्वारा अपनी भावनाओं को जाग्रत कर, स्वयं को अपने आराध्य के साथ, इष्ट के

साथ जोड़ रहे हैं। कीर्तन जीवन में एक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह जीवन में एक सकारात्मक परिवर्तन लाता है।

तीसरा है स्मरण, चिन्तन। सामान्य रूप से होता यह है कि जब हम लोग किसी चीज को याद करना चाहते हैं, तब हमेशा उसको अपने सामने रखना चाहते हैं। भगवान का ध्यान, मतलब भगवान के बारे में ही सोचते रहो दिनभर, चौबीस घण्टा। नहीं। स्मरण का मतलब क्या होता है? वह चीज जो मन में छा जाए, और हमेशा आपके साथ रहे। एक माँ अपने छोटे-से बच्चे को गोद में रखकर घर के समस्त कार्य करती है। बच्चा जमीन पर खेलता रहता है और माँ अपना काम करती रहती है–सब्जी काटती है, आग जलाती है, खाना बनाती है, रोटी बेलती है, रोटी पकाती है, सब कार्य करती है। शिशु की देखभाल के लिए वह घर के कार्यों को अनदेखा नहीं करती। लेकिन सभी कार्यों को करते हुए भी माँ एक नजर अपने बच्चे पर हमेशा रखती है, उसके मन का एक अंश हमेशा अपनी संतान के साथ जुड़ा रहता है, बच्चे से उसका मन भागता नहीं है, चाहे वह कोई भी कार्य करे, बच्चे से उसका मन हटता नहीं है, और बच्चा जब चाकू या छुरी उठा लेता है तब माँ अपने सभी कामों को रोककर बच्चे के पास जाती है, उसके हाथ में चाकू, छुरी, चम्मच या गंदगी, जो भी होता है, उसे हटाकर बच्चे को फिर से सुरक्षित कर देती है और फिर अपने कार्य में संलग्न हो जाती है।

अपनी संतान के प्रति एक माँ के भीतर जैसी सजगता सतत् बनी रहती है, वैसी ही सजगता अगर एक भक्त के मन में अपने ईश्वर के प्रति सतत् बनी रहे, तो ध्यान, साधना और सत्संग की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्मरण, वह सजगता मनुष्य के भीतर ईश्वर के प्रति अनुराग पैदा करती है। वह सजगता ही मनुष्य को ईश्वर से जोड़ती है, ईश्वर के प्रति सचेत करती है, सजग बनाती है, जाग्रत करती है।

चौथा है पाद सेवन। एक बार हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी दोपहर में विश्राम कर रहे थे कि उनके दो शिष्य, जिनमें एक मैं था, पहुँच गये। हमने सोचा कि आज गुरुजी के पैर दबायेंगे। हम लोग उस समय जोश में थे और बच्चे थे। उसने एक टाँग पकड़ी, मैंने दूसरी। दोनों ने ऐसे पैर दबाने शुरू किये जैसे कोई आटा गूँथता है। अब कोई इस प्रकार दबाने लग जाए, तो जो व्यक्ति लेटा है उसकी क्या हालत होगी! खैर, गुरुजी ने तो कुछ कहा नहीं, चुपचाप सहते रहे, लेकिन जो दूसरा व्यक्ति देख रहा था, बाद में उसने

हम लोगों से कहा कि तुम लोग क्या कर रहे थे। हम लोगों ने कहा कि हम तो पैर दबा रहे थे। उसे कहा, पैर ऐसे दबाते हैं! लग रहा था कि तुम लोग रसोई में आटा गूँथ रहे हो। सचमुच! हम लोगों को तो पैर दबाना आता नहीं था। पूछा, कैसे दबाते हैं? उस व्यक्ति ने समझाया कि ऐसे किया जाता है। उसके बाद हम लोगों को इतना खराब लगा कि एक महीने तक गुरुजी के सामने आए ही नहीं।

भगवान कभी अपने पैर दबाने के लिए, अपने पैरों की सेवा करने के लिए नहीं कहते। यहाँ पर पैरों की सेवा का अर्थ है, उनके चरण चिह्नों पर चलना और अपने अभिमान को नियंत्रण में रखना। जिस व्यक्ति का ध्यान हमेशा प्रभु के चरणों में रहता है और उन्हीं के चरणों में वह अपनी श्रद्धा अर्पित करता है, उसके जीवन में अभिमान का स्थान हो ही नहीं सकता। यही भाव श्रीमद्भगवत गीता में आया है कि तुम जो कुछ करो, मुझे अर्पित करते जाओ। अर्पित करने का अर्थ ही होता है, स्वयं को घमण्डरहित और विनम्र बनाना। जब व्यक्ति विनम्र हो जाता है, उसके भीतर घमण्ड का कोई स्थान नहीं रहता, तब उसकी चेतना का विकास होता है।

जिस मार्ग पर चलने का गुरु जी ने तुमको आदेश दिया है, उस मार्ग पर तुम अभिमान रहित होकर चलो। हृदय में सरल भाव को धारण करके, विश्वास को धारण करके कि अगर इस मार्ग पर मैं चलूँगा तो मेरा हित होगा। श्रद्धा-विश्वास से युक्त होकर अभिमान का त्याग करो और गुरु जी के निर्देश के अनुसार चलते रहो, चलते रहो, चलते रहो। गुरु शिक्षा का आचरण करो। यही 'पाद सेवन' का अर्थ है।

पाँचवाँ है दास्य भाव। भक्ति में अनेक प्रकार के भाव होते हैं, जिनके माध्यम से आप अपने आराध्य के अनुभवों को सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। उनमें से एक दास्य भाव है, कभी-कभी भक्ति में मनुष्य को आभास होने लगता है कि मैं तो नौकर हूँ। मेरे मालिक ने जो निर्देश दिया है, उसका पालन कर रहा हूँ। परिणाम की चिन्ता नहीं रहती, क्या होगा, भला होगा, बुरा होगा, इसकी चिन्ता नहीं रहती। यह दास्य-भाव है।

बिना भाव के भक्ति नहीं हो सकती और जो भाव होता है वह अपने आराध्य के साथ हमारे सम्बन्ध को दर्शाता है। हमारे परम गुरु स्वामी शिवानन्द जी कहते थे कि मैं भगवान का सेवक हूँ, दास हूँ। वह जैसा कराता है, मैं करता हूँ। हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी के शब्दों में, 'मैंने बहुत प्रकार के सम्बन्धों

को आजमाया, सोचा कि ईश्वर मेरे सखा भी हैं, लेकिन उसमें मुझे सुख नहीं मिला। सोचा कि ईश्वर मेरी सन्तान है, लेकिन उसमें भी मुझे आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई। सोचा, मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ, उसमें भी मुझे आनन्द की अनुभूति नहीं हुई। मुझे आनन्द की अनुभूति तब होती है जब मुझे मालूम पड़ जाता है कि मैं ईश्वर का दास हूँ। और वही दास भावना लेकर मैं आज जीता हूँ।

मनुष्य की जो भावना होती है, वही उसके सम्बन्धों को स्थापित करती है। स्वामी सत्यानन्द जी हमेशा लोगों को यह कहते हैं कि तुम निर्णय लो कि तुम्हारा ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए। भक्त और भगवान का सम्बन्ध तो बहुत व्यापक है। जब तक तुम्हारे भीतर एक ऐसा भाव स्थापित नहीं होता, जिसके कारण तुम उनके साथ अपने सम्बन्ध को पहचान पाओ, तब तक तुम सही रूप में कभी भक्त नहीं बन सकते। जिस दिन भावों के कारण सम्बन्ध को पहचान लोगे, सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा, तुम भक्त बन जाओगे।

भक्ति मार्ग में जो सम्बन्ध बताए गए हैं, उनमें पहले दो हैं–शान्त भाव और दास्य भाव। जब तक मनुष्य का चित्त चंचल है, वह ईश्वर या ईश्वर के प्रतीक पर केन्द्रित नहीं हो पायेगा। इसलिए आराधना के पहले अपने आपको शान्त करो। फिर अपने मन में यह विचार लाओ कि मैं तो परमात्मा का मात्र सेवक मात्र हूँ। भक्ति शास्त्र में कहा गया कि ये दो भाव ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं जो भक्ति मार्ग में अपनी यात्रा आरम्भ कर रहे हैं।

हम योग, अनुष्ठान, मन्त्र पाठ आदि करते हैं। शुरुआत कैसे होती है? सबसे पहले शरीर को शान्त करते हैं, इन्द्रियों की हलचल को शान्त करते हैं, मन की चंचलता को स्थिर करते हैं न? कहते हैं कि एक प्रतीक पर मन को एकाग्र करो, उसके बाद ही अभ्यास क्रम आरम्भ होता है। अत: पहले हैं शारीरिक स्थिरता, उसके बाद मानसिक स्थिरता, और उसके बाद अभ्यास क्रम। यह योग की विधि है, इसी प्रकार भक्ति करने जब बैठते हो, तब संसार के विषयों से मन को हटाकर शान्त भाव में स्थित करो। तुम्हारे और तुम्हारे आराध्य के अतिरिक्त संसार में कोई नहीं, और चित्त को विचलित होने का अन्य कारण भी नहीं। फिर मन में इस भाव को ले आओ कि मैं सेवक हूँ। यह प्रथम भाव है, सेवक की भावना। इसी भाव से व्यक्ति अपनी भक्ति मार्ग की यात्रा प्रारम्भ करता है।

भक्ति का छठा अंग है–अर्चन, अपने कर्म ईश्वर को अर्पित करना। कर्म को अर्पित या समर्पित करना कैसे सम्भव है? प्रत्येक प्राणी कर्म के अधीन जीता है, कर्म भोग प्राप्त करता है। कर्म तथा कर्मभोग को अर्पित करना, उनसे अपना कोई नाता न रखना बहुत कठिन है। कर्म अर्पित करने का जब निर्देश दिया जाता है, तब उस समय सामान्य विचारधारा के अनुसार हम लोग यह अर्थ लगाते हैं कि मैं जो कर्म कर रहा हूँ, उसके प्रेरक ईश्वर हैं और ईश्वर ही मुझे माध्यम बनाकर मुझसे सब करवा रहे हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर कहा जाता है–*'नाहं कर्ता, हरिः कर्ता, हरिः कर्ता हि केवलम्'*। पर यह विचारधारा या भाव मानसिक या बौद्धिक स्तर तक ही सीमित रहता है, जिसका आध्यात्मिक जगत् में कोई महत्त्व नहीं होता। इस भाव को रखकर भी हम कर्म से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर पाते, तो यह हमारे खोखलेपन का सूचक है। यदि व्यक्ति कर्म और कर्मभोग के साथ अपने सभी सम्बन्धों को तोड़ दे, तब यह कहना यथार्थ होगा कि मैं कर्ता नहीं हूँ, प्रभु ही कर्ता हैं। हमारे समस्त कर्म, चाहे वे बाह्य हों या आन्तरिक, केवल इन्द्रिय अभिव्यक्ति का माध्यम बनें और कुछ नहीं। कर्मों को अर्पित करने का मतलब एक तरह से यह भी होता है कि अपनी शुद्ध चेतना, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध मन ईश्वर को अर्पित करना। जब कर्म इन्द्रिय अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हो जाते हैं और चेतना की व्यापकता में किसी प्रकार के विकार उत्पन्न नहीं करते, तब उस समय चेतना विकाररहित, परिमार्जित, पवित्र और शुद्ध होती है। वही चेतना फिर ईश्वर को अर्पित की जाती है कि 'यह तुम्हारी है, तुम ले लो।'

कर्म तथा कर्तृत्व भाव के त्याग में स्वार्थ तथा बन्धन नहीं रहते। मैं जो कर रहा हूँ, वह ईश्वर को समर्पित है और बहुजन हिताय है। जब यह भावना जाग्रत एवं प्रबल हो जाती है, तब व्यक्ति कर्म बन्धन में नहीं पड़ता। कर्मों के साथ जीव का सम्बन्ध टूट जाता है और प्रभु स्मरण सतत् होने लगता है। वह सतत् स्मरण ही अन्य कर्मों को परिमार्जित करता है।

सातवाँ है वन्दन। भगवान के सामने अपने अहंकार को झुकाना, अपने सिर को झुकाना। वन्दन का आप शाब्दिक अर्थ मत लगाइए कि भगवान तुम कितने अच्छे हो, तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो। वन्दन का अर्थ होता है, उस व्यक्ति की तरह अपने जीवन को बिताने का प्रयत्न करना। यदि आप कभी किसी ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जो आपको अच्छा लगता है, तो उसके

स्वभाव और विचारधारा को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं। इसे कहते हैं 'वन्दन'। दूसरे व्यक्ति के गुण को अपने में उतारो और उतारते समय कपट के भाव को अपने भीतर मत रखो। यदि कपट हो जाय और हम किसी के गुण को अपनायें तो वह तो आडम्बर है और भक्ति में आडम्बर का कोई स्थान नहीं है।

जिस प्रकार एक बिल्ली चूहों के राज में तुलसी की माला पहन कर बैठ जाय और अपने को भगवत भक्त बतलाने लग जाय, उसी प्रकार यदि आप भी करेंगे, तो वह तो अपने ही साथ कपट, अपने ही साथ छल करना हुआ। लेकिन यदि आप सचमुच किसी आदर्श या गुण को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं, तो वह आपके व्यक्तित्व को अवश्य बदलेगा। यह साधना का परिणाम होता है। इसका स्थूल रूप है–ईश्वर की सर्व-व्यापकता के भाव में अपने को रमा देने के लिए उनका वन्दन करना और छल, कपट, आडम्बर इत्यादि का त्याग करना।

आठवाँ है, साख्य भाव। मैं ईश्वर का सखा हूँ, मित्र हूँ, खेल रहा हूँ अपने प्रभु के साथ। उसका अनुयायी हूँ। साख्य भाव के उदाहरण हैं, सुदामा और कृष्ण, सुग्रीव और राम, जिन्होंने अग्नि के समक्ष मित्रता की। जब दो व्यक्तियों का आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ होता है, तब साख्य भाव आता है। अगर आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं है, तो साख्य भाव, मैत्री भाव नहीं आएगा। इसलिए सम्बन्ध की घनिष्ठता को दर्शाता है साख्य भाव।

साख्य भाव, दास्य भाव और आत्मसमर्पण से श्रद्धा विकसित होती है, अपने आराध्य, अपने इष्ट के साथ जो सम्बन्ध बनता है, उसमें कलुषता नहीं होती। मित्रता का जो सम्बन्ध होता है, बहुत घनिष्ठ होता है। हम तो देखते है कि बच्चे लोग अन्य बच्चों की बात को जल्दी स्वीकार करते हैं, बड़ों की बात को नहीं, क्योंकि मित्र हैं। दोस्ती में चीजें अधिक और जल्दी स्वीकार्य होती हैं, लेकिन जहाँ दोस्ती नहीं, मित्रता नहीं है, वहाँ किसी विचार को स्वीकार करने में बहुत परेशानी होती है, कठिनाई होती है, और मन में आलोचना-प्रतिआलोचना का कार्य आरम्भ हो जाता है।

नवमा है, आत्मार्पण। भारतीय मनीषियों ने जीवन को इस संसार सागर में एक नौका के रूप में देखा है, जिसकी दो पतवारें हैं, मन एवं बुद्धि। जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य जीवन को इन दो पतवारों के माध्यम से खेता है। आध्यात्मिक जगत् में समर्पण के दौरान जीव अपनी पतवारों को ईश्वर को

सौंप देता है, ताकि ईश्वर ही जीवन रूपी नैया को आगे ले जाए। उसके जीवन में यह भावना अवतरित होती है– *'अब तो दी है नैया नदी में बहा, जा लगी जिस किनारे चले जायेंगे'*। अर्पण करने के लिए अपने भीतर सामर्थ्य और शक्ति होनी आवश्यक है। मात्र यह सोचना कि मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ, अर्पण की व्याख्या नहीं है। तुम्हें अपना सर्वस्व देता हूँ, कह देना मात्र भक्ति की व्याख्या नहीं होती। जब तक समान भाव को जाग्रत नहीं किया जाता, उस प्रकार के कर्म नहीं किये जाते, मानसिकता में उस प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, तब तक यह धारणा मात्र बौद्धिक रहती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए भक्ति और कर्म का ठोस आधार होना आवश्यक है। भक्ति और कर्म दो व्रत या दो संकल्प होते हैं, जो इन्हें अपने जीवन में प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है, सिद्ध कहलाता है।

एक बार राधा श्री कृष्ण से प्रश्न करती हैं कि आपको अपनी मुरली बहुत पसन्द है, हमेशा उसको अपने पास रखते हैं, हमेशा उसको अपने होठों से लगा लेते हैं, क्या रहस्य है कि ये मुरली आपको इतनी पसन्द है। कृष्ण जी कहते हैं मुझे मुरली इसलिए पसन्द है कि वह अन्दर में खाली है। और जो खाली है, उसको मैं जिस रंग में चाहूँ, जिस रूप में चाहूँ, भर सकता हूँ। अपने को खाली करना, वासनाओं और स्वार्थ से मुक्त करना, घृणित कर्मों से मुक्त करना, यह मनुष्य का प्रयास होना चाहिए।

अत: भक्ति के जिन नौ प्रकारों का वर्णन यहाँ पर आदि गुरु ने जगत् जननी माँ सती को किया है, उन्हें केवल एक आराधना के रूप में नहीं, बल्कि जीवन में एक सकारात्मक परिवर्तन लाने की एक पद्धति के रूप में समझाया है, जिसमें ध्यान, ज्ञान और भक्ति, तीनों का समावेश होता है।

अभी आप जो श्रवण कर रहे हैं, उसमें ध्यान भी हो रहा है, यह भक्ति का प्रथम चरण है। आपका मन एक विषय को पकड़ कर चल रहा है। आपका मन मेरी वाणी पर केन्द्रित है। यह कोई जरूरी नहीं कि ध्यान करने के लिए आँखों को बन्द करके बैठा जाए, नहीं। ध्यान का मतलब होता है अपने मन को प्रक्रिया से जोड़ देना और प्रयास करना कि मन उस सम्बन्ध को तोड़े नहीं। अपने मन को इष्ट के साथ जोड़ देना ध्यान है। इष्ट कर्म, इष्ट विचार, इष्ट दर्शन में मन को जोड़ देना ध्यान है। अगर एकाग्रता है तो आँखें खुली रहें या बन्द, कोई फर्क नहीं पड़ता। हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते थे कि हिमालय में लोग शान्ति के लिए जाते हैं, लेकिन याद रखना कि हिमालय

में शान्ति नहीं है। लोग कहते हैं कि विश्व में हल्ला बहुत है, कोलाहल है, लेकिन याद रखना विश्व में कहीं हल्ला नहीं होता है, कोलाहल नहीं होता है। जो कुछ होता है, वह तुम्हारे भीतर होता है। तुम ही अपनी मानसिक अवस्था, अपनी कामना के कारण निर्णय लेते हो कि यहाँ पर शान्ति है, यहाँ पर अशान्ति, यहाँ पर वातावरण सौम्य है तो यहाँ पर उद्विग्न है, यहाँ पर कोलाहल है तो यहाँ पर स्तब्धता है। अगर तुम अपने मन को अपने नियंत्रण में रख सकते हो, तो बाजार के बीच में बैठ जाओ, तुम कोलाहल से विचलित नहीं होओगे, तुम्हारा मन एकाग्रचित्त रहेगा। लेकिन अगर तुम अपने मन को नियंत्रित नहीं रख सकते हो, बैठ जाओ हिमालय की किसी कंदरा में, गुफा में, तुम्हारी वासनाएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ वहाँ भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेंगी और तुम्हें अशान्त किये रहेंगी।

साधक का लक्षण होता है–जो हर परिस्थिति में अपने मन को अपने नियंत्रण में, अपने वश में रखे। श्रीकृष्ण जी ने यही उपदेश गीता में दिया है–'*योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये*'–योगी आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करता है, और जो आसक्ति में बँधा है–'*सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते*'–उसको प्रयास करना है कि वह सिद्धि या असिद्धि में भी समभाव धारण करे, यह समत्व ही सर्वोच्च योग है। यह समत्व आता कब है? जब मन केन्द्रित होता है तब। चंचल मन में समत्व कहाँ से आयेगा! भक्ति की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है, ज्ञान की प्रक्रिया है और आराधना की प्रक्रिया है। इन तीनों का समावेश एक विधि में हुआ है।

अभी श्रवण कर रहे हो, मेरी बातों को सुन रहे हो, बगल में कोलाहल हो रहा है, लेकिन तुमने कोलाहल को अनसुना कर मेरी आवाज पर अपने मन को केन्द्रित किया है, और ध्यान से सुन रहे हो, यह तुम्हारी श्रवण साधना है, यह तुम्हारा ध्यान है, यह तुम्हारी एकाग्रता है।

एक माता घर में जब कार्य कर रही होती है, उस समय भी उसका ध्यान अपनी संतान पर केन्द्रित रहता है। सतत् स्मरण, सतत् ख्याल बना रहता है। क्या वही तुम अपने आराध्य के साथ, अपने इष्ट के साथ कर पाओगे? पाँच मिनट उनका नाम लेने में खटिया खड़ी हो जाती है, मन कभी यहाँ भागता है, कभी वहाँ भागता है, कभी दूध का ख्याल आता है, कभी जूते का ख्याल आता है। मन स्थिर रहता नहीं, पाँच मिनट के लिए भी। हम अपने साथ जबरदस्ती

करते हैं। हमारे अभ्यास में सहजता नहीं है, भक्ति में सहजता है, इसलिए उसे प्राथमिकता दी गयी है, और भक्ति में ही ज्ञान छुपा है। जब ज्ञान होगा तभी तो भक्ति होगी। जब ज्ञान होगा, अनुभव होगा, तभी श्रद्धा बढ़ेगी, तभी विश्वास पनपेगा। ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य को बोध होता है कि अरे! मैं अभी तक कर्म माया के बंधन में पड़ा हुआ था। इसलिए भक्ति के द्वारा ही अपने भीतर स्थित उस आत्मतत्त्व को जाना जा सकता है।

पाशुपत सिद्धान्त (दुःख-क्लेश)

भक्ति के बारे में समझाकर शिव सती को पाशुपत दर्शन के बारे में भी समझाते हैं। कहते हैं, हर व्यक्ति के जीवन में दु:ख है। शास्त्रों में तीन प्रकार के दु:ख कहे गये हैं–आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक दु:ख दो प्रकार के होते हैं–शारीरिक और मानसिक। मानसिक दु:ख, जो मन में उत्पन्न होता है, मनोरोग का रूप लेता है। क्रोध मनोरोग है, ईर्ष्या मनोरोग है, घृणा मनोरोग है, द्वेष मनोरोग है। ये सब विकृत मानसिक अवस्थाएँ हैं, जिनसे मनुष्य पीड़ित और दु:खी हो जाता है। ईर्ष्या मन को बीमार करती है, घृणा मन को बीमार करती है, राग मन को कमजोर बना देता है, द्वेष मन की बुराइयों को प्रकट कर देता है। ये सब मनोरोग की श्रेणी में आते हैं। शारीरिक रोग की श्रेणी में मधुमेह, गठिया, दमा, आदि बीमारियाँ आती हैं।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक के अतिरिक्त पाँच अन्य प्रकार के दु:ख भगवान शिव सती को बतलाते हैं–गर्भ दु:ख, जन्म दु:ख, अज्ञान दु:ख, जरा दु:ख और मरण दु:ख। गर्भ दु:ख तब होता है जब जीव गर्भ में प्रवेश करता है और उस संकीर्ण अवस्था में उसकी क्षमताएँ बाधित हो जाती हैं। वह अपनी असीमता को खो बैठता है और सीमित अंश के रूप में अपने आप को देखने लगता है, तब जीव को गर्भ दु:ख होता है।

जन्म दु:ख तब होता है जब जीव संसार में प्रवेश करता है और उसकी इन्द्रियाँ सक्रिय एवं जाग्रत हो जाती हैं। वह श्वास लेने लगता है, बाहर संसार से उसका सम्बन्ध बैठता है। वह जानता है कि जब मेरा सम्बन्ध संसार से बनेगा तब मैं अपने ईश्वरीय तत्त्व को भूल जाऊँगा, दृष्टि विपरीत दिशा को जायेगी।

अज्ञान दु:ख है जब अहंकार के कारण, अपने को भूल कर दूसरे रूप में देखता है, बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित हो जाता है, बाह्य परिस्थिति की मार पड़ने से रोने लगता है।

जरा दु:ख बुढ़ापे से होता है। जैसे-जैसे अंग और इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं, ऊर्जा की कमी होती है, जरा दु:ख आरम्भ होता है। और मरण दु:ख भी होता है, क्योंकि जीव मृत्यु तक संसार में इतना आसक्त हो जाता है कि संसार को ही अपना सब कुछ मानता है। जाते समय भी बच्चों से आसक्त होकर, बच्चों को याद करते हुए प्रस्थान करता है। भूल जाता है कि मैं जा रहा हूँ अपने स्रोत से एकाकार होने के लिए, अपने इष्ट, अपने आराध्य के समीप। भूल जाता है कि यह मृत्यु भी ईश्वर के अनुग्रह के कारण प्राप्त हो रही है। मृत्यु भी ईश्वर के अनुग्रह की एक अभिव्यक्ति है। मृत्यु दण्ड नहीं, अनुग्रह है। और इन पाँच दु:खों से मनुष्य भयभीत हो जाता है।

दु:खान्त–क्लेशों की समाप्ति

माता सती पूछती हैं–भगवन्! करना क्या है? भगवान शिव कहते हैं–'*सर्वदु:खा पोहो दु:खांत*'–अर्थात् समस्त दु:खों का अपोह दु:खांत है। प्रयास करो कि तुम्हारे दु:खों का अंत हो जाए। दु:खों का जब अंत होता है तब जीव परमैश्वर्य की प्राप्ति करता है। दु:खान्त को भी दो प्रकार का माना गया है–अनात्मक और सात्मक। अनात्मक का मतलब होता है क्लेशों की पूर्ण निवृत्ति। सात्मक होता है क्लेशों की पूर्ण निवृत्ति के साथ ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति।

सभी प्रयास करते हैं कि उनके क्लेश सहजता से दूर हो जाएँ और उनकी कामनाओं की पूर्ति, कामनाओं की वृद्धि होती रहे। कोई व्यक्ति अपनी कामनाओं को समाप्त नहीं करना चाहता है। तुम केवल अपने दु:खों को समाप्त करना चाहते हो, ताकि तुम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करते रहो, प्रयास करते रहो। इस भाव को कहते हैं अनात्मक। और जो सात्मक दु:खान्त है, उसमें दु:खों की निवृत्ति होती है, लेकिन साथ में जीवन में श्रद्धा भी बढ़ती है, ईश्वर भक्ति बढ़ती है, अनुराग बढ़ता है, प्रेम बढ़ता है। यह भाव आता है–'*नाहं कर्त्ता हरि: कर्ता हरि: कर्त्ता हि केवलम्*'। इस भाव के आने से मनुष्य कर्म तनाव से स्वयं को मुक्त कर लेता है। कर्म तनाव से मुक्त होने से जीवन में श्रद्धा का, भक्ति का विकास होता है।

भक्ति ही जीवन का प्रमुख अनुष्ठान है। संसार में इन्द्रिय व्यापार एक ऐसा धर्म है, जिसे हर प्राणी को अपने जीवनयापन के लिए, जीवन वृद्धि के लिए करना पड़ता है, इसलिए सांसारिक व्यापार को बुरा कभी नहीं मानना।

यह तो विधाता की ही देन है, यही नियम बनाया है कि तुम आते हो, व्यापार करो। दुकान जाओ तो माल को देखो, दुकान जाकर ध्यान थोड़े ही करोगे। संसार में आये हो, इन्द्रियों का व्यापार करोगे, करते रहो।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

यह सब कुछ तो मेरी ही देन है। भोग को भोगो, लेकिन अपने इन सब सांसारिक धर्मों का पालन करते हुए भी भक्ति रूपी अनुष्ठान को जीवन में स्थान देते हो, तो तुम समस्त क्लेशों से मुक्त होकर, परमैश्वर्य को प्राप्त करोगे।

सांसारिक दुःखों की निवृत्ति तथा ईश्वर के जैसे ऐश्वर्य की प्राप्ति ही मुक्ति है।

तथाहि शास्त्रांतरे दुःख निवृत्तिरेव दुःखांतः इह तु परमैश्वर्य प्राप्तिश्च।



दारिद्र्य-दहन-स्तोत्रम्



विश्वेश्वराय नरकार्णवतारणाय कर्णामृताय शशिशेखरधारणाय ।
कर्पूरकान्तिधवलाय जटाधराय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 1 ॥

गौरिप्रियाय रजनीशकला-धराय कालान्तकाय भुजगाधिपकंकणाय ।
गंगाधराय गजराज-विमर्दनाय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 2 ॥

भक्तिप्रियाय भव-रोग-भयापहाय उग्राय दुर्गभव-सागरतारणाय ।
ज्योतिर्मयाय गुणनामसुनृत्यकाय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 3 ॥

चर्माम्बराय शवभस्मविलेपनाय भालेक्षणाय मणिकुण्डलमण्डिताय ।
मञ्जीरपादयुगलाय जटाधराय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 4 ॥

पञ्चाननाय फणिराजविभूषणाय हेमांशुकाय भुवनत्रयमण्डिताय ।
आनन्दभूमिवरदाय तमोमयाय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 5 ॥

भानुप्रियाय भवसागर-तारणाय कालान्तकाय कमलासनपूजिताय ।
नेत्रत्रयाय शुभलक्षण-लक्षिताय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 6 ॥

रामप्रियाय रघुनाथवर प्रदाय नागप्रियाय नरकार्णवतारणाय ।
पुण्येषु पुण्यभरिताय सुरार्चिताय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 7 ॥

मुक्तेश्वराय फलदाय गणेश्वराय गीतप्रियाय वृषभेश्वरवाहनाय ।
मातंगचर्मवसनाय महेश्वराय दारिद्र्यदु:खदहनाय नम: शिवाय ॥ 8 ॥

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ॥ हरि: ॐ ॥



तृतीय दिवस

16-02-2009

पाशुपत तंत्र

दु:खान्त का उपाय बताकर आदिदेव महादेव जगत् जननी माँ सती को पाशुपत तंत्र की शिक्षा देते हैं, जो तंत्रों का मूल आधार बना और बाद में इसी तंत्र का विकास अनेक रूपों में हुआ–कश्मीर में प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के रूप में, दक्षिण में वीरशैव के रूप में और पश्चिम में लकुलीश तंत्र के रूप में। इस प्रकार हमारे देश में तंत्र की जितनी शाखाएँ हैं, सबका उद्गम पाशुपत तंत्र से ही हुआ है।

तंत्र का क्या अर्थ होता है? लोग कहते हैं, जादू-टोना-टोटका। लेकिन यह तंत्र का वास्तविक अर्थ नहीं है। जब स्वयं आदिदेव महेश्वर जगत् जननी सती को तंत्र की शिक्षा दे रहे हैं, तब क्या वे जादू-टोना, टोटका के बारे में बतलाएँगे? बिल्कुल नहीं। तंत्र शास्त्र की जो शिक्षा उन्होंने सती को दी है, वह केवल अपने स्वरूप के वर्णन के लिए है, यह समझाने के लिए कि किस प्रकार जगत् में परिवर्तन होता है, किस प्रकार विषयग्रस्त प्राणी अपने आपको विषयों के बंधन से मुक्त कर सकता है।

यहाँ पर थोड़ा-सा विषयान्तर कर एक बात समझाना चाहता हूँ। लिंग अर्घा पर रखा होता है। अर्घा या पीठ शक्ति का स्वरूप है और उसके मध्य में लिंग अवस्थित है, जो शिव का स्वरूप है। इस प्रकार शिवलिंग मात्र शिव का प्रतीक नहीं, बल्कि शक्ति और शिव का संयुक्त स्वरूप है।

शिव ज्योति है, प्रकाश है, लेकिन उस प्रकाश पर एक आवरण पड़ा है। यह आवरण अंधकार का है। शिव छुपे हुए हैं, दिखलाई नहीं देते, क्योंकि उन पर अंधकार का आवरण पड़ा है। अंधकार का यह आवरण शक्ति का

आवरण है। शक्ति के इस माया रूपी, मल रूपी आवरण को हटा दो, तुमको शिव के स्वरूप का स्वत: प्रकाश रूप में दर्शन हो जायेगा। शिवलिंग इसी बात का द्योतक है, यही शिक्षा देता है।

शिव का विकास हमेशा उत्तरोत्तर होता है, शिव तत्त्व हमेशा ऊर्ध्वगामी होता है। चेतना का विकास, चेतना का उत्थान भी हमेशा ऊर्ध्वगामी होता है। शिव ब्रह्माण्डीय चेतना के प्रतीक हैं, जिसका निरंतर उत्तरोतर विकास होता रहता है। विकासशील तत्त्व ब्रह्म कहलाता है। शिव भी ब्रह्म हैं। ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'बृहन्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है विकसित होते रहना, विस्तार होते रहना। चेतना का, शिव तत्त्व का हमेशा विकास और विस्तार होता है। लेकिन शिव तत्त्व के विकास और विस्तार को शक्ति को सम्हालना पड़ता है, क्योंकि शक्ति ही शिवेच्छा से माया बन्धन, कर्म माया का रूप लेती है और मनुष्य को भोग में इतना लिप्त कर देती है कि वह अपने अस्तित्व को भूल जाता है।

तंत्र शिव-शक्ति के विकास और उत्थान की विधि है। तंत्र शब्द दो शब्दों, तनोति और त्रायति के योग से बना है। 'तन्' की व्युत्पत्ति 'तनोति' शब्द से और 'त्र' की व्युत्पत्ति त्रायति से होती है। तनोति का अर्थ होता है, जिसका विस्तार हो। शिव तत्त्व तनोति है, उसका विस्तार होता है। त्रायति का अर्थ होता है, बन्धन मुक्त करना, स्वतंत्र करना। किसे मुक्त करना? शक्ति को, जिसने अभी तक अपने आप को इस शरीर, तत्त्व और पदार्थ में सीमित कर रखा है, वह मुक्त हो जाती है। जब शक्ति पदार्थ से मुक्त होती है, तब सहस्रार में स्थित परम शिव के साथ एकाकार हो जाती है।

उदाहरण के लिए, बिजली उत्पादन केन्द्र में उसका उत्पादन हजारों वोल्ट में होता है। लेकिन वही बिजली जब घर में आती है, तब ट्रांसफॉर्मर से अपचयित होकर, 220 वोल्ट के रूप में आती है। अगर बीच में ट्रांसफॉर्मर न रहे और उत्पादन वाली ऊर्जा आपके घर में आ जाये, तो आपके घर में लगे बिजली के तार तुरंत जल जायेंगे, क्योंकि वे 220 वोल्ट को ही सम्हाल सकते हैं, 11000 किलोवाट को नहीं। किन्तु 220 वोल्ट की विद्युत धारा से सब काम हो सकते हैं, बत्ती जल सकती है, फ्रिज़ चल सकता है, पंखा चल सकता है, एयरकण्डीशनर चल सकता है, कोई भी यंत्र चल सकता है।

अत: अव्यक्त और असीम से व्यक्त और सीमित अवस्था में शक्ति का यह रूपांतरण हुआ। अव्यक्त रूप में शक्ति का वोल्टेज होता है 11000

किलोवाट और व्यक्त में 220 वोल्ट, अर्थात् शक्ति अपने आप को सीमित कर लेती है, क्योंकि उसको यह शरीर, यह संसार चलाना है। फिर इस सीमित शक्ति का विस्तार करना पड़ता है। जो सीमा हमने बाँध रखी है, जब उसको तोड़ा जाता है तब शक्ति मुक्त होती है। उसी को कहते हैं त्रायति।

शक्ति के उपयोग द्वारा शिव तत्त्व की प्राप्ति तंत्र है। व्याख्याकार अनेक प्रकार से इसको पारिभाषित करते हैं। कुछ लोग तंत्र को एक व्यवस्था के रूप में भी देखते हैं और कुछ लोग एक पद्धति, विधि या साधना के रूप में। कुछ लोग तंत्र को औजार के रूप में भी मानते हैं। लेकिन अगर मूल में जाएँ कि जब परम शिव ही जगत् जननी को तंत्र की शिक्षा दे रहे हैं, तब निश्चित रूप से वह टोना-टोटका वाला तंत्र नहीं होगा, बल्कि अपने आप को जाग्रत कर, आत्मतत्त्व को प्राप्त करने की शिक्षा को ही तंत्र कहते हैं।

पाशुपत तंत्र को तांत्रिक विचारों और सिद्धान्तों का मुख्य आधार माना गया है। पाशुपत तंत्र का क्या अर्थ होता है? यह नाम क्यों पड़ा? शिव सती को समझाते हुए कहते हैं कि जब जीव मैथुनी सृष्टि के अन्तर्गत संसार में जन्म लेता है, तब वह बन्धन में रहता है। उसे मोह हो जाता है, वह अपने आपको इन्द्रियों, विषयों और कर्मों से बाँध लेता है। वह खुद बँधता है। यह आबद्ध जीव पशु कहलाता है। जो जीव मुक्त है, वह सिद्ध या जीवनमुक्त कहलाता है।

अत: संसार में ही बन्धन और मुक्ति, दोनों का अनुभव होता है। बन्धन कब? जब जीव विषयों, इन्द्रियों और कर्मों द्वारा आबद्ध रहता है और संसार से घुल-मिलकर रहता है, जैसे पानी में चीनी। हम लोग सब पानी में चीनी हैं। संसार में इतने घुले हुए हैं कि अपने आप को अलग नहीं कर पाते। और हमको पशु रूप में जो संचालित कर रहा है, वह हमारा पति हुआ, स्वामी। उदाहरण के लिए, एक कुत्ते को यहाँ लाकर छोड़ दीजिए, खूब दौड़ेगा, चारों तरफ कूदेगा, सब के पास जायेगा। उसके गले में रस्सी बाँध दीजिए, तुरंत वह स्वामी की बात मानने लगता है। स्वामी कहता है इधर चलो, कुत्ता इधर चला जाएगा; बैठो तो बैठ जायेगा; खड़े होओ तो खड़ा हो जाएगा। कोई भी जानवर जब तक बन्धन में नहीं है, स्वतंत्र होकर घूमता रहता है। लेकिन जैसे ही उसके गले में रस्सी पड़ जाए, वह स्वामी की इच्छा के अधीन हो जाता है। और उसकी इच्छा के अधीन काम न करे तो डण्डा भी पड़ता है।

हम जिस पाश में बँधे हुए हैं, उसका दूसरा छोर शक्ति ने पकड़ रखा है। शक्ति ही हम लोगों को संसार में नचा रही है और शिव द्रष्टा मात्र हैं। शक्ति

ही हमको कहती है, 'बेटा, तुम संसार में आये हो, तुमने इस पदार्थरूपी शरीर को धारण किया है, तो इसका सुख भोगो। और जब तुम्हारे मन में प्रेरणा होगी तथा ईश्वर की अनुकम्पा होगी, तब मैं तुमको बन्धनमुक्त कर दूँगी। जब तुम मेरे चंगुल से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जाओगे, उस स्वातंत्र्य अवस्था में तुमको शिव स्वरूप का बोध होगा।'

अत: पशु आबद्ध जीव को माना गया है, जो बंधन में है। और पति या स्वामी ईश्वर को माना गया है। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को हम किस प्रकार प्रबल बना सकते हैं, यह तंत्र दर्शन का विषय है।

पाशुपत तंत्र वास्तव में एक दर्शन या सिद्धान्त नहीं, बल्कि एक साधना विधि है। पाशुपत तंत्र का विकास एक व्यवस्थित पद्धति के रूप में नहीं, बल्कि योगियों के एक सम्प्रदाय के रूप में हुआ। योगी भ्रमण करते हैं– *रमता जोगी बहता पानी*। पानी कभी स्थिर नहीं रहता, हमेशा बहता रहता है, उसी प्रकार योगी भी कभी स्थिर नहीं होता है। आजकल आश्रमों के बन जाने से उन पर थोड़ी जिम्मेदारी आ गयी है, नहीं तो योगी का काम है हमेशा घूमते रहना।

पूर्वकाल में पाशुपत तंत्र शास्त्र योगियों की साधना पद्धति थी, यह कोई व्यवस्थित दर्शन नहीं था। योगी घूमते-घूमते जहाँ भी जाते, अपनी साधना करते रहते थे। कभी किसी राज्य में पहुँच गये, राजा को अच्छा लगा, उसने इस पद्धति को अपना लिया तो सारी प्रजा ने भी इस पद्धति के अनुसार अपना कार्य, साधन, पुरुषार्थ, व्यवहार, आचरण निश्चित कर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे योगियों द्वारा अलग-अलग प्रान्तों में जब तंत्र का विकास और विस्तार होता गया, तब कालान्तर में इस तंत्र के अनेक मत और सम्प्रदाय भी विकसित होने लगे। लेकिन मूल रूप से इसका सिद्धान्त इतना ही है कि जब प्राणी संसार में आता है, तब दु:खों से उसका सम्बन्ध जुड़ता है, और दु:ख मुक्ति ही मनुष्य जीवन का प्रयोजन है। दु:खों को समझना, झेलना और उनसे मुक्त होना।

पाशुपत दर्शन में सबसे पहले यह समझाया गया है कि दु:ख क्या है। व्याख्याकारों के अनुसार तीन प्रकार के दु:ख होते हैं–आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक दु:ख के अन्तर्गत प्राकृतिक विपदायें आती हैं। भूकम्प आ गया, सब नष्ट हो गया; चूहे आ गये, काटने लगे, सबको बीमारी फैलेगी, रोग फैलेगा। इन प्राकृतिक कारणों पर मनुष्य का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता।

आधिदैविक का अर्थ होता है, जो ईश्वर की इच्छा के अनुसार हो रहा है। आधिदैविक दु:ख पर भी मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं होता। कभी अकाल पड़ जाये, पानी नहीं मिले, अन्न नहीं मिले, पीड़ा होगी, कष्ट होगा, दु:ख होगा। अकाल पर तुम्हारा क्या नियंत्रण? पानी नहीं गिरे, उस पर तुम्हारा क्या नियंत्रण? वह परिस्थिति जिस पर मनुष्य का अपना कोई नियंत्रण नहीं रहता, जो विधाता के इच्छानुसार निर्मित होती है और मनुष्य के लिए दु:ख का कारण बनती है, उसको आधिदैविक कहा गया है।

तीसरे प्रकार के दु:ख आध्यात्मिक माने गये हैं, जो शारीरिक भी होते हैं और मानसिक भी। शारीरिक दु:ख रोग होते हैं और मानसिक दु:ख भी रोग होता है। शारीरिक रोग होते हैं, सरदर्द, पेट दर्द, हड्डी दर्द, दमा, मधुमेह, इत्यादि, जिनसे हमारा शरीर पीड़ित हो जाता है। मानसिक दु:ख या मानसिक रोग मन की विकृत अवस्थायें हैं, जैसे, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि। ये सब मन में दु:ख के कारण बनते हैं। ये सब मनोरोग हैं।

शरीर के रोग का उपचार तो तुम डॉक्टर के पास जाकर कर लेते हो, लेकिन अपने मनोरोग का उपचार कहाँ करते हो? घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, मद, लोभ, मात्सर्य का सामना तुम प्रतिदिन करते हो, लेकिन इनका उपचार कहाँ कर पाते हो। इनका सामना अवश्य करते हो, लेकिन इनसे पीड़ित और दु:खी भी होते हो और इनके कारण रोगी भी बनते हो।

इस प्रकार सामान्य रूप से हमारे शास्त्रों में तीन प्रकार के दु:ख बतलाए जाते हैं, लेकिन शैवागमों में पाँच प्रकार के अन्य दु:खों की चर्चा होती है– गर्भ दु:ख, जन्म दु:ख, जरा दु:ख, मृत्यु दु:ख और अज्ञान दु:ख। गर्भ दु:ख–जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश करता है, वहाँ बहुत कम स्थान होने के कारण उसकी सभी क्रियाएँ अवरुद्ध रहती हैं और वह मूढ़वत् पीड़ा का अनुभव करता रहता है।

जन्म दु:ख–जब जीव शरीर में जन्म लेता है तो जन्म लेने की प्रक्रिया में अत्यधिक पीड़ा का अनुभव करता है। और इस धरती पर जब सबसे पहली श्वास लेता है, तो और भी दु:खी होकर जन्म लेते ही रोता है। जन्म लेने की इस दु:खदायी प्रक्रिया में वह पूर्व संस्कारों को भूल जाता है और जन्म दु:ख का अनुभव करता है।

अज्ञान दु:ख–जब जीव अपने अहंकार के कारण इस वास्तविकता को भूल जाता है कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, किसका हूँ, किस बंधन

में बँधा हूँ, क्या कारण है, क्या कारण नहीं है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, क्या ज्ञान है, क्या अज्ञान है' और यह सोचने लगता है कि मैं ही कर्त्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ, तब वह अज्ञान में फँसकर अज्ञान दु:ख को भोगता है।

जरा दु:ख–जब जीव की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, अंग कमजोर पड़ जाते हैं, वह अपने आप को असहाय पाता है, असमर्थ देखता है, तब पूर्व अनुभूत स्वास्थ्य और सुखों को याद करते-करते दु:खी होता रहता है। अंत में उसकी स्मृति भी क्षीण हो जाती है। इस तरह वह जरा दु:ख का भोक्ता बनता है।

मृत्यु दु:ख–मृत्यु के समय जीव की सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। श्वास रुकने लगती है और वह अपनी सभी अर्जित वस्तुओं के बारे में सोचने लगता है, तब उसे अत्यधिक दु:ख का अनुभव होता है कि मैं मर रहा हूँ। पहले तो दु:ख किया था कि मैं जन्म ले रहा हूँ और अब दु:ख करता है कि मैं मर रहा हूँ। पहले जब दु:ख हुआ कि मैंने जन्म लिया, तब खूब रोया और अब दु:ख हो रहा है कि मैं मर रहा हूँ, तो भी रो रहा है।

ये पाँच प्रकार के दु:ख ही जीव को ऐश्वर्यविहीन करते हैं। ऐश्वर्य, जिसकी चर्चा तंत्र आगमों में आती है, उसका अर्थ होता है मन की व्यवस्थित और संतुलित अवस्था। मन की जाग्रत, प्रतिभायुक्त अवस्था। जब मन शान्त और विवेकी रहे, जब मन में मद और अभिमान का अभाव हो जाए, जब जीवन में सात्विकता आ जाए, तब मन स्थिर होता है। और स्थिर होने पर समस्त ऐश्वर्यों को, विभूति को प्राप्त करता है। और इन ऐश्वर्यों, विभूति और श्री को प्राप्त करना इस संसार में जन्म लेने वाले प्राणी का निश्चित धर्म है।

इस प्रकार भगवान शिव पाशुपत दर्शन के बारे में माता को समझाते हुए कहते हैं कि इसके विषय को पाँच भागों में बाँटा गया है–कार्य, कारण, योग, विधि और दु:खान्त। पाशुपत दर्शन का मुख्य विषय है योग। *'आत्मेश्वर संयोगो योग:'*। आत्मा का परमात्मा से संयोग ही योग कहलाता है। योग का प्रयोजन क्या है? तंत्र के अनुसार योग का प्रयोजन होना चाहिए, आत्मा का परमात्मा से योग। पाशुपत दर्शन के अनुसार एकदम उचित लक्ष्य दिया गया है, क्योंकि शिवजी योग की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इसी के द्वारा जीव, जो आबद्ध आत्मा है, परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

पातंजल योग में चित्तवृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। परन्तु पाशुपत दर्शन में चित्तवृत्तियों के सांसारिक विषयों से पूर्णतः निवृत्त होकर पूरी तरह ईश्वर में लगे रहने को योग कहते हैं।

शिव योग

पाशुपत तंत्र में जिस योग की चर्चा की गई है, वह न हठ योग है, न राज योग, उसका नाम हमने दिया है, शिव योग। *'शिवेन सह योगः– शिवयोगः'*। शिवजी जो शिक्षा दे रहे हैं वह शिव योग ही कहलायेगी। अगर पूछा जाए कि मूल योग क्या है, तो न वह हठ योग है, न राज योग, न कर्म योग, न भक्ति योग, मूल योग है शिव योग। इस शिव योग के चार अंग हैं–हठ योग, राज योग, भक्ति योग और कर्म योग। ये चारों योग जीव के लिए हैं। कर्म योग इसलिए कि जीव संसार में आता है तो कर्म माया में अपने आपको बाँधता है और कर्म माया से मुक्त होने के लिए उसको कर्म योग की आवश्यकता पड़ती है। कर्म माया का अर्थ होता है कर्म में आसक्त होना और कर्म योग का अर्थ होता है कर्म से निवृत्त हो जाना। कर्म से निवृत्ति का मतलब फल की आशा का त्याग। परिणाम की जो कामना करते हो, उसका त्याग कर केवल कर्म में अपने मन को लगाओ। क्या होगा, क्या नहीं, मेरी क्या अपेक्षा है, क्या नहीं, इसे भूल जाओ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'–कर्म करना तुम्हारा अधिकार है, फल की आशा मत करो, अर्थात् कर्म से तुम जो अपेक्षा जोड़ देते हो, उसको हटा दो। जब तुम अपेक्षा को कर्म से हटा दोगे, तब तुम्हारे द्वारा जो कर्म होंगे, वे पूर्ण और रचनात्मक होंगे तथा उनकी परिणति अच्छी, शुभ एवं मंगलकारी होगी।

पाशुपत दर्शन में भक्ति योग को एक कार्मिक अनुष्ठान के रूप में महत्त्व दिया गया है। राज योग की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा ही तुम अपने मन को केन्द्रित कर पाओगे और तत्पश्चात् संसार के विषयों से विमुख होकर अपने आप को आत्मा में केन्द्रित कर सकते हो। राजयोग और हठ योग के द्वारा प्राणों को जाग्रत कर सकते हो। इस प्रकार इन चार योगों से मिलकर शिव योग बनता है। पाशुपत मत की यह साधनात्मक प्रक्रिया घोषित की गयी है।

यहाँ पर दो प्रकार के योगों की चर्चा की गयी है। एक प्रकार का योग होता है क्रियात्मक और दूसरे प्रकार का योग होता है क्रियोपरम। क्रियात्मक

योग में हठ योग, राज योग, कर्म योग, भक्ति योग का अभ्यास निश्चित है। जप, ध्यान, मन्त्र, प्रत्याहार, धारणा, भक्ति, इत्यादि जो योग की व्यवस्थित और निश्चित विधियाँ हैं, जब इनका अभ्यास होता है तब उसे क्रियात्मक योग कहते हैं। जब इसको सिद्ध करके हम अपने आपको योग की स्थिति में स्थापित कर लेते हैं तब वह क्रियोपरम योग कहलाता है। उसमें सभी क्रियाओं का अन्त हो जाता है। फिर क्रियाओं को करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उस समय तुम अपने आप को योग में अवस्थित कर लेते हो।

मंत्र

शैवागमों में 'ॐ नमः शिवाय' ही प्रमुख मंत्र है। शैवागमों में कहा गया है कि जो साधक, साधु, संन्यासी या निर्लिप्त है, जिसको संसार अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता, उसको मात्र शिव के निराकार स्वरूप के प्रतीक, 'ॐ' की आराधना करनी चाहिए। जो सांसारिक हैं, संसार के विषयों में रमे हुए हैं, उनको 'नमः शिवाय' मंत्र का जप करना चाहिए। और जो संसार में रहकर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, दोनों की कामना करते हैं, उनको षडक्षरी मंत्र का जाप करना चाहिए।

जो मात्र प्रवृत्ति मार्गी हैं, उनको पंचाक्षर मंत्र। जो मात्र निवृत्ति मार्गी हैं, उनको एकाक्षर प्रणव मंत्र। और जो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति गामी, दोनों हैं, उनको षडक्षर मंत्र का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा निर्देश परम शिव स्वयं माँ सती को देते हैं।

'ॐ नमः शिवाय' मंत्र को ही मूल मंत्र कहा गया है। इसको अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया गया है। इसे ही पंचाक्षरी, षडक्षरी और शैव सूत्र भी कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण शिव का ज्ञान इन्हीं पाँच मंत्रों में निहित है।

मंत्रों को नाम तो अनेक दिये गये हैं, लेकिन मुख्य बात यह है कि मंत्र से ईशत्व और जीवत्व की एकता का बोध होता है। *'मननात् त्रायते इति मंत्रः'*– मंत्र वह शक्ति है, जो मन को उसके बन्धनों से मुक्त करती है। मनन करना मतलब बार-बार एक विचार पर सोचना, चिन्तन करना, जिस शक्ति द्वारा मन उस चिन्तन भँवर से मुक्त हो जाये, एकाग्र और केन्द्रित हो जाये, जो शक्ति हमारे मन को संसार के विषयों से मुक्त कर ईश्वर से जोड़ दे, वह मंत्र कहलाती है। इसीलिए जीव और शिव की एकता के बोधक तथा शुद्ध विद्या का उदय मंत्र के द्वारा होता है। मंत्र अपने आप में बहुत बड़ी साधना

है। इस प्रकार परमेश्वर शिव माता सती को तंत्र, योग तथा विविध शास्त्रों की शिक्षा देते हैं।

शैवागमों में आया है कि योग, तंत्र, भक्ति, ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, अर्थात् जितने ज्ञान और विज्ञान का प्रचलन आज इस संसार में है, उनकी शिक्षा परमपिता शिव ने जगत् जननी माँ सती को प्रदान की। यहाँ तक कि राजतंत्र, प्रजातंत्र, इत्यादि के भी रहस्य खोल दिये। अगर चिन्तन किया जाए तो सती के जन्म का प्रयोजन भी यहाँ दिखलायी देता है। प्रचलित कथा है कि सती जन्म लेती हैं और बाद में अपने पिता के यहाँ आत्मदाह कर लेती हैं। क्या सती के जन्म का यही प्रयोजन था कि शिवजी उनसे रुष्ट हो जाएँ, उनका त्याग कर दें और वे आत्मदाह कर लें? नहीं। आदिशक्ति ने स्वयं कहा था कि मैं जन्म लूँगी और शिव का कार्य करूँगी। वह कौन-सा कार्य था? सृष्टि के बाद विद्या की स्थापना।

विद्या

विद्या का अर्थ होता है वह शिक्षा, वह साधना जिसके द्वारा आप उन्नति के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त कर सकें। विद्या हमेशा मनुष्य को प्रकाश की ओर ले जाती है। और अविद्या उसको कहते हैं जो आपको अंधकार के गर्भ में गिरा दे।

अपने जीवन के क्रम में जब हम जन्म लेते हैं, तब मूढ़ अवस्था में रहते हैं, और विकासक्रम में जब हम शिक्षा प्राप्त करते हैं, तब विद्यार्जन होता है। शास्त्रों में भी कहा गया है– *'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारो द्विज उच्यते।'* संस्कार से ही मनुष्य अपनी मूढ़ता, अपने अज्ञान को दूर कर द्विज बनता है। द्विज मतलब जिसका ज्ञान में पुनर्जन्म हुआ है।

जिस प्रकार पहले तुम्हारी सृष्टि होती है, फिर तुम्हारे जीवन में विद्यार्जन होता है। उसी प्रकार पहले ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है, फिर विद्या को स्थापित किया जाता है। इसी विद्या को स्थापित करने के लिए सती का जन्म हुआ था, क्योंकि सती को ही भगवान शिव ऐसी शिक्षा दे सकते थे जो इस लोक को भी सिद्ध करती है और परलोक को भी। इस लोक को सिद्ध करने का मतलब पुरुषार्थ और कर्म के द्वारा अपने जीवन को उन्नत बनाना। और परलोक को सिद्ध करने का मतलब साधना के द्वारा अपने जीवन से मल के आवरण को दूर कर अपने भीतर प्रकाश का अनुभव करना।

सृष्टि के पश्चात् जब संसार के प्राणियों में वृद्धि होने लगती है, तब इन प्राणियों के जीवन को एक दिशा, एक लक्ष्य देने के लिए परमात्मा शिव अपने विचार स्पष्ट रूप से सती के सामने रखते हैं और सती भी विद्या की स्थापना के लिए शिव द्वारा कहे गये सिद्धान्तों को मुख्य-मुख्य विचार बिन्दुओं के अनुसार बाँटकर, शिव द्वारा प्रदत्त विद्या का शाक्त तंत्र के रूप में, दसमहाविद्या के रूप में विस्तार करती हैं।

सतयुग में शिव और शिवा ने रुद्र और सती के रूप में जो लीला की, उसमें सर्वप्रथम शिव गुरु रूप में सती को विद्या और शास्त्रों का ज्ञान प्रदान करते हैं। फिर सती भी शिव के गुरु के रूप में शिव को तंत्र की चौंसठ विचारधारों को स्पष्ट करती हैं।

सतयुग में देवी के दस स्वरूप

पशु और पति के बारे में शिव और सती के लम्बे संवाद के बाद सती कहती हैं, बाकि बातें बाद में करेंगे। कुछ समय बीतता है, लेकिन सती शिवजी से इस विषय पर बिलकुल बात ही नहीं करतीं। इस पर शिवजी सोचते हैं, सती का मन भर गया, मैं जाता हूँ थोड़ी तपस्या करूँगा। ऐसा विचार करके वे समाधि लगाने के उद्‌देश्य से कैलाश से निकलते हैं, तो देखते हैं कि सामने सती उनका मार्ग रोक कर खड़ी हैं। शिवजी दूसरा रास्ता खोजते हैं, वहाँ भी सती मार्ग रोक कर खड़ी हैं, शिवजी तीसरे रास्ते से निकलने का प्रयास करते हैं, वहाँ भी सती रास्ता रोक कर खड़ी हैं। शिवजी दसों दिशाओं से जाने का प्रयास करते हैं, लेकिन दसों दिशाओं में सती एक नये रूप में शिवजी को खड़ी दिखलायी देती हैं।

शिवजी सोचते हैं, 'आज सती मेरा रास्ता क्यों रोक रही हैं?' सती मुस्कुराते हुए कहती हैं, 'प्रभु! लगता है आप भी माया से मुक्त नहीं हैं। माया ने आपको भी छू लिया है।' प्रभु कहते हैं, 'अगर तुम किसी को भ्रमित करना चाहोगी तो क्या वह व्यक्ति तुमको झेल पायेगा? मैं भी नहीं झेल सकता। अब बताओ, इन दस रूपों में तुमने मेरा रास्ता क्यों रोका है?'

सती आदि देव से कहती हैं, 'आपने मुझे पाशुपत दर्शन के बारे में बतलाया, जिसका सम्बन्ध शिव तत्त्व से था। मैं आपको तंत्र शास्त्र की और भी रहस्यमय गुप्त विद्या, शाक्त तंत्र की दस महाविद्याओं के बारे में बताऊँगी, जिसका सम्बन्ध शक्ति तत्त्व से है। आपने मेरे जो दस रूप देखे हैं, ये उस

रहस्यमय तंत्र शास्त्र की शक्ति के दस रूप हैं।' सती के ये दस स्वरूप तंत्र की दस महाविद्याओं के नाम से जाने जाते हैं।

सतयुग में शिव के दशावतार

शिवजी ने जब देखा कि सती दस रूपों में मेरे सामने खड़ी हो गयी हैं, तब उन्होंने भी दस रूप धारण कर लिये और कहा, 'सती, तुम्हारा जो पहला रूप काली का था, वहाँ मैं महाकाल के रूप में तुम्हारे साथ रहूँगा।' काली और महाकाल दस महाविद्याओं में प्रथम विद्या माने गये हैं। ये सत् पुरुषों को भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। शिवजी के दूसरे अवतार का नाम था तार और शक्ति का दूसरा अवतार हुआ तारा। ये दोनों भुक्ति-मुक्ति प्रदाता और सुख देने वाले हैं। शिवजी ने तीसरा रूप धारण किया बाल भुवनेश का, और इनकी शक्ति बनी बाला भुवनेशी, जो सज्जनों को सुख देने वाली हैं। शिवजी के चौथे रूप का नाम है षोडश श्री विद्येश, और देवी के चौथे रूप का नाम है षोडषी श्री विद्या, जो भोग और मोक्ष प्रदायक हैं। शिवजी का पाँचवाँ अवतार है भैरव, जो हमेशा भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करता है और देवी का पाँचवाँ रूप है भैरवी, जो उपासकों को अभीष्ट फल प्रदान करती हैं। छठा अवतार छिन्नमस्तक है और देवी का रूप है छिन्नमस्ता। सातवाँ अवतार धूमवान् नाम से विख्यात है और देवी का रूप है धूमावती, जो श्रेष्ठ उपासकों की लालसा पूर्ण करती हैं। आठवाँ अवतार बगलामुख है और देवी का रूप है बगलामुखी। नवें अवतार को मातंग कहा गया और देवी का रूप है मातंगी, जो सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली हैं। दसवाँ अवतार है भुक्ति-मुक्ति प्रदाता कमल और देवी का स्वरूप है कमला, जो भक्तों का हर प्रकार से पालन करती हैं।

तंत्र शास्त्र में इन दस अवतारों को सर्वकामप्रद बताया गया है। इन शक्तियों की भी अद्‌भुत महिमा है। ये दुष्टों को दण्ड देने वाली और ब्रह्मतेज की वृद्धि करने वाली हैं।

शिव और शिवा यहाँ पर सहज रूप से ही लीला के रूप में एक-दूसरे के पूरक बनकर शाक्त तंत्र की विचारधाराओं को भी प्रस्तुत करते हैं, जहाँ पर शक्ति प्रमुख है और शिव उनके सहायक हैं। प्रमुख शक्ति काली, तारा आदि के रूप में हैं, शिव सहायक के रूप में महाकाल, तार आदि के रूप में हैं। इस प्रकार शैव तंत्र के साथ-साथ शाक्त तंत्र का भी विस्तार और विकास होता है।

सतयुग में शिव का दुर्वासावतार

सतयुग में जब शिव और सती का संवाद, क्रीड़ा और विहार चल रहा था, लीला हो रही थी, उसी समय दूसरे क्षेत्र में अत्रि और अनसूया पुत्र कामना से तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनके आश्रम में जाते हैं और तीनों वरदान देते हैं कि हमारे अंश से तुम्हारे तीन पुत्र होंगे। ब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा अनसूया के गर्भ से जन्म लेते हैं। विष्णुजी के अंश से दत्तात्रेय ऋषि जन्म लेते हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ संन्यास पद्धति का प्रचलन किया। और रुद्र या शिव के अंश से दुर्वासाजी जन्म लेते हैं।

रुद्र का स्वभाव दुर्वासा में भी है। रुद्र का स्वभाव है संहार करना, और संहार के लिए उनका उत्तेजित होना, क्रुद्ध होना आवश्यक रहता है। वही स्वभाव दुर्वासाजी में दिखायी देता है। दुर्वासाजी भी बहुत उग्र थे। लेकिन इस उग्रता में शिव का अनुग्रह, शिव की कृपा भी छुपी है। इसलिए दुर्वासाजी की उग्रता से, क्रोध से लोग हमेशा भयभीत अवश्य रहते थे कि पता नहीं कौन-सी बिजली कब किसके सिर पर गिरने वाली है। लेकिन अगर दुर्वासाजी किसी पर क्रुद्ध हो जाते, तो लोग अपने को धन्य भी मानते थे कि उस क्रोध में उनका एक विशेष अनुग्रह छुपा हुआ है।

दुर्वासाजी की कुछ कहानियाँ प्रचलित हैं, जिनमें एक कहानी है अम्बरीष की, जिसकी परीक्षा दुर्वासाजी ने ली थी। अम्बरीष से भोजन के मामले में दुर्वासा जी ने लीला की। तब सुदर्शन चक्र ने इनका पीछा किया और अंतत: शिवजी के आदेश से अम्बरीष की प्रार्थना पर चक्र शान्त हुआ। वनवास के समय पाण्डवों के साथ भी वही लीला होती है। दुर्वासाजी अपने दस हजार शिष्यों के साथ आते हैं और कहते हैं, भूख लग रही है, भिक्षां देहि। पाण्डवों के पास दुर्वासाजी उनको अनुगृहीत करने के लिए पहुँचते हैं। अगर दुर्वासा जी अम्बरीष और पाण्डवों के पास नहीं पहुँचते तो भक्त वत्सलता क्या है, किसी को मालूम भी नहीं पड़ता। आखिर स्मरण मात्र से ही तो श्री कृष्ण ने द्रोपदी के सामने उपस्थित होकर, अनाज के एक दाने को ग्रहण कर दुर्वासा की क्षुधा को शान्त किया था। अत: जहाँ-जहाँ भी व्यक्ति को ईश्वर की कृपा तत्काल चाहिए थी, दुर्वासाजी वहाँ पहुँच कर ईश्वर को तुरन्त प्रकट कर देते थे। एक प्रकार के कहा जाय भगवान के आगे-आगे दुर्वासाजी चलते थे और उनके पीछे-पीछे भगवान अपना अनुग्रह करते हुए चलते थे।

तीसरी परीक्षा दुर्वासाजी ने रामजी की ली थी। काल ने मुनि का वेष धारण करके श्रीराम के साथ यह शर्त रखी थी कि मेरे साथ बात करते समय श्रीराम के पास कोई नहीं आयेगा। जो आएगा उसका निर्वासन होगा। दुर्वासाजी ने हठ करके लक्ष्मण को श्रीराम के पास भेजा, जिसके कारण श्रीराम ने तुरंत लक्ष्मणजी को राज्य से निर्वासित कर दिया था।

दक्ष का द्रोह

भगवान शिव कैलाश में तरह-तरह की लीलाएँ करते हुए, माता सती के साथ समय व्यतीत कर रहे हैं। आनन्द से समय बीत रहा है। पूरा संसार जान रहा है कि रुद्र और सती क्रमश: शिव और शिवा हैं। चारों तरफ उनकी आराधना हो रही है। इसी समय दक्ष प्रयाग में एक भव्य यज्ञ का आयोजन करता है और सभी ऋषि-मुनियों एवं देवताओं को बुलाता है। उस यज्ञ में भाग लेने के लिए सती भी भगवान रुद्र के साथ पहुँचती हैं। यज्ञ के व्यवस्थापकगण सम्मानपूर्वक सभी अतिथियों को उनके लिए निर्देशित आसनों पर बैठाते हैं। यज्ञ आरम्भ होने वाला है। ऋषि, मुनि, संत, देव, किन्नर, यक्ष, सभी पहुँच कर अपने-अपने स्थान पर विराजमान हो गये हैं। प्रजापति दक्ष के आने की प्रतीक्षा हो रही है कि वे आकर यजमान का कार्य करेंगे, यज्ञ आरम्भ होगा। घोषणा होती है, 'प्रजापति दक्ष पधार रहे हैं।' इस घोषणा को सुनकर ब्रह्मा, विष्णु, देवता, ऋषि, किन्नर, गंधर्व, उस यज्ञ मण्डप में एकत्र पूरा समाज अपने स्थान पर खड़ा हो जाता है। केवल रुद्र अपने स्थान पर शान्तिपूर्वक बैठे रहते हैं। दक्ष सभा मण्डप में प्रवेश करते हैं, बहुत खुश होते हैं, उनको अभिमान भी था कि मेरी ही संतानों के कारण सृष्टि आबाद हुई है। मैंने ही अपनी कन्याओं को देवताओं एवं ऋषियों को दिया है, मैं सभी लोकों में पूज्य हूँ।

दक्ष सभा मण्डप में प्रवेश कर देखते हैं कि सभी मेरे सम्मान में खड़े हुए हैं, केवल एक व्यक्ति आसन से नहीं उठा है, रुद्र। उनको बैठे देख दक्ष आगबबूला हो गया, क्रोध से थरथराने लगा। उसने कहा, 'यह रुद्र चारों वर्णों से पृथक् और कुरूप है। इसको यज्ञ से बहिष्कृत करो। यह मेरे आने पर भी मुझे सम्मान देने के लिए खड़ा नहीं हुआ है। अपने आपको क्या समझता है? ब्रह्माजी खड़े हो गये, विष्णुजी खड़े हो गये, समस्त देव मण्डली और ऋषि मण्डली खड़ी हो गयी, यह क्यों नहीं खड़ा हुआ?' इस बात को सुनकर शिव के गुह्यक और नन्दी भयंकर उत्तेजित हो जाते हैं कि इसकी इतनी हिम्मत कैसे

कि यह परमपिता शिव को अपशब्द कह रहा है, कह रहा है कि परमपिता को यहाँ से निकाल दो। वाद-विवाद होता है और भगवान रुद्र शान्त भाव से अपने आसन पर बैठकर सुनते रहते हैं। दक्ष कहता है, 'यह तो श्मशान में निवास करने वाला है, अशुद्ध है। इसका कुल उत्तम नहीं है, यह यहाँ क्यों आया है? यह जन्म से हीन और सभी वर्णों से अलग है।'

शिवजी न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, न वैश्य और न ही शूद्र। वे चारों वर्णों से अलग हैं। देवताओं में कुछ ब्राह्मण हैं, कुछ क्षत्रिय। बृहस्पति ब्राह्मण थे। इन्द्र क्षत्रिय और ब्राह्मण, दोनों थे। कश्यप पुत्र होने के नाते ब्राह्मणत्व भी था और इन्द्र होने के नाते क्षत्रित्व भी। इस प्रकार सभी देवता, ऋषि और व्यक्ति किसी-न-किसी वर्ण से जुड़े हैं। शिव ही वर्णहीन हैं। उनका अपना कोई वर्ण नहीं, कोई पहचान नहीं। जब उन्होंने शिवजी को ऐसे अपशब्द कह दिये, तब नन्दी को क्रोध आया, उसने भी दक्ष को शाप दिया। मालिक तो चुप-चाप बैठे हैं, सेवक सहन नहीं कर पाया, क्योंकि सेवक निर्लिप्त नहीं है। मालिक निर्लिप्त हो सकते हैं, लेकिन सेवक कभी निर्लिप्त नहीं हो सकता, वह तो स्वामीभक्त होता है। जो स्वामीभक्त है, वह निर्लिप्त कैसे?

नन्दी ने दक्ष को शाप दिया कि तुम श्रीहीन और कर्मभ्रष्ट हो जाओगे, और एक दिन तुम्हारे सिर के स्थान पर बकरे का सिर रहेगा, क्योंकि अभी तुम केवल मैं, मैं, मैं कर रहे हो और बकरा भी केवल मैं, मैं, मैं करता है। ऐसा कह कर जब नन्दी भगवान शिव की ओर देखता है, तब उन्हें मुस्कुराते हुए पाता है। शिवजी कहते हैं, 'नन्दी शान्त हो जाओ, जो होने का है, वह तो होगा ही। उसको कोई टाल नहीं सकता, न मैं टाल सकता हूँ, न तुम। मैं निर्गुण, निर्विकार जरूर हूँ, लेकिन रुद्र रूप में मेरा एक कार्य है, मैं बन्धन में हूँ। समय आने पर सब कुछ होगा।' ऐसा कहकर यज्ञ शुरू होने के पहले ही आदिदेव रुद्र सती और गुह्यकों के साथ प्रयाग से चल कर पुनः कैलाश लौट आते हैं। वहाँ अपना कार्य, पूजा-अर्चना, साधना और तपस्या करते हैं, समाधि लगाते हैं। इस बीच दक्ष का यज्ञ सम्पन्न हो गया। सब अपने-अपने घर चले गये।

त्रेतायुग में त्र्यम्बकेश्वर

समय बीतने लगा, सतयुग बीत गया और त्रेतायुग ने प्रवेश किया। त्रेता युग में गौतम ऋषि अहल्या के साथ नासिक के पास ब्रह्मगिरि पर्वत पर रहते थे। उस क्षेत्र में एक बार भयंकर अकाल पड़ा। अनेक वर्षों तक अकाल की स्थिति

रही। आसमान में बादलों का नामोनिशान नहीं, धरती सूख गयी और उस क्षेत्र से सभी अन्न-जल की खोज में अन्यत्र चले गये। महर्षि गौतम और उनकी पत्नी अहल्या उसी क्षेत्र में रह गये। तब आकाल को दूर करने के लिए महर्षि गौतम ने वरुण देव की आराधना की। उनकी आराधना और तपस्या से प्रसन्न हो वरुण देव प्रकट होकर कहते हैं, 'गौतम, तुम किसलिए मेरी आराधना कर रहे हो? तुम्हारी क्या अभिलाषा है?' गौतम ऋषि कहते हैं, 'यहाँ वर्षों से जल की एक बूँद भी नहीं पड़ी है। वृष्टि का ही आशीर्वाद दे दें।' वरुण कहते हैं, 'मैं विधाता के विधान के विरुद्ध नहीं जाऊँगा। मैं वृष्टि नहीं करूँगा, लेकिन एक काम कर सकता हूँ। तुम एक गड्ढा खोद दो, वहाँ मैं अक्षय जल का आशीर्वाद दूँगा। उस गड्ढे का जल कभी समाप्त नहीं होगा। अक्षय जल की प्राप्ति तुमको उस गड्ढे से हमेशा होती रहेगी।'

गौतम ने एक हाथ गहरा गड्ढा खोदा और वरुण ने उस गड्ढे को दिव्य जल से भर दिया, जो कभी समाप्त होने वाला नहीं था। और कहा, यह जल तुम्हारे लिए तीर्थ-रूप होगा, इसकी ख्याति पूरे संसार में होगी। इस प्रकार गौतम ने वरुण का आशीर्वाद प्राप्त कर ब्रह्मगिरि में ही अपना आश्रम बनाया और उस जल के उपयोग से अपने पूरे क्षेत्र को हरा-भरा कर दिया। जब यह समाचार लोगों को मिला, तब जो लोग अन्यत्र चले गये थे, वे धीरे-धीरे पुनः अपनी धरती को आबाद करने के लिए वापस आते हैं। पशु-पक्षी, जो अन्न-जल की खोज में उस क्षेत्र को छोड़कर चले गये थे, वे भी धीरे-धीरे वापस आते हैं और वह क्षेत्र पुनः पशु, पक्षी, ऋषि, मुनि, जनता से आबाद हो जाता है, सब सुख-शान्ति से वहाँ रहने लगते हैं। वरुण द्वारा दिये गये उस दिव्य जल से सभी अपना कार्य सम्पन्न करते हैं।

एक बार ब्राह्मणों की स्त्रियाँ जल लेने के लिए उस कुण्ड पर आती हैं। उस समय उस कुण्ड से कुछ छोटी जात के लोग जल ले रहे थे। ब्राह्मण स्त्रियों ने उनसे कहा, 'तुम लोग हटो, हम लोग पहले जल लेंगे।' यह देखकर अहल्या ने कहा, 'जल पर सभी का समान अधिकार है। इनको लेने दो, फिर तुम ले लेना।' यह सुनकर ब्राह्मणियों को गुस्सा आ गया। उस समय तो वे कुछ नहीं बोलीं, जल लेकर चली गयीं। लेकिन जब जल लेकर घर पहुँचती हैं, तब अपने पतियों से कहती हैं, 'आज अहल्या ने सबके सामने हमारा अपमान किया, छोटी जात वालों के सामने हमको ऐसा कह दिया। इस अपमान का बदला आपको लेना होगा। कुछ ऐसा प्रयास कीजिए कि हम लोग अहल्या

और गौतम, दोनों को शर्मिंदा कर सकें, दोनों का अपमान कर सकें, तभी हमको संतुष्टि मिलेगी। जब तक आप लोग प्रयत्न नहीं करेंगे, हम लोग खाना-पीना सब छोड़ देंगे।'

ब्राह्मण भी सोचने लगे कि घर में कलह रोकने के लिए उत्तम होगा कि हम लोग कुछ करें, ताकि हमारी पत्नियाँ खुश हो जायें और इनकी इच्छा भी पूरी हो जाये। उन लोगों ने तपस्या आरम्भ की और एक देवता का आवाहन किया। जब देवता ब्राह्मणों के सामने प्रकट होते हैं, तब ब्राह्मण कहते हैं, 'हम चाहते हैं कि आप एक मरियल गाय का रूप लेकर गौतम के खेत को चर जाएँ। और जब गौतम आपको हाँक कर खेत से भगाने के लिए आए, उस समय मर जाएँ। आपकी मृत्यु पर हम लोग आयेंगे, हल्ला करेंगे और गौतम को अपमानित करेंगे।' देवता ने कहा, 'एक बात याद रखो, जो दूसरे का अहित चाहता है, उसका खुद का भी अहित होता है। क्या करूँ, मैंने पहले ही कह दिया था कि तुम्हारी जो कामना है, माँगो, दूँगा, अत: वचनबद्ध हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि इसका परिणाम तुम्हारे लिए शुभ नहीं होगा।' ऐसा कह कर देवता ने एक मरियल गाय का रूप लिया और गौतम के खेत में चल दिये।

जब वे गौतम के खेत में जाकर वहाँ उपज को खाने लगते हैं, उस समय गौतम आते हैं और एक दूब से गाय को स्पर्श कर कहते हैं, 'चलो माता, यहाँ से चलो।' जैसे ही दूब का स्पर्श गाय से होता है, वह गिर कर मर जाती है। ब्राह्मण, जो ताक में थे, तुरन्त सामने आते हैं, कहते हैं, 'गौतमजी, आपने क्या कर दिया! गौ हत्या कर दी! आप से तो कभी यह अपेक्षा नहीं थी। अब आपको इसका दण्ड भुगतना होगा। आप इस आश्रम से निकल जाइए। यहाँ से एक कोस दूर चले जाइए, जहाँ पानी की व्यवस्था नहीं है, वहाँ अपना आश्रम बनाइए और तीन बार सारी पृथ्वी की परिक्रमा कीजिए, एक महीने का व्रत कीजिए। ब्रह्मगिरि की एक सौ परिक्रमा कीजिए और सहस्त्र लिंग बना कर रोज उनकी उपासना कीजिए, तभी आपकी शुद्धि होगी, तभी आप इस गौ हत्या के पाप से मुक्त हो पाएँगे।'

गौतम कहते हैं, 'ठीक है, आप लोग जैसा कहते हैं, मैं वैसा ही करूँगा।' उन्होंने ब्रह्मगिरि से एक कोस दूर जाकर अपना छोटा-सा आश्रम बनाया। वहाँ भगवान शिव की आराधना करने लगे। भगवान शिव गौतम की इस आराधना से प्रसन्न होकर उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। उनके प्रकट होने पर गौतम हाथ जोड़कर कहते हैं, 'भगवन्! हमको निष्पाप कर दीजिए। जो पाप हम पर

चढ़ा है, उसको उतार दीजिए।' भगवान शिव गौतम को कहते हैं, 'गौतम, तुम तो सदा निष्पाप हो। उन दुष्टों ने तुम्हारे साथ छल किया है। असल में पापकर्ता तो वे लोग हैं। तुम हमेशा से निष्पाप रहे हो और निष्पाप ही रहोगे।' गौतम ने कहा, 'प्रभु, मैं तो उन ऋषियों को धन्यवाद देता हूँ, उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, क्योंकि अगर उन लोगों ने मुझे दण्डित नहीं किया होता, तो मैं आपकी आराधना में संलग्न नहीं होता, मुझे आपके दर्शन नहीं हो पाते। उन्होंने तो मेरे लिए बहुत बड़ा पुण्य कार्य किया है। उनका यह दण्ड मेरे लिए सौभाग्य सूचक बन कर आया और आपका दर्शन आज मुझे हो रहा है। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने मेरे लिए यह कल्याणकारी कार्य किया है। प्रभु, आप उन पर नाराज मत होइए, बल्कि उन्हें भी अपने अनुग्रह का पात्र बना लीजिए।'

भगवान शिव यह सुनकर और भी प्रसन्न हो गये और कहा, 'वाह! यह बात तुम ही कह सकते हो गौतम, दूसरा कोई नहीं। वास्तव में तुमने यह सिद्ध कर दिया कि तुम्हारे मन में किसी के प्रति मलिनता नहीं, तुम स्वयं निष्पाप हो। बोलो, क्या चाहते हो? तुम जो कहोगे, मैं तुमको देने को तैयार हूँ।' गौतम ने कहा, 'भगवन्! अगर आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे गंगा प्रदान कीजिए।' शिवजी ने कहा, 'तथास्तु।' उनके तथास्तु कहते ही गंगा माता उनकी बगल में उपस्थित हो जाती हैं। गंगा माता को शिवजी की बगल में देखकर गौतम गंगाजी की स्तुति करते हैं–

जय जय गंगे जय हर गंगे जय जय गंगे जय हर गंगे ।
देवि सुरेश्वरि भगवति गंगे त्रिभुवनतारिणि तरलतरंगे ।
शंकरमौलि-विहारिणि विमले मम मतिरास्तां तव पदकमले ॥

भागीरथि सुखदायिनि मातस्तव जल महिमा निगमे ख्यातः।
नाहं जाने तव महिमानं पाहि कृपामयि मामज्ञानम् ॥

हरिपद पाद्य तरंगिणि गंगे हिमविधु मुक्ता धवल तरंगे ।
दूरी कुरु मम दुष्कृति भारं कुरु कृपया भवसागर पारम् ॥

तव जलममलं येन निपीतं परमपदं खलु तेन गृहीतम् ।
मातर्गंगे त्वयि यो भक्तः किल तं द्रष्टुं न यमः शक्तः ॥

पतितोद्धारिणि जाह्नवि गंगे खण्डितगिरिवरमण्डित भंगे ।
भीष्म जननि हे मुनिवर कन्ये पतित-निवारिणि त्रिभुवन धन्ये ॥

कल्पलतामिव फलदां लोके प्रणमति यस्त्वां न पतति शोके ।
पारावार विहारिणि गंगे विमुख युवति कृत तरलापांगे ॥

तव चेन्मात: स्रोत: स्नात: पुनरपि जठरे सोऽपि न जात:।
नरक-निवारिणि जाह्नवि गंगे कलुष-विनाशिनि महिमोत्तुंगे ॥

पुनरसदंगे पुण्यतरंगे जय जय जाह्नवि करुणापांगे ।
इन्द्रमुकुटमणि-राजित चरणे सुखदे शुभदे भृत्य शरण्ये ॥

रोगं शोकं तापं पापं हर मे भगवति कुमति कलापम् ।
त्रिभुवन सारे वसुधा हारे त्वमसि गतिर्मम खलु संसारे ॥

अलकानन्दे परमानन्दे कुरु करुणामयि कातर वन्द्ये ।
तव तट निकटे यस्य निवास: खलु वैकुण्ठे तस्य निवास: ॥

वरमिह नीरे कमठो मीन: किं वा तीरे शरट: क्षीण:।
अथवा श्वपचो मलिनो दीनस्तव न हि दूरे नृपतिकुलीन: ॥

भो भुवनेश्वरि पुण्ये धन्ये देवि द्रवमयि मुनिवर कन्ये ।
जय जय गंगे जय हर गंगे जय जय गंगे जय हर गंगे ॥

स्तुति से प्रसन्न होकर गंगाजी कहती हैं, 'बोलो, तुमको क्या चाहिए?' गौतम पुन: कहते हैं, 'माता, चाहता हूँ कि आप यहाँ सदा के लिए निवास करें।' गंगाजी कहती हैं, 'ठीक है, जैसा तुम चाहते हो वैसा ही होगा।' साथ-ही वे भगवान शिव से निवेदन करती हैं कि प्रभु आप भी माता और अपने गुह्यकों के साथ यहाँ पर निवास करें, तभी मैं इस धरातल पर निवास करूँगी। गंगाजी की बात सुनकर शिवजी कहते हैं, 'ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा।' इस प्रकार जहाँ गौतम ने तपस्या की थी, उस स्थान में प्रभु त्र्यंबकेश्वर के रूप में और गंगा गोदावरी के रूप में स्थित हो जाती हैं।

भागीरथी गंगा का अवतरण

भारतवर्ष में 'सगर' नाम के राजा अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने यज्ञ का घोड़ा छोड़ा और वह घोड़ा पूरे देश में भ्रमण करते हुए महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँच गया। इन्द्र ने उस घोड़े को महर्षि कपिल के आश्रम में बाँध दिया ताकि

वह आगे नहीं जा पाए, क्योंकि इन्द्र सोचता था कि अगर महाराज सगर इस अश्वमेध यज्ञ को पूरा कर लेंगे तो इन्द्रपद उनको प्राप्त हो जाएगा। इन्द्रपद उन्हें प्राप्त न हो, इसलिए यज्ञ में बाधा देने हेतु उसने घोड़े को कपिल ऋषि के आश्रम में बाँध दिया और वापस अपने लोक चला गया।

कपिलमुनि समाधि में थे, उन्हें कुछ पता नहीं चला। इधर जब घोड़ा नहीं लौटा तब महाराज सगर अपने पुत्रों से कहते हैं, तुम लोग जाकर खोजो कि वह घोड़ा इस पृथ्वी पर कहाँ छुपा हुआ है। सगर के साठ हजार पुत्र घोड़े की खोज में पूरी पृथ्वी पर फैल जाते हैं और खोजते-खोजते महर्षि कपिल के आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ घोड़े को बँधा हुआ देखकर उन्हें लगता है कि महर्षि कपिल ने ही जानबूझकर घोड़े को बाँध रखा है। वे महर्षि कपिल को अपशब्द कहने लगते हैं। कोलाहल सुनकर महर्षि कपिल की समाधि भंग होती है, उनका ध्यान टूटता है और वे आँखें खोलकर देखते हैं कि सगर के साठ हजार पुत्र उनको अपशब्द कह रहे हैं। महर्षि कपिल को क्रोध आता है, हुँकार करते हैं और हुँकार मात्र से जो ध्वनि प्रकट होती है वह तेज का, अग्नि का रूप लेकर एक क्षण में समस्त सगर पुत्रों को जलाकर भस्म कर देती है। महर्षि कपिल पुन: समाधिस्थ हो जाते हैं।

जब पुत्र नहीं लौटे तब सगर को चिन्ता हुई कि ये लोग अभी तक नहीं लौटे, क्या हुआ। अपने सबसे छोटे पुत्र अंशुमान को कहते हैं, 'बेटा, अब तुम्हीं जाकर देखो कि तुम्हारे भाइयों का क्या हुआ और घोड़ा अभी तक क्यों नहीं लौटा।' अंशुमान भी पूरी पृथ्वी में खोजते-खोजते कपिल ऋषि के आश्रम में पहुँचता है और देखता है कि घोड़ा कपिल ऋषि के आश्रम में बँधा है तथा राख के छोटे-छोटे पिण्ड आश्रम में चारों तरफ पड़े हुए हैं। वह महर्षि के समाधि से बाहर आने तक प्रतीक्षा करता है।

जब कपिल समाधि से बाहर आए, तब अंशुमान उनको प्रणाम करके कहता है, 'भगवन्! यज्ञ का यह घोड़ा आपके आश्रम में बँधा है। अगर अनुमति हो तो मैं यज्ञ सम्पूर्ण करने के लिये इस घोड़े को ले चलूँ।' महर्षि कपिल कहते हैं, 'हाँ, घोड़े को ले जाओ। तुम बहुत विनम्र हो, अच्छे स्वभाव वाले हो। तुम्हारे सब भाई आए थे, लेकिन उनमें से कोई विनम्र नहीं था, सब कठोर थे, दुर्वचन कहने वाले थे। मैंने उनको जलाकर भस्म कर दिया है। यह सब उन्हीं की राख पड़ी हुई है।' अंशुमान राख को देखकर कहता है, 'इनका उद्धार कैसे हो, इसका कोई तरीका बताइये।' कपिल कहते हैं, 'इनका उद्धार

तभी संभव है जब गंगा आकर इनके पापों को धोएगी।' 'लेकिन गंगा है कहाँ इस धरती पर?' 'उसकी एक धारा को हिमालय से यहाँ आश्रम तक लाने का प्रयास करो। जब गंगा के जल का स्पर्श इस राख से होगा, तब तुम्हारे भाई अपने पाप से मुक्त होकर स्वर्ग को प्राप्त करेंगे।'

अंशुमान घोड़े को लेकर वापस आता है और पिता से कहता है, यह घटना घट चुकी है। अब आज्ञा दीजिए कि मैं गंगा को नीचे लाने के लिये प्रयत्न करूँ। वंश पर वंश प्रयास होता है, महाराज दिलीप प्रयास करते हैं, भगीरथ प्रयास करते हैं। भगीरथ के प्रयास से सबसे पहले हिमालय में ब्रह्माजी प्रकट होते हैं और पूछते हैं, 'तुम्हारी इस कठोर तपस्या का प्रयोजन क्या है?' भगीरथ कहते हैं, 'मेरा प्रयोजन गंगा को इस धरती पर लाना है ताकि मेरे पूर्वज मुक्त हो सकें।' ब्रह्माजी सुझाव देते हैं कि तुम महादेव शिव और गंगा की आराधना कर उनको प्रसन्न करो। गंगा से अनुमति लो कि वे इस धरती पर अवतरित होंगी, शिवजी से अनुरोध करो कि वे गंगा के वेग को अपने सिर पर धारण करें, नहीं तो अगर वह गंगा आकाश से गिरेगी तो उसका वेग इतना प्रबल होगा कि वह धरती को फोड़कर पताल लोक में चली जाएगी।

ब्रह्मा के आदेश के अनुसार भगीरथ गंगा की आराधना करते हैं। गंगा प्रकट होकर कहती हैं, 'मैं तुम्हारी कामना अवश्य पूरी करूँगी, लेकिन तुम पहले शिवजी को प्रसन्न करो।' भगीरथ शिवजी की आराधना करते हैं और शिवजी भी इस महान् कार्य को करने के लिये तैयार हो जाते हैं। शिवजी निश्चित समय पर अपनी जटाओं को खोलकर एक पर्वत पर खड़े हो जाते हैं और गंगा का अवतरण होता है। गंगा भगवान शिव के सिर पर गिरती हैं और गंगा की धाराओं को शिवजी अपनी जटाओं में ही बाँध लेते हैं। गंगा शिव की जटाओं में ही कभी इधर कभी उधर प्रवाहित होती रहती हैं, निकलने का कोई मार्ग नहीं मिलता, तब भगीरथ पुनः शिवजी से प्रार्थना करते हैं, 'भगवन्! गंगा की एक धारा तो छोड़ दीजिए।' उनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर शिवजी अपनी जटा से गंगा की एक धारा को इस धरती पर छोड़ते हैं। हिमालय से निकली वह धारा भगीरथ के पीछे-पीछे जाती है और बिहार पहुँचती है।

पूर्वकाल में बिहार में सुलतानगंज के निकट महर्षि जह्नू का आश्रम था। गंगा इतने वेग से आ रही थी कि महर्षि जह्नु ने सुलतानगंज के पास ही गंगा की धारा को रोक दिया, आगे बढ़ने नहीं दिया। भगीरथ आगे बढ़ चुके थे, लेकिन जब गंगा की ध्वनि उनको सुनाई नहीं पड़ती है, अमरकोष में कहा गया

है गंगा की एक ध्वनि होती है– *गम गम गमयति इति गंगा,* तब वे पीछे मुड़कर देखते हैं, 'गंगा कहीं दिखलाई नहीं देती तो पुन: उसको खोजने के लिए उल्टे पाँव लौटते हैं। देखते हैं कि महर्षि जह्नु ने गंगा के प्रवाह को रोक दिया है। भगीरथ फिर महर्षि से प्रार्थना करते हैं कि आप गंगा को छोड़ दीजिए। महर्षि जह्नु अपनी दाहिनी जांघ से गंगा को छोड़ते हैं, और तब से गंगा का नाम पड़ा, 'जाह्नवी'।

गंगा को लेकर भगीरथ आगे बढ़ते हैं और कपिल आश्रम पहुँचते हैं। कपिल आश्रम पहुँच कर गंगा सगर पुत्रों की राखों को धो देती है, उनके पापों को धो देती है। वे सब इस संसार से मुक्त होकर स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं, और गंगा गंगासागर में मिल जाती है। तब से गंगा की यह अविरल धारा हिमालय से गंगासागर तक प्रवाहित होती आ रही है, जो शुद्धता, चंचलता और पवित्रता की प्रतीक है।

त्रेता युग में शिव का पिप्पलाद अवतार

महर्षि दधीचि अपनी पत्नी सुवर्चा के साथ अपने आश्रम में रहते थे और आश्रम में शिक्षा एवं साधना नियमित रूप से चलती रहती थी। महर्षि दधीचि और सुवर्चा, दोनों शिव भक्त थे। जब प्रयाग में यज्ञ हुआ था, जहाँ शिव का अपमान किया गया था, तब महर्षि दधीचि ने भी उस यज्ञ का बहिष्कार किया था। वे उस यज्ञ में नहीं गए। उन्होंने कहा, 'जहाँ परमेश्वर शिव का भाग नहीं है, वहाँ हम लोग जाकर क्या करेंगे?' सभी देवता गए, अन्य ऋषि-मुनि गए, लेकिन दधीचि नहीं गए। उनकी शिव भक्ति अनन्त और अटूट थी। उनको एक विशेष अनुग्रह प्राप्त हुआ था, उनके शरीर की हड्डियाँ वज्र-सी कठोर हो गयी थीं। उन्हें मालूम था कि एक दिन मेरा यह शरीर देवताओं के कार्यों को सिद्ध करेगा, इसलिये मुझे यह वरदान प्राप्त हुआ है।

एक दिन जब महर्षि दधीचि आश्रम में अपनी गर्भवती पत्नी सुवर्चा के साथ बैठे थे, तब देवता उनसे मिलने आए और कहा, 'महर्षि आप तो जानते हैं कि दैत्य और दानव हमें बहुत परेशान करते रहते हैं और उनको मारने के लिए आयुधों की आवश्यकता है। सब जानते हैं कि आपकी हड्डियाँ बहुत कठोर हैं। आपकी हड्डी से वज्र बन सकता है।'

उस समय वृत्रासुर ने पूरे विश्व में आतंक फैलाया हुआ था। उसे किसी दैवी अस्त्र-शस्त्र से मारा नहीं जा सकता था। वह एक प्रकार से अजेय था,

अमर था, क्योंकि उसको वरदान मिला था कि वह किसी अस्त्र-शस्त्र से नहीं मरेगा, न सूखे में मरेगा, न गीले में, न दिन को मरेगा, न रात को। वृत्रासुर को मिला वरदान लगभग वैसा ही था जैसा हिरण्यकश्यप को प्राप्त हुआ था। उसने पूरी सूची बनाकर परमपिता ब्रह्मा को दे दी थी कि मेरी मृत्यु न अन्दर हो न बाहर, न सबेरे न शाम को, न मनुष्य द्वारा न पशु द्वारा, न ठोस से, न तरल पदार्थ से, यह मेरी माँग है। और ब्रह्माजी ने उसकी माँग पूरी भी की थी।

वरदान पाकर वृत्रासुर ने देवताओं के साम्राज्य पर हमला कर दिया। देवताओं को वहाँ से निकाल दिया और खुद वहाँ राज्य करने लगा। तब देवता महर्षि दधीचि के पास आए कि हम लोगों को बहुत परेशानी हो रही है, अस्त्र चाहिए। हमारे दैवी अस्त्र-शस्त्र वृत्रासुर को नहीं मार सकते हैं। दधीचि तुरन्त अपनी हड्डियाँ देने के लिये तैयार हो गए। वे समाधि लगाकर बैठ गए और सुरभि गाय ने आकर उनके पूरे शरीर को चाटा। जब वह महर्षि के शरीर को स्पर्श करती थी तब उसकी जिह्वा के स्पर्श से महर्षि का शरीर प्राणमय होकर व्योम में विलीन होता जाता था। जब महर्षि का शरीर प्राणरूप में व्योम में समा गया, केवल हड्डियाँ शेष रह गयीं, तब विश्वकर्मा ने उनसे आयुधों का निर्माण किया।

शिवजी के तेज से सुदृढ़ मुनि की वज्रमयी हड्डियों से सम्पूर्ण अस्त्रों की कल्पना की गयी। उनकी रीढ़ की हड्डी से वज्र और ब्रह्मशिर नामक बाण बनाये गये। शरीर की अन्य हड्डियों से भी तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्र बनाये गये और सब देवताओं को वितरित किये गये। उन अस्त्रों से वृत्रासुर का वध हुआ और देवताओं ने पुन: अपने राज्य को प्राप्त किया। इधर महर्षि दधीचि के देह त्याग के पश्चात् ऋषि पत्नी सुवर्चा, ऋषि के अवशेष भागों के साथ चिता पर बैठना चाहती थी, उस समय आकाशवाणी होती है, 'सुवर्चा, तुम चिता पर नहीं चढ़ सकती, क्योंकि तुम्हारे गर्भ में एक शिशु है। अगर तुम सती होने के लिए चिता पर चढ़ोगी, तो शिशु हत्या का पाप तुमको लगेगा। तुम चिता पर मत चढ़ो, तुम जीवित रहो।'

सुवर्चा भी आखिर ऋषि पत्नी थी, समाधि में बैठ गयी। गर्भवती को अपना शरीर नहीं जलाना चाहिए, ऐसी आकाशवाणी हुई थी, इसलिए सुवर्चा ने अपने योग बल से गर्भ को आदेश दिया कि अब तुम बाहर निकल जाओ। उसके गर्भ से शिव अंश पिप्पलाद जन्म लेते हैं। पिप्पलाद के जन्म के पश्चात्

सुवर्चा महर्षि दधीचि के अवशेषों के साथ चिता पर बैठती है और स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।

दधीचि के उत्तम तेज से निर्मित यह बालक, जो शिव का अंश है, जब जन्म लेता है तब सभी देवी-देवता उस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और ब्रह्माजी इस बालक का नाम पिप्पलाद रखते हैं। चूँकि एक पीपल पेड़ के नीचे योग शक्ति से ऋषि पत्नी सुवर्चा ने पिप्पलाद को बाहर आने का आवाहन किया था और पीपल पेड़ के नीचे इसका जन्म हुआ था, इसलिए नाम पड़ा पिप्पलाद। देवताओं के द्वारा इस बालक का पालन-पोषण होता है और दीर्घकाल तक पिप्पलाद उसी पीपल के पेड़ के नीचे अपनी साधना, तपस्या करते हैं। चिरकाल तक तपस्या में प्रवृत्त होकर, अनेक शास्त्रों का प्रणयन करके अंत में वे राजा अनरण्य की कन्या पद्मा से विवाह करते हैं और उसके राज्य का संचालन भी करते हैं। पिप्पलाद अवतार में भगवान शिव ने एक साधु, ऋषि और साथ-ही-साथ एक ऐश्वर्यशाली राजा की भी भूमिका निभायी है।

त्रेता में शिव का द्विजेश्वरावतार

एक राजदम्पत्ति, जिनमें राजा का नाम भद्रायु और रानी का नाम कीर्त्तिमालिनी था, वन विहार के लिए एक बार गहन वन में प्रवेश करते हैं। ये दोनों अनन्य शिव भक्त थे। इनकी धर्म में दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए शिवजी सती के साथ ब्राह्मण पति-पत्नी का वेष बनाकर आते हैं और अपनी माया से एक सिंह का निर्माण करते हैं। यह शेर उन वृद्ध, दुर्बल ब्राह्मण दम्पत्ति को खाने के लिए उनके पीछे दौड़ता है, और ब्राह्मण दम्पत्ति उस शेर से भागते-भागते राजा के पास पहुँचकर विह्वल हो अभय की याचना करते हुए कहते हैं, 'राजन्! यह हिंसक प्राणी हमको खाने के लिए हमारे पीछे आ रहा है, हमें इससे बचा लीजिये। यह हमें अपना आहार बनाना चाहता है।' 'मैं तुम को अभय प्रदान करता हूँ। मैं तुम्हें बचाऊँगा।' ऐसा कहकर राजा ने सिंह पर अनेक बाण चलाए, तलवार से प्रहार किये, भाला भोंका। लेकिन कुछ असर होने वाला तो था नहीं, क्योंकि वह सिंह माया का बना हुआ था।

सिंह ने सीधे ब्राह्मणी पर झपट्टा मारकर उसको अपने मुँह में दबाया और बलपूर्वक घसीटते हुए दूर जंगल में ले गया। ब्राह्मणी को इस प्रकार जाते देख ब्राह्मण को बहुत दु:ख हुआ और वह ब्राह्मण, जो स्वयं शिव थे, रोते हुए राजा से कहते हैं, 'तुमने अपना वचन पूरा नहीं किया। सिंह ब्राह्मणी

को ले गया। अब मैं अकेला क्या करूँगा? मैं तो बूढ़ा हो रहा हूँ, मेरी सेवा कौन करेगा?' राजा ने कहा, 'महाराज, आप जो कहें मैं देने को तैयार हूँ। मुझसे यह अपराध हुआ कि मैं अपनी बात नहीं रख पाया। मुझे ग्लानि है, दु:ख है। आप मुझे आदेश दीजिए, आप क्या चाहते हैं, मैं आपकी सभी बातें रखूँगा।' ब्राह्मण रूपी शिव कहते हैं, 'तुम अपनी पत्नी मुझे दे दो, जो मेरे साथ रहकर मेरी सेवा करेगी।' राजा भद्रायु जल लेकर संकल्प करते हैं कि मैं आज से अपनी पत्नी कीर्त्तिमालिनी आपको प्रदान करता हूँ। इस संकल्प के पश्चात् राजा सोचते हैं, जब मैं अपना वचन नहीं रख पाया, एक ब्राह्मणी को नहीं बचा सका, अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सका, तो फिर मुझे जीने का क्या अधिकार है?

वे अपने दहन के लिए लकड़ी एकत्र कर चिता तैयार करते हैं, अग्नि जलाते हैं और अग्नि में प्रवेश करने के लिए तत्पर होते हैं। उन्होंने अग्नि की परिक्रमा की, भगवान शिव का ध्यान किया और अग्नि में प्रवेश करने ही वाले हैं कि उसी समय सामने भगवान शिव प्रकट हो जाते हैं, कहते हैं, 'भद्रायु, यह तो तुम्हारी भक्ति की परीक्षा थी। वह ब्राह्मणी और कोई नहीं, स्वयं शिवा थी। वह ब्राह्मण और कोई नहीं, स्वयं मैं था। वह सिंह माया द्वारा निर्मित था। तुम्हारी परीक्षा के लिए ही यह सब लीला हुई है।

'द्विज' का अर्थ होता है, ब्राह्मण। भगवान का यह रूप द्विजेश्वर अवतार के नाम से जाना गया है। भगवान शिव सती सहित राजा भद्रायु और उसकी पत्नी की परीक्षा लेकर अपने धाम कैलाश लौट आते हैं।

त्रेता युग में शिव का हनुमान अवतार

कैलाश में एक दिन भगवान शिव सती को समुद्र मन्थन और अमृत वितरण की कथा सुना रहे थे। कथा सुनकर सती भगवान से कहती हैं, 'आपने जो कथा सुनायी, वह अद्‌भुत है। लेकिन मुझे सब से अद्‌भुत लग रहा है विष्णु का मोहिनी रूप लेना, क्या आपने उस रूप को देखा है?' भगवान शिव कहते हैं, 'नहीं, मैंने विष्णु के मोहिनी रूप का दर्शन नहीं किया है, क्योंकि विषपान कर, मैं अपने गले को ठण्ढा करने के लिए सीधे कैलाश आ गया था।' सती कहती हैं, 'तब तो आप मुझे जो कथा सुना रहे हैं वह अधूरी है, क्योंकि आप सुनी हुई बात मुझको सुना रहे हैं। मैं कैसे मानूँ कि भगवान का मोहिनी रूप हुआ था?' शिवजी कहते हैं, 'बात तो ठीक है।'

उन्होंने विष्णुजी का स्मरण किया। विष्णुजी प्रकट होकर कहते हैं, 'आपने मुझे याद किया।' शिवजी कहते हैं, 'हाँ, मेरी इच्छा तुम्हारा मोहिनी रूप देखने की है।' भगवान विष्णु हँसते हुए कहते हैं, 'वह तो किसी युग में हो चुका है। आप चाहते हैं कि मैं अभी फिर से उस रूप को धारण करूँ?' शिवजी कहते हैं, 'हाँ, क्योंकि मैंने तुम्हारे मोहिनी रूप के बारे में केवल सुना है। अभी तक देखा नहीं है।' शिवजी की आज्ञा से विष्णुजी पुन: जैसे ही मोहिनी रूप धारण कर उनके सामने खड़े होते हैं, शिवजी का मन चंचल हो जाता है। वे मोहिनी के पीछे दौड़ पड़े, मोहिनी आगे-आगे, शिवजी पीछे-पीछे। इस क्रम में शिवजी जब क्षुब्ध और विचलित हो जाते हैं, तब उनका वीर्यपात होता है। सप्तर्षि, जो अपने आराध्य को लीला करते हुए, विष्णु के मोहिनी रूप के पीछे भागते हुए देख रहे थे, उन्होंने उस वीर्य को एक पत्ते पर उठा लिया और गौतम कन्या, अंजनी के गर्भ में कान के रास्ते स्थापित कर दिया।

अंजनी, अहल्या और गौतम की पुत्री थी। अंजनी का विवाह वानरराज केशरी के साथ हुआ था। गौतम आश्रम त्र्यम्बकेश्वर में नासिक के पास है। वहाँ ब्रह्मगिरि पर्वत भी है। हनुमान का जन्म उसी पर्वत शृंखला के एक पर्वत पर हुआ था। कहीं पर कथा आती है कि वायु देवता ने शिव वीर्य को अंजनी के गर्भ में डाला, कहीं पर कथा आती है कि सप्तर्षियों ने डाला। प्रचलित कथा है कि वायुदेव ने शिव वीर्य को कान के रास्ते अंजनी के गर्भ में डाल दिया और उस वीर्य से महाप्रतापी हनुमान का जन्म हुआ, जो राम भक्त थे, जिन्होंने असुरों का मान-मर्दन किया, राम भक्ति की स्थापना की और राम दूत के नाम से विख्यात हुए। हनुमानजी शिवजी के ही अंशावतार थे।

हनुमानजी जन्म लेते ही लीला आरम्भ कर देते हैं। सबेरे के उगते हुए सूरज को फल समझ कर अपने मुँह में डाल लेते हैं। संसार में सर्वत्र अंधकार छा जाता है। फिर देवताओं के अनुरोध पर उसको उगल देते हैं। देवता उनको शिव अवतार जानकर अपनी सम्पूर्ण विभूतियाँ, शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् हनुमानजी सूर्य के पास जाकर उनसे हर प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते हैं, सारी विद्याएँ सीखते हैं। सूर्य ही हनुमानजी के गुरु बनते हैं और उनके ही आदेश से हनुमानजी सूर्य अंश सुग्रीव के मंत्री पद का भार उठाते हैं। सूर्य ने उनसे कहा था, 'तुम सुग्रीव के पास जाओ, उसकी सेवा करो, उसके साथ किष्किंधा में रहो, वहाँ तुमको एक दिन अपने आराध्य श्रीराम का दर्शन

अवश्य होगा।' इस बात को हृदयंगम कर हनुमानजी सुग्रीव के साथ समय व्यतीत करते हैं और अपने आराध्य देव, रामजी से मिलने के पश्चात्, राम-कार्य के लिए तत्पर होकर प्रभु के समस्त कार्य करते हैं।

जय हनुमान ज्ञान गुन सागर। जय कपीस तिहुँ लोक उजागर ।।
राम दूत अतुलित बल धामा। अंजनि-पुत्र पवनसुत नामा ।।

महाबीर बिक्रम बजरंगी। कुमति निवार सुमति के संगी ।।
कंचन बरन बिराज सुबेसा। कानन कुंडल कुंचित केसा ।।

हाथ बज्र औ ध्वजा बिराजै। काँधे मूँज जनेऊ साजै ।।
संकर सुवन केसरीनंदन। तेज प्रताप महा जग बंदन ।।

बिद्यावान गुनी अति चातुर। राम काज करिबे को आतुर ।।
प्रभु चरित्र सुनिबे को रसिया। राम लषन सीता मन बसिया ।।

सूक्ष्म रूप धरि सियहिं दिखावा। बिकट रूप धरि लंक जरावा ।।
भीम रूप धरि असुर सँहारे। रामचन्द्र के काज सँवारे ।।

लाय सजीवन लखन जियाये। श्रीरघुबीर हरषि उर लाये ।।
रघुपति कीन्ही बहुत बड़ाई। तुम मम प्रिय भरतहि सम भाई ।।

सहस बदन तुम्हरो जस गावैं। अस कहि श्रीपति कंठ लगावैं ।।
सनकादिक ब्रह्मादि मुनीसा। नारद सारद सहित अहीसा ।।

जम कुबेर दिगपाल जहाँ ते। कबि कोबिद कहि सके कहाँ ते ।।
तुम उपकार सुग्रीवहिं कीन्हा। राम मिलाय राज पद दीन्हा ।।

तुम्हरो मंत्र बिभीषन माना। लंकेस्वर भए सब जग जाना ।।
जुग सहस्त्र जोजन पर भानू। लील्यो ताहि मधुर फल जानू ।।

प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं। जलधि लाँघि गये अचरज नाहीं ।।
दुर्गम काज जगत के जेते। सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते ।।

राम दुआरे तुम रखवारे। होत न आज्ञा बिनु पैसारे ।।
सब सुख लहै तुम्हारी सरना। तुम रच्छक काहू को डर ना ।।

आपन तेज सम्हारो आपै। तीनों लोक हाँक तें काँपै ॥
भूत पिसाच निकट नहिं आवै। महाबीर जब नाम सुनावै ॥

नासै रोग हरै सब पीरा। जपत निरंतर हनुमत बीरा ॥
संकट ते हनुमान छुड़ावै। मन क्रम बचन ध्यान जो लावै ॥

सब पर राम तपस्वी राजा। तिन के काज सकल तुम साजा ॥
और मनोरथ जो कोई लावै। सोइ अमित जीवन फल पावै ॥

चारों जुग परताप तुम्हारा। है परसिद्ध जगत उजियारा ॥
साधु संत के तुम रखवारे। असुर निकंदन राम दुलारे ॥

अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता। अस बर दीन जानकी माता ॥
राम रसायन तुम्हरे पासा। सदा रहो रघुपति के दासा ॥

तुम्हरे भजन राम को पावै। जनम जनम के दुख बिसरावै ॥
अंत काल रघुबर पुर जाई। जहाँ जन्म हरि-भक्त कहाई ॥

और देवता चित्त न धरई। हनुमत सेइ सर्ब सुख करई ॥
संकट कटै मिटै सब पीरा। जो सुमिरै हनुमत बलबीरा ॥

जै जै जै हनुमान गोसाईं। कृपा करहु गुरु देव की नाईं ॥
जो सत बार पाठ कर कोई। छूटहि बंदि महा सुख होई ॥

जो यह पढ़ै हनुमान चालीसा। होय सिद्धि साखी गौरीसा ॥
तुलसीदास सदा हरि चेरा। कीजै नाथ हृदय मँह डेरा ॥

त्रेता युग में शिव का कृष्णदर्शन अवतार

हर कल्प, हर मन्वंतर में एक मनु होते हैं। अब तक सत्ताईस मनु हो चुके हैं। पहले मनु थे, स्वायंभू मनु। अभी जो मनु हैं, उनका नाम है वैवस्वत् मनु। यहाँ पर जो कथा हो रही है, वह इस चतुर्युग की कथा नहीं है। चतुर्युग वर्तमान में भी है, भूत में भी था और भविष्य में भी होगा। हम वर्तमान चतुर्युग को ही देख पाते हैं, लेकिन भूत के चतुर्युग का हमको अन्दाज नहीं और भविष्य के चतुर्युग का भी आभास नहीं। हमारे शास्त्रों में यह संकेत दिया गया है कि भविष्य का चतुर्युग ऐसा होने वाला है और भूत का चतुर्युग इस

प्रकार बीत चुका है। जो बीत चुका है वह इतिहास कहलाता है और जो जाना नहीं गया, वह अज्ञात है।

त्रेता युग में श्राद्धदेव मनु के नौ पुत्र थे। उनका नवाँ पुत्र था नभग। नभग को अध्ययन करना बहुत अच्छा लगता था। बाकी भाइयों को राज करने, आदेश देने, ऐशो-आराम करने में मजा आता था, लेकिन नभग विद्या अध्ययन के प्रयोजन से दीर्घकाल तक अपने गुरु के आश्रम में रहे। इस बीच श्राद्धदेव मनु ने अपने राज्य का बँटवारा आठ पुत्रों में कर दिया और खुद वानप्रस्थाश्रम का संकल्प लेकर वन में चले गये, वहाँ एक छोटी-सी कुटिया बनाकर रहने लगे।

वर्षों पश्चात् जब नभग विद्या अध्ययन करके लौटता है, भाई उसको सम्मानपूर्वक घर के भीतर लाते हैं और समाचार बतलाते हैं। नभग ने सब समाचार सुनने के बाद पूछा कि मेरा हिस्सा कहाँ है। राज्य को तो आठ भाइयों ने बाँट लिया है। मेरा हिस्सा कहीं रखा है या नहीं? भाइयों ने कहा, 'नहीं। वह हमारा काम नहीं था। बँटवारा तो पिताजी ने किया, उनको सोचना चाहिए था। उन्होंने राज्य आठ भागों में बाँटा। तुम विद्या अध्ययन में लगे थे, उनको लगा कि तुमको राज्य की आवश्यकता नहीं है। इसलिए तुम्हारे नाम पट्टी नहीं लिखी है।' नभग ने कहा, 'यह कैसे संभव है? पिताजी से पूछूँगा कि वे मुझे कैसे भूल गये।'

इस प्रकार चिन्तन करके वह वन में अपने पिताजी के पास आता है। पिताजी नभग को देखकर प्रसन्न होते हैं। नभग उनसे कहता है, 'पिताजी, आप भूल गये कि मैं भी आपका एक पुत्र हूँ। आपने अपना राज्य मेरे भाइयों में बाँट दिया और मेरा हिस्सा नहीं रखा।' श्राद्धदेव मनु कहते हैं, 'नभग, तुम्हारा हिस्सा भी था, जिसे तुम्हारे भाइयों ने हड़प लिया है। वे तुमको यह कह कर ठग रहे हैं कि पिताजी ने तुम्हारा हिस्सा अलग नहीं किया। मैं तुम्हारा हिस्सा न रखूँ, यह कैसे संभव है! खैर, कोई बात नहीं। उन्होंने तुमको ठगा है, तुम्हारे हिस्से का राज्य लिया है। पर जीविका के अन्य उपाय भी हैं। आश्रम के नजदीक ही आंगिरस गोत्र के ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं। उस कर्म में प्रत्येक छठे दिन का कार्य वे ठीक से नहीं कर पाते हैं, भूल जाते हैं। उनको यज्ञ की दो ऋचायें नहीं आती हैं। तुम वहाँ जाओ और उन्हें विश्वेदेव सम्बन्धी दो सूक्त बतला दिया करो। यज्ञ समाप्त होने पर जब वे स्वर्ग जायेंगे, तब तुमसे प्रसन्न होकर अपने यज्ञ से बचा हुआ सारा धन तुम्हें दे देंगे।'

नभग पिता की आज्ञा के अनुसार आंगिरस ऋषियों के यहाँ आता है। वैश्वदेव सम्बन्धी सूक्तों का पाठ करता है। उसके पाठ से आंगिरस ऋषि अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं और चले जाते हैं। जाते समय नभग को कहते हैं कि यज्ञ के बाहर जो भी गिरा हुआ है, वह सब तुम्हारा है, तुम उसको समेट लो। जब नभग यज्ञ भाग को समेटने में संलग्न था, तब शिवजी उसकी परीक्षा लेने के लिए एक ब्राह्मण तपस्वी के वेश में आते हैं और कहते हैं, 'तुम कौन हो जो इस धन को ले जा रहे हो। यह धन तुम्हारा नहीं है। यह तुम्हारा भाग नहीं है।' नभग ने कहता है, 'मेरे पिताजी ने कहा था कि जो भाग तुमको आंगिरस देंगे, वह तुम्हारा होगा। आंगिरसों ने मुझसे कहा कि यज्ञ से बचा हुआ जो भाग बाहर पड़ा है, वह तुम बटोर लो, वह तुम्हारा है। यह धन ऋषियों ने मुझे दिया है। अब यह मेरी सम्पत्ति है।'

उस समय शिवजी का जो स्वरूप था, एकदम काला, लेकिन इतना सुन्दर कि जो कोई उनकी ओर देखे, देखता ही रह जाए, इसलिए इस अवतार का नाम पड़ा, कृष्णदर्शन। कृष्णदर्शन के रूप में शिवजी नभग से कहते हैं, 'ऋषियों ने जो बात कही सो कही, लेकिन तुम एक बार अपने पिताजी से पूछकर आओ कि यज्ञ के बाहर जो भाग पड़ा रहता है, उस पर किसका अधिकार होता है। पिताजी को पंच बनाओ और पिताजी जो निर्णय देंगे, उसे हम स्वीकार करेंगे।' नभग श्राद्धदेव मनु के पास जाकर कहता है, 'पिताजी, एक ब्राह्मण आये हैं, जो मुझे यज्ञ भाग उठाने से रोक रहे हैं। कहते हैं कि यह यज्ञ भाग तुम्हारा नहीं है, यह धन तुम्हारा नहीं है। किसका है यह धन?' श्राद्धदेव मनु ने कहते हैं, 'वे पुरुष जो तुम्हें धन लेने से रोक रहे हैं, साक्षात् भगवान शिव हैं। यज्ञ से प्राप्त हुए धन पर उनका विशेष अधिकार है। यज्ञ में जो धन बच जाता है, वह सब भगवान रुद्र का भाग होता है। अत: यज्ञ में बची सारी वस्तुएँ ग्रहण करने का पहला अधिकार भगवान शिव का है। अगर तुम चाहते हो, तो पहले उनसे अनुमति लो। ब्राह्मण ने तुमसे सही कहा है। तुम ब्राह्मण के पास जाकर उनसे अपने अपराध के लिए क्षमा माँगो और उनकी प्रार्थना करो।'

पिताजी की आज्ञा से नभग पुन: यज्ञ स्थल पर आता है, जहाँ पर शिव कृष्णदर्शन के रूप में उसकी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। नभग हाथ जोड़कर कहता है, 'महात्मन्, मुझसे अपराध हो रहा था, क्षमा करें। पिताजी ने निर्णय दिया है कि यह सारा भाग भगवान रुद्र का ही है। मैं इसे ले रहा

था, उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।' कृष्णदर्शन रूप में भगवान शिव कहते हैं, 'नभग, तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें सत्य बात कही है। और तुमने भी साधु स्वभाव के कारण उसको स्वीकार किया है। तुम्हारे मन में खोट होता तो तुम यह सब नहीं करते। अपने भाइयों की तरह हड़प लेते, झड़प करते या मेरी और पिताजी की बात नहीं मानते। तुम्हारे स्वभाव से मैं प्रसन्न हूँ और तुमको ब्रह्म ज्ञान प्रदान करता हूँ।' इस प्रकार नभग को कृष्णदर्शन के रूप में परम शिव ने ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मतत्त्व का उपदेश दिया और यज्ञ का सारा धन भी उसके सुपुर्द कर दिया।

त्रेतायुग में शिव का यतिनाथ एवं हंस अवतार

त्रेता युग में एक जंगल में अर्बुदाचल पर्वत के पास भील दम्पत्ति रहते थे। वे शिव भक्त थे। शिव की आराधना नियमित करते थे। एक दिन उनकी परीक्षा लेने के लिए एक संन्यासी के रूप में शिव उनके घर आते हैं। जंगल में इन भीलों की छोटी-सी कुटिया रही होगी। जहाँ खाना, पीना, सोना, सब कुछ होता था। संध्या के समय यति रूप में भगवान शिव दरवाजा खटखटाते हैं और कहते हैं, 'रात्रि निवास के लिए जगह चाहिए। सबेरा होते ही चला जाऊँगा।' भील सोचने लगा कि घर आये अतिथि का सम्मान कैसे करें। निर्णय लिया कि घर आये अतिथि को निराश नहीं लौटायेंगे और वह भीलनी से कहता है, 'देखो, हमारे यहाँ अतिथि आये हैं। अतिथि इस मकान के भीतर रहेंगे। तुम स्त्री हो, तुम भी मकान के भीतर रहो और मैं मकान के बाहर रातभर जागकर पहरा दूँगा ताकि वन के हिंसक पशु आकर हमारे अतिथि को भयभीत न करें, उसकी निद्रा भंग न करें।'

ऐसे वचन कहकर वह भील अपना भाला, धनुष और तलवार लेकर दरवाजे के बाहर बैठ गया, रातभर पहरा देता रहा। किन्तु लीला थी कि हिंसक जानवरों ने आकर उस भील को मार डाला। प्रात:काल जब भीलनी मकान का दरवाजा खोलकर बाहर निकलती है तो भील के शव को जमीन पर पड़ा हुआ देखती है। वह संन्यासी से कहती है, भीलराज का तो इस समय कल्याण हो गया है। वे धन्य और कृतार्थ हो गये, जो ऐसी मृत्यु उन्हें प्राप्त हुई। मैं अब उनका अनुसरण करूँगी। ऐसा कहकर वह भील के शव को जलाने की व्यवस्था करती है और शव के साथ चिता पर बैठ जाती है। तब भगवान शिव अपने साक्षात् स्वरूप में उसके सामने प्रकट हो गये और कहा, 'मैंने तुम्हारी

भक्ति की परीक्षा के लिए यह लीला की थी। तुम इच्छा अनुसार वर माँग लो।' दर्शन पाकर भीलनी को किसी बात की सुध नहीं रही। उसकी अवस्था को समझकर भगवान शिव ने कहा, 'मेरा यति रूप जो तुमने देखा, अगले जन्म में हंस रूप में प्रकट होगा। तुम्हारा पति, भील एक राजघराने में जन्म लेगा। तुम भी एक दूसरे राजघराने में जन्म लोगी। और हंस रूप में आकर मैं तुम दोनों को मिलाऊँगा। उसके पश्चात् तुम दोनों दीर्घकाल तक इस धरती पर राज करोगे।'

दूसरे जनम में वह भील नैषध नगर में वीरसेन के पुत्र नल के नाम से विख्यात होता है और भीलनी विदर्भ नगर में राजा भीम की पुत्री दमयन्ती के रूप में जन्म लेती है। भगवान शिव हंस अवतार के रूप में आकर नल और दमयन्ती का मिलन कराते हैं और उनको राज-सुख प्रदान करते हैं। भील और भीलनी की जो तपस्या, साधना, भक्ति और समर्पण रहा, उसका फल प्रभु उनको राज्य सुख के रूप में दूसरे जन्म में देते हैं।

सती द्वारा राम परीक्षा

एक दिन भगवान शिव सती से कहते हैं, 'चलो, हम लोग दण्डकारण्य घूमने चलते हैं।' जिस समय शिव और सती, दोनों दण्डकारण्य में भ्रमण कर रहे थे, उस समय श्री विष्णु भी राम रूप में सीता को खोजते हुए दण्डकारण्य वन में घूम रहे थे। रावण, जिसने पूर्व में शिव की अराधना करके विश्वविजेता होने का संकल्प लेकर पूरे विश्व को जीता था, जगत् जननी माँ लक्ष्मी, सीता का हरण कर उन्हें लंका ले गया है और रामजी, जो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, विष्णु के अवतार हैं, लीला करते हुए, सीता-सीता, सीता-सीता कहते हुए वन में घूम रहे हैं। पौधों, फूलों, लताओं, वृक्षों, जानवरों और पक्षियों से पूछ रहे हैं, 'तुमने मेरी सीता को देखा है क्या?'

बैल पर सवार शिवजी ने रामजी को लक्ष्मण के साथ सीता को पुकारते हुए देखा। रामजी के नयनों में आँसू थे। विरह की वेदना थी। सीता, सीता, सीता शब्द उनके मुख से निकल रहे थे। ऐसे श्री राम को लक्ष्मण के साथ देखकर शिवजी ने उन्हें प्रणाम किया और जय सच्चिदानन्द प्रभु कहकर जय-जयकार करते हुए, दूर से ही नमस्कार करके दूसरी दिशा में चल देते हैं।

शिव की इस लीला को देखकर सती को बड़ा विस्मय होता है कि यह क्या हुआ! भगवान शिव इस रोते हुए तपस्वी को नमस्कार क्यों कर रहे हैं?

भगवान शिव इनका जय सच्चिदानन्द कहकर अभिवादन क्यों कर रहे हैं? वे कौतुहलवश पूछती हैं, 'भगवन्! सेव्य स्वामी अपने सेवक को प्रणाम करे, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। आप तो श्रीराम के आराध्य हैं। आप श्रीराम के स्वामी होकर अपने सेवक को नमस्कार क्यों कर रहे हैं?' तब परम पिता परमेश्वर कहते हैं कि जिनको तुम राम समझ रही हो, वे और कोई नहीं, स्वयं विष्णु हैं, जो मानव रूप में राम की लीला कर रहे हैं।

बालकाण्डम्

शुद्ध ब्रह्म परात्पर राम। कालात्मक परमेश्वर राम ॥
शेषतल्प-सुखनिद्रित राम। ब्रह्माद्यमर-प्रार्थित राम ॥
चण्डकिरण-कुलमण्डन राम। श्रीमद्दशरथ-नन्दन राम ॥
कौशल्या-सुखवर्द्धन राम। विश्वामित्र-प्रियधन राम ॥
घोर-ताटका-घातक राम। मारीचादि निपातक राम ॥
कौशिक-मख-संरक्षक राम। श्रीमदहल्योद्धारक राम ॥
गौतम-मुनि-सम्पूजित राम। सुरमुनिवरगण-संस्तुत राम ॥
नाविक-धावित मृदु-पद राम। मिथिलापुर-जनमोहक राम ॥
विदेह-मानस-रञ्जक राम। त्र्यम्बक-कार्मुक-भञ्जक राम ॥
सीतार्पित-वर-मालिक राम। कृतवैवाहिक-कौतुक राम ॥
भार्गव-दर्प विनाशक राम। श्रीमदयोध्या-पालक राम ॥

अयोध्याकाण्डम्

अगणित-गुणगण-भूषित राम । अवनी-तनया-कामित राम ॥
राका-चन्द्र-समानन राम । पितृ-वाक्याश्रित-कानन राम ॥
प्रिय-गुह-विनिवेदित पद राम । तत्क्षालित-निज मृदुपद राम ॥
भरद्वाज-मुखानन्दक राम। चित्रकूटाद्रि-निकेतन राम ॥
दशरथ-संतत-चिन्तित राम। कैकेयी-तनयार्थित राम ॥
विरचित-निज-पितृकर्मक राम। भरतार्पित-निज-पादुक राम ॥

अरण्यकाण्डम्

दण्डक-वन-जन-पावन राम । दुष्ट-विराध-विनाशन राम ॥
शरभंग-सुतीक्ष्ण-अर्चित राम। अगस्त्यानुग्रह-वर्धित राम ॥

गृध्राधिप-संसेवित राम। पंचवटी-तट-सुस्थित राम ॥
शूर्पणखार्त्ति-विधायक राम। खर-दूषण-मुख-सूदक राम ॥
सीताप्रिय-हरिणानुग राम। मारीचार्ति-कृदाशुग राम ॥
अपहृत-सीतान्वेषक राम। गृध्राधिप-गतिदायक राम ॥
शबरी-दत्त-फलाशन राम। कबन्धबाहुच्छेदन राम ॥

किष्किन्धाकाण्डम्

हनुमत्-सेवित-निजपद राम। नतसुग्रीवाभीष्टद राम ॥
गर्वित-बालि संहारक राम। वानर-दूत-प्रेषक राम ॥
हितकर-लक्ष्मण-संयुत राम। कपिवर-संतत-संस्मृत राम ॥

सुन्दरकाण्डम्

तद्गति-विघ्न-ध्वंसक राम। सीताप्राणाधारक राम ॥
दुष्टदशानन-दूषित राम। शिष्ट-हनुमद्-भूषित राम ॥
सीतावेदितकाकावन राम। कृत-चूडामणि-दर्शन राम ॥
कपिवर-वचनाश्वासित राम। रावण-निधन-प्रस्थित राम ॥

युद्धकाण्डम्

वानर-सैन्य-समावृत राम। शोषित सरिदीशार्थित राम ॥
विभीषणाभयदायक राम। पर्वत-सेतु-निबन्धक राम ॥
कुम्भकर्ण-शिरश्छेदक राम। राक्षस-संघ-विमर्दक राम ॥
अहिमहिरावण-चारण राम। संहृत-दशमुख-रावण राम ॥
विधिभवमुख-सुरसंस्तुत राम। खस्थित-दशरथ-वीक्षित राम ॥
सीतादर्शन-मोदित राम। अभिषिक्त-विभीषणनत राम ॥
पुष्पकयानारोहण राम। भरद्वाजाभि-निषेवन राम ॥
भरत-प्राणप्रियकर राम। साकेतपुरी विभूषण राम ॥
सकल-स्वीयसमानत राम। रत्नलसत्-पीठास्थित राम ॥
पट्टाभिषेकालंकृत राम। पार्थिवकुल सम्मानित राम ॥
विभीषणार्पित रञ्जक राम। कीशकुलानुग्रहकर राम ॥
सकलजीव-संरक्षक राम। समस्त लोकोद्धारक राम ॥

उत्तरकाण्डम्

आगत-मुनिगण-संस्तुत राम। विश्रुत-दशकण्ठोद्भव राम ॥
सीतालिंगन-निर्वृत राम। नीति-सुरक्षित-जनपद राम ॥
विपिन-त्याजित-जनकजा राम। कारित-लवणासुर-वध राम ॥
स्वर्गत-शम्बुक-संस्तुत राम। स्वतनय-कुशलव-नन्दित राम ॥
अश्वमेध-क्रतु-दीक्षित राम। कालावेदित-सुरपद राम ॥
आयोध्यकजन-मुक्तिद राम। विधिमुख-विबुधानन्दक राम ॥
तेजोमय-निज-रूपक राम। संसृतिबन्ध-विमोचक राम ॥
धर्मस्थापन-तत्पर राम। भक्तिपरायण-मुक्तिद राम ॥
सर्वचराचर-पालक राम। सर्व-भवामयवारक राम ॥
वैकुण्ठालय-संस्थित राम। नित्यानन्द-पदस्थित राम ॥
राम राम जय राजा राम। राम राम जय सीता राम ॥

शिवजी सती को श्री रामजी की दिव्यता, पूर्णता और लीला के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि वे विष्णु के अंशावतार नहीं, पूर्ण अवतार हैं। स्वयं साक्षात् विष्णु इस जगत् में लीला करने के लिए, जगत् को धर्म और मर्यादा के मार्ग पर स्थापित करने के लिए राम रूप में प्रकट हुए हैं। वे मेरे आराध्य हैं। अगर मैं उनको प्रणाम नहीं करूँ, तो अपराध होगा।

अगर ईश्वर, गुरु या आराध्य मेरे सामने हों और मैं उन्हें प्रणाम न करूँ तो संसार में इससे बड़ा अपराध कुछ नहीं होगा। चोरी करो, हत्या करो, ईश्वर के दरबार में वह पाप माफ है। लेकिन अगर अपने आराध्य, अपने इष्ट को नमस्कार नहीं किया, उनका सत्कार नहीं किया, तो माफी नहीं मिलेगी, क्योंकि वह झुकना ही ईश्वर के प्रति, गुरु के प्रति समर्पण के भाव को व्यक्त करता है। युद्ध भूमि में जब अर्जुन को मोह हुआ था, तब कृष्णजी से उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी थी, लेकिन जब तक अर्जुन ने उनके सामने हाथ जोड़कर यह नहीं कहा कि *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'*, तब तक कृष्णजी ने अर्जुन के एक प्रश्न का भी समाधान नहीं किया था। जब अर्जुन कृष्णजी को हाथ जोड़कर कहता है– *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'*, तब ही कृष्णजी उसको गीता का उपदेश देते हैं।

जब तुम अपने गुरु, अपने इष्ट के सामने हो, उस समय तुमको अपने अहंकार को वश में कर उनको सौंप देना है, तभी सच्ची श्रद्धा, भक्ति और

समर्पण जीवन में पनपता है, जो मनुष्य को ईश्वर से जोड़ता है। अन्यथा हमारी भक्ति व्यभिचारिणी भक्ति कहलाती है। जैसे मधुमक्खी एक क्षण के लिए एक फूल पर बैठती है, वहाँ से कुछ रस लेती है, फिर दूसरे फूल पर जाती है वहाँ से कुछ लेती है, फिर तीसरे फूल पर जाती है वहाँ से कुछ लेती है। एक फूल से वह पूरा रस लेकर वापस नहीं आती, अनेक फूलों पर जाकर संग्रह करती है। अगर वही मधुमक्खी एक फूल पर ही जाकर अपनी झोली भर ले तो उसको भटकना नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार से भक्ति के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि जो व्यक्ति कभी इसकी, कभी उसकी आराधना करता है, जिसने अपनी आस्था, अपनी श्रद्धा को एक इष्ट पर नहीं टिकाया है, उसकी भक्ति व्यभिचारिणी भक्ति कहलाती है। अपनी आस्था को एक इष्ट में टिकाओ, तब ही कुछ प्राप्त होगा।

उदाहरण सरल है, अगर तुमको पानी चाहिए तो एक गड्ढा खोदो, जो पचास फुट गहरा हो, पानी अवश्य मिलेगा। लेकिन अगर पचास गड्ढे खोदो, जो एक-एक फुट गहरे हों, तो परिश्रम अवश्य होगा, लेकिन पानी कहीं नहीं मिलेगा।

भगवान शिव के इष्ट हैं श्री हरि और श्री हरि के इष्ट हैं आदिदेव महादेव। दोनों एक-दूसरे के उपासक हैं, एक-दूसरे के भक्त हैं। सृष्टि के पूर्व ही विष्णु और शिव, दोनों का एक-दूसरे से मिलना हुआ था, तब दोनों ने एक-दूसरे को अपनी समानता प्रदान की थी। कहा था कि तुममें और मुझमें कोई भेद नहीं।

आदिशक्ति, जो शरीरस्थ सती के रूप में वहाँ पर थीं, शिव लीला ने उनकी मति को भ्रमित कर दिया। उन्होंने शिवजी से प्रश्न किया, 'ये कौन हैं, जिनको आप नमस्कार कर रहे हैं?' शिवजी कहते हैं, 'ये ही तो शुद्ध ब्रह्म हैं, वैकुण्ठ में रहने वाले हैं, मेरे आराध्य हैं, महाविष्णु का रूप है यह।' लेकिन चूँकि लीला करनी थी। सती का मन भ्रमित हो गया और उसने शिवजी की इस बात को स्वीकार नहीं किया। मैंने यहाँ 'सती ने स्वीकार नहीं किया' नहीं कहा है, क्योंकि सती तो पराशक्ति हैं, उनको क्या स्वीकार करना और क्या अस्वीकार करना, लेकिन पदार्थरूपी शरीर में जो मन था, वह भौतिक था, उसने स्वीकार नहीं किया। उसने सोचा, इसके पीछे कुछ और रहस्य होगा, मुझको भ्रमित किया जा रहा है, बरगलाया जा रहा है, शिवजी मुझसे कुछ रहस्य छुपा रहे हैं। शिवजी ताड़ गये कि सती ने मेरी बात पर विश्वास नहीं

किया है। उन्होंने कहा, 'अगर तुम राम की परीक्षा लेना चाहती हो तो ले सकती हो, ताकि तुम संतुष्ट हो जाओ कि वे ही राम के रूप में नारायण हैं।' सती तैयार, चूँकि अब एक लीला का समापन होना है।

सती ने सीता जी का वेष धारण कर लिया। सती ने सोचा कि अगर इस वेष में राम मुझे सीता कहकर सम्बोधित करेंगे तो मैं मान लूँगी कि वे परमब्रह्म नहीं हैं। और अगर मेरे इस छद्‌म वेष में वे मेरे वास्तविक स्वरूप को पहचान लेंगे, तो मैं मान लूँगी कि वे परमेश्वर हैं, विष्णु हैं।

सीता के वेष में जब सती श्रीराम के पास पहुँचती हैं, तब श्रीरामजी उनको देखकर हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं और कहते हैं, 'माता, आप इस जंगल में अकेले घूम रही हैं। भोलेनाथ कहाँ हैं? अपना रूप त्याग कर यह नूतन रूप क्यों धारण किया है?' सती को एक जबरदस्त सदमा लगा। उन्होंने सोचा, 'मैंने यह क्या किया। मुझसे अनर्थ हो गया।' सती ने भी शिष्टाचार के नियमों के अनुसार हाथ जोड़कर श्रीराम से कहा, 'राम! भगवान भोलेनाथ मेरे तथा अपने पार्षदों के साथ पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए इस वन में आ गये थे। यहाँ उन्होंने सीता की खोज में लगे हुए लक्ष्मण सहित आपको देखा। वे आपको नमस्कार करके उधर अलग निकल गये और उस वट वृक्ष के नीचे खड़े हैं। आपका दर्शन करते ही वे आनन्दविभोर हो गये। मेरे मन में संदेह था कि आप कौन हैं, इसलिए मैं उनकी आज्ञा लेकर इस वेष में आपकी परीक्षा लेने के लिए आयी। गलती हुई, मैंने आपको पहचाना नहीं, आप साक्षात् नारायण हैं, मुझे क्षमा कर दीजिए।' श्रीराम जी मुस्कुरा पड़े, उन्होंने कहा, 'माता! आपको यह सब कहना शोभा नहीं देता। यह तो आप की ही लीला हो रही है और आप ही कहेंगी कि मुझे क्षमा कर दो, यह उचित नहीं है।'

इस प्रकार श्रीराम जी ने मधुर वचन कहकर, सती माँ के अन्दर जो विचलित अवस्था, ग्लानि की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसको दूर करने का प्रयास किया। इसी क्रम में सती श्रीराम जी से पूछती हैं, 'हे भगवन्! मुझको बताइये कि आप और भोलेनाथ, दोनों समान कैसे हो गये? एक-दूसरे के उपासक कैसे हो गये?' तब रामजी सती को बताते हैं कि आदिकाल में एक समय भगवान शिव ने मुझे अपने लोक, कैलाश बुलाया और वहाँ शुभ मुहूर्त्त में मुझे रत्न निर्मित आसन में बैठाकर, सभी देवताओं को बुलाकर उन्होंने मेरी अर्चना-उपासना की और देवताओं से कहा कि विष्णु आज से मेरे पूज्य हैं, आराध्य हैं। ये मुझमें हैं, मैं इनमें हूँ। आज से मैं आज्ञा देता हूँ कि विष्णु

की उपासना और आराधना सर्वोच्च होनी चाहिए। उसे प्राथमिकता मिलनी चाहिए। वेदों में भी इस बात को कहा जाए। यह भगवान शिव की कृपा, अनुकम्पा और अनुग्रह ही था कि उन्होंने मुझे अपने समान स्थान दिया।

जब रामजी ने ऐसी बात कही, तब सती का क्षोभ और बढ़ गया। उन्होंने रामजी को नमस्कार कर कहा, 'भगवन्! अनुग्रह करते रहना, कृपा बनाये रखना और वापस आ गयीं।' भगवान शिव को तो मालूम था कि क्या हुआ है, लेकिन फिर भी लीला के लिए उन्होंने प्रश्न किया, 'कहो, हो गयी परीक्षा।' सती ने कहा, 'जी। परीक्षा ले ली।' 'क्या पता चला?' 'राम साक्षात् नारायण हैं। आपमें और राम में कोई अन्तर नहीं। जब मैंने राम की परीक्षा ली, तब उसके साथ-साथ मैंने आपकी परीक्षा भी ली थी, जो मेरा सबसे बड़ा अपराध था।'

शिवजी ने कहा, 'ठीक है, अब वापस चलते हैं। पर्याप्त विहार कर लिया।' शिवजी कैलाश आये और सीधे समाधि में बैठ गये।

इधर दक्षिण में राक्षसराज रावण अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे। वे पुष्पक विमान पर चढ़कर पूरे विश्व का भ्रमण करते और देखते थे कि अब मुझे कौन-सा राज्य हड़पना है। एक दिन जब वे पुष्पक विमान से हिमालय के ऊपर यात्रा कर रहे थे तब एक स्थान पर आकर उनका विमान स्थिर हो गया, आगे ही नहीं बढ़ पाया। बहुत प्रयास करने के बाद भी वह उड़नखटोला आगे नहीं बढ़ा तो राक्षसराज रावण को विस्मय हुआ कि यह क्या चमत्कार है, कौन-सी शक्ति है जिसने मेरे पुष्पक विमान को आगे बढ़ने से रोक दिया है। नीचे देखा तो कुछ साधु पाठ करते दिखायी दिये। उतर कर पूछा, 'यह कौन-सा क्षेत्र है, जहाँ से मेरा विमान आगे नहीं बढ़ पा रहा है?' तब उन गुह्यकों के प्रमुख, नन्दी ने खड़े होकर कहा, 'यह कैलाश का क्षेत्र है, जहाँ परमशिव का निवास है। कैलाश के चारों तरफ वायवीय सुरक्षा है, इसके ऊपर से पक्षी भी नहीं उड़ते। कोई विमान भी इसके ऊपर नहीं उड़ता है। अगर कोई उड़ने का प्रयास करता है तो उसे स्थगित किया जाता है। यह भगवान शिव का क्षेत्र है, वे महादेव हैं।'

जब रावण ने सुना कि मुझसे भी बड़ा कोई व्यक्ति है, जिसकी शक्ति के कारण मेरा विमान आगे नहीं बढ़ पा रहा है, तब वह उत्सुकतावश पूछता है, 'मुझे परमशिव का दर्शन हो पाएगा, जो कैलाश में रहते हैं?' नन्दी कहता है, 'अगर तुम उनकी आराधना करोगे तो वे निश्चित रूप से प्रकट होकर तुम्हें दर्शन देंगे।'

लंका नरेश रावण भगवान शिव की आराधना ताण्डव स्तोत्र से करता है–

जटाटवी-गलज्जल-प्रवाह-पावितस्थले
गलेऽवलम्ब्य-लम्बितां भुजंग-तुंग-मालिकाम् ।
डमड्-डमड् डमड् ड्मड्-निनाद-वड्डमर्वयम्
चकार-चण्ड ताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम् ॥

जटाकटाहसम्भ्रम-भ्रमन्निलिम्प निर्झरी
विलोल-वीचि-वल्लरी विराजमान-मूर्द्धनि ।
धगद्-धगद्-धगद्-ज्वलल्ललाट-पट्ट पावके
किशोर-चन्द्र-शेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ॥

धरा-धरेन्द्र नन्दिनी विलास बन्धु बन्धुर-
स्फुरत् दिगन्त सन्तति प्रमोदमान मानसे ।
कृपा-कटाक्ष-धोरणी निरुद्ध दुर्धरापदि
क्वचिद्-दिगम्बरे मनो विनोदमेतु वस्तुनि ॥

जटा-भुजंग-पिंगल-स्फुरत्-फणा-मणि-प्रभा-
कदम्ब-कुंकुम-द्रव-प्रलिप्त-दिग्वधूमुखे ।
मदान्ध-सिन्धुर-स्फुरत्-त्वगुत्तरीयमेदुरे
मनो-विनोदमद्भुतं बिभर्तु भूतभर्तरि ॥

सहस्र-लोचन-प्रभृत्य शेष लेख शेखर-
प्रसून-धूलि-धोरणी विधूसरांघ्रिपीठभूः ।
भुजंगराजमालया निबद्ध-जाट-जूटकः
श्रियै चिराय जायतां चकोर-बन्धु शेखरः ॥

ललाट-चत्वरज्वलद् धनञ्जय-स्फुलिंगभा-
निपीत-पञ्च-सायकं नमन्निलिम्प-नायकम् ।
सुधा-मयूख-लेखया-विराजमान-शेखरं
महाकपालि-सम्पदे शिरो जटालमस्तु नः ॥

कराल-भाल पट्टिका धगद्-धगद्-धगद्-ज्वलद्-
धनञ्जयाहुती-कृत प्रचण्ड पञ्च-सायके ।
धरा-धरेन्द्र-नन्दिनी कुचाग्रचित्र पत्रक-
प्रकल्पनैक-शिल्पिनी त्रिलोचने रतिर्मम ॥

नवीन-मेघ-मण्डली-निरुद्ध-दुर्धरस्फुरत्-
कुहू-निशीथिनीतमः प्रबन्ध-बद्ध-कन्धरः।
निलिम्प-निर्झरी-धरस्तनोतु कृत्ति-सिन्धुरः
कला-निधान-बन्धुरः श्रियं जगद्धुरन्धरः॥

प्रफुल्ल-नील-पंकज-प्रपञ्च-कालिम-प्रभा-
वलम्बि-कण्ठ कन्दली-रुचि-प्रबद्ध-कन्धरम् ।
स्मरच्छिदं पुरच्छिदं भवच्छिदं मखच्छिदं
गजच्छिदान्धकच्छिदं तमन्तकच्छिदं भजे ॥

अखर्व-सर्व-मंगला कला-कदम्ब-मञ्जरी-
रस-प्रवाह-माधुरी-विजृम्भणा मधुव्रतम् ।
स्मरान्तकं पुरान्तकं भवान्तकं मखान्तकं
गजान्त-कान्धकान्तकं तमन्तकान्तकं भजे ॥

जयत्वदभ्र-विभ्रम-भ्रमद्-भुजंगमश्वसद्-
विनिर्गमत्-क्रमस्फुरत्-कराल-भाल-हव्यवाट् ।
धिमिद्-धिमिद्-धिमिद् ध्वनन्-मृदंगतुंग-मंगल
ध्वनि-क्रम प्रवर्तित-प्रचण्ड ताण्डवः शिवः॥

दृषद् विचित्र-तल्पयोर्भुजंग-मौक्तिक-स्रजोः-
गरिष्ठरत्न-लोष्ठयोः सुहृद्-विपक्ष-पक्षयोः।
तृणारविन्द-चक्षुषोः प्रजा-मही-महेन्द्रयोः
समप्रवृत्तिकः कदा सदाशिवं भजाम्यहम् ॥

कदा निलिम्प-निर्झरी-निकुञ्ज-कोटरे वसन्
विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरःस्थमञ्जलिं वहन् ।
विलोल-लोल-लोचनो ललाम-भाल-लग्नकः
शिवेति मन्त्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम् ॥

भगवान शिव उसकी आराधना से प्रसन्न होकर उसे दर्शन देते हैं और कहते हैं, 'तुम क्या चाहते हो? तुमने आराधना किसलिये की? वर माँगो।' रावण कहता है, 'प्रभु! पहले मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कीजिए। दूसरा, अपना कोई एक चिह्न मुझे दीजिये, जिसे मैं अपने नगर में रख सकूँ।

और तीसरा, मुझे सतत् भक्ति प्रदान कीजिए।' भगवान शिव कहते हैं, 'जैसी तुम्हारी इच्छा।' उन्होंने तीनों वर दे दिये। अपनी चन्द्रहास तलवार रावण को देकर कहा, 'इसे तुम ले जाओ, लंका में रखना और रोज इसकी पूजा करना, जिस दिन यह तलवार तुम्हारे दरबार से गायब हो जाएगी उस दिन समझ लेना कि तुम्हारा काल निकट आ रहा है।' इस प्रकार उन्होंने रावण अपनी मैत्री और भक्ति प्रदान की।

रावण उस खड्ग को लेकर आया, उसकी स्थापना लंका में की और रोज उसकी पूजा करता था। रावण बहुत लम्बे समय तक जीवित रहा, उसने पूरे संसार को जीता और राक्षस संस्कृति स्थापित की। रक्ष्य संस्कृति है 'वयं रक्षाम्', हम अपने समाज, कुल, जाति और सम्प्रदाय की रक्षा करते हैं। रक्ष्य संस्कृति का ही विकराल और विकृत रूप हो गया राक्षस। आज के समाज भी रक्ष्य संस्कृति द्वारा पोषित और पालित हैं। सब व्यवस्था समाज के हित के लिए की जाती है, लेकिन जब इसमें विकृति आती है तब रक्ष्य संस्कृति राक्षस संस्कृति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

सर्वप्रथम रावण श्रेष्ठ ब्राह्मण, भक्त और विद्वान् था। रावण के मुख से कृष्ण यजुर्वेद प्रकट हुए थे। वह था तो प्रकाण्ड विद्वान्, लेकिन मति दूसरी थी। भगवान शिव का वरदान प्राप्त कर वह अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था। उसने सीता माता का हरण कर लिया था, उन्हें तरह-तरह से डरा-धमकाकर, प्रलोभन देकर अपना बनाने का प्रयास कर रहा था। इसी समय वह चन्द्रहास खड्ग लेकर भी सीताजी के पास गया था। हनुमानजी के आगमन के पूर्व शिवजी ने रावण से एक वचन लिया था कि अगर तुम इस चन्द्रहास खड्ग को किसी निरपराध को दण्डित करने के लिए हाथ में लोगे या उस भावना से इसे उठाओगे तो यह तुम्हारे राज्य से अदृश्य हो जायेगा और तुम्हारे राज्य में कोई सुरक्षा नहीं रहेगी। लेकिन कामातुर रावण ने शिवजी की इस चेतावनी को भूलकर जगत् जननी माँ सीता के सामने चन्द्रहास को उठाया, और जैसे ही उठाया, चन्द्रहास गायब हो गया, क्योंकि वह खड्ग एक निरपराध स्त्री को डराने, धमकाने और मारने के उद्देश्य से उठा था।

चन्द्रहास के गायब होते ही रावण को झटका लगा कि मैंने कैसा अपराध कर डाला। अब मेरा राज्य सुरक्षित नहीं है। उसको उसी समय आभास हो गया कि सीता ही अब मेरी मृत्यु और मेरे साम्राज्य के विनाश का कारण बनेगी। लेकिन फिर भी उसने सोचा, मैं एक प्रयास और करता हूँ, भगवान के पास

जाकर उनको कहूँगा कि आपका खड्‌ग तो चला गया, आप स्वयं मेरे साथ चलिए। एक भक्त के अनुरोध पर आप भक्त के यहाँ आइए। अगर भगवान स्वयं आ जाते हैं, तो मैं अजेय हो जाऊँगा, फिर मुझे कोई हरा नहीं सकता। इस प्रकार का विचार लेकर रावण पुन: कैलाश की ओर जाता है।

त्रेतायुग में बैद्यनाथेश्वर

रावण की शिवजी से मित्रता हो चुकी थी, इसलिए इस बार उसका विमान कैलाश के ऊपर रुका नहीं। सीधे कैलाश में उतरता है और शिवजी के सेवक उसे ससम्मान भवन के भीतर ले जाते हैं। भगवान को खबर मिलती है कि रावण आया है, वे बाहर आते हैं। 'कैसे आना हुआ?' 'भगवन्! आपने जो चन्द्रहास दिया था, मैंने उसका दुरुपयोग किया और वह अदृश्य हो गया।' भगवान शिव ने कहा, 'यही विधाता का विधान है। अब तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।' रावण कहता है, 'भगवन्! मुझे मालूम है कि राम नारायण के अवतार हैं। लेकिन मुझे यह भी मालूम है कि मैं आपका भक्त हूँ, आपका सेवक हूँ। आप एक भक्त की प्रार्थना स्वीकार कर मेरे साथ लंका चलिए। शिवजी कहते हैं, 'नहीं। मैं अभी नहीं चल सकता। समाधि में बैठने वाला हूँ।' रावण ने कहा, 'अगर आप नहीं चल सकते, तो कुछ प्रतीक दीजिए।'

शिवजी ने उसको एक शिवलिंग देकर कहा, 'यह मेरा प्रतीक है। तुम इसे अपने साथ ले जाओ। लेकिन जब तुम लंका पहुँचोगे तभी इसको अपने भवन में नीचे रखना। अगर बीच में तुमने कहीं रख दिया, तो फिर यह हिलने वाला नहीं है। तुमको खाली हाथ लंका जाना होगा। तुम दुबारा दूसरे शिवलिंग की याचना करने के लिए या पुन: मुझसे अनुरोध करने के लिए कैलाश नहीं आओगे।' रावण ने भगवान की इस बात को स्वीकार कर लिया। उसने कहा, 'जैसा आपका आदेश। निश्चित रूप से मैं इस लिंग को अपने हाथों में धारण कर अपने नगर ले जाता हूँ। मैं इसको कहीं नहीं रखूँगा।' ऐसा कह कर वह लिंग को अपने हाथ में रखकर, पुष्पक विमान में चढ़कर लंका की ओर उड़ चला। लेकिन देवताओं की इच्छा कुछ और थी। शिव इच्छा से प्रेरित वरुण रावण के उदर में बैठ गये और जैसे ही वरुण उदर में बैठे, रावण को लघुशंका की तीव्र इच्छा होने लगी। वह लघुशंका के लिए इतना व्यग्र हो गया कि उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि कैसे अपने को इस बोझ से मुक्त करूँ। नीचे देखा कि एक छोटा-सा भील लड़का गाय चरा रहा है।

रावण विद्वान् था, लेकिन वरुण ने उसके पेट में इतनी हलचल मचा दी कि वह यह नहीं देख पाया कि लड़के के वेश में स्वयं नारायण हैं, जो शिव इच्छा से वहाँ एक भील रूप में उपस्थित होकर गाय चरा रहे थे। रावण ने अपने पुष्पक विमान को नीचे उतारा और लड़के के पास पहुँच कर कहता है, 'मुझको बहुत जोर से लघुशंका लगी है, मैं निवृत्त होना चाहता हूँ, लेकिन यह शिवलिंग मेरे हाथ में है। दो-तीन मिनट के लिए तुम इसको अपने हाथ में पकड़ लो, मैं लघुशंका से निवृत्त होकर फिर शिवलिंग को लेकर चला जाऊँगा।' बाल रूपी विष्णु मान गये। कहा, 'जल्दी आइयेगा, नहीं तो मेरी गायें चरते-चरते दूर निकल जायेंगी।'

रावण ने कहा, 'मैं तुरन्त वापस आने वाला हूँ। बस, दो मिनट का काम है।' लेकिन वरुण जी तो स्वयं शिवजी की आज्ञा से उसके उदर में बैठे थे, उसका मूत्र त्यागना बन्द होता ही नहीं था। पूरी एक नदी बह गयी। आज भी वह नदी विद्यमान है। विष्णुजी वहाँ खड़े-खड़े पुकारते रहे, 'जल्दी आओ। शिवलिंग भारी हो रहा है। मैं इसको उठाकर नहीं रख सकता। जल्दी नहीं आओगे तो मैं इसको जमीन पर रख दूँगा।' लेकिन रावण कहाँ सुनने वाला था। वह तो आनन्द की दुनिया में खोया हुआ था।

बाल रूप में विष्णुजी ने थोड़ी देर प्रतीक्षा की। लेकिन जब देखा कि रावण नहीं आ रहा है, तब उन्होंने अन्तिम बार आवाज दी, 'मेरी गायें आँखों से ओझल हो रही हैं। मैं शिवलिंग को जमीन पर रखकर जा रहा हूँ।' ऐसा कहकर उन्होंने उस शिवलिंग को जमीन पर रख दिया। स्वयं अदृश्य हो गये और गायें भी अदृश्य हो गयीं। कुछ समय बाद जब रावण लघुशंका से निवृत्त होकर लौटा, तो देखता है कि शिवलिंग जमीन पर रखा हुआ है। वह पूरा जोर लगाकर उस शिवलिंग को पुनः उठाने का प्रयास करता है, लेकिन अब शिव की इच्छा वहीं पर स्थित हो जाने की थी। लाख प्रयास करने पर भी जब शिवलिंग नहीं उठा, तब रावण ने क्रोध में आकर अपने अँगूठे से शिवलिंग को जमीन के अंदर धँसा दिया। उसके पश्चात् अपने विमान में चढ़कर लंका चला गया। रावण को मालूम पड़ गया कि अब मेरी हार निश्चित है, सुरक्षा कवच चला गया है, ईश्वर का अनुग्रह भी अब मुझको प्राप्त नहीं है।

विष्णु रूपी भील बालक से जब रावण ने उसका नाम पूछा था, तब उसने जवाब दिया था कि मेरा नाम बैजू है। चूँकि बैजू बालक ने शिवलिंग को जमीन पर रखकर उसकी स्थापना की थी, इसलिए इसका नाम बैजनाथ पड़ा। कुछ

लोग भगवान शिव के इस विग्रह में वैद्यक शक्ति को देखते हैं, इसलिए इसे वैद्यनाथ नाम दिया गया।

दक्ष यज्ञ

शिवजी समाधि में हैं। एक दिन सती अपने अनुचरों के साथ गन्धमादन पर्वत पर भ्रमण कर रही थीं। देखती हैं कि आकाश मार्ग से बहुत से विमान जा रहे हैं। इन सभी विमानों में देवी-देवता बैठे हुए हैं। उन्होंने एक सखी से कहा, 'सब देवता एक ही समय, एक ही दिशा में जा रहे हैं। पता लगाओ कि इतनी बड़ी संख्या में सब देवता कहाँ जा रहे हैं।' सती की सेविका जया एक विमान को रोककर पूछती है, 'महानुभाव, आप कहाँ जा रहे हैं?' उस विमान में चन्द्रमा अपनी सत्ताईस पत्नियों के साथ दक्ष यज्ञ में भाग लेने के लिए जा रहे थे। इस बार यह यज्ञ कनखल, हरिद्वार में हो रहा था। चन्द्रदेव कहते हैं, 'मैं दक्ष यज्ञ में जा रहा हूँ। उन्होंने सभी को आमंत्रित किया है।' जया सती के पास आकर कहती है कि ये सब देवता आपके पिताजी के यहाँ जा रहे हैं। आपके पिताजी कनखल, हरिद्वार में एक विशाल यज्ञ कर रहे हैं।

सती को आश्चर्य हुआ। उसने कहा, 'पिताजी यज्ञ कर रहे हैं। उन्होंने हमको कोई सूचना या निमंत्रण तो दिया ही नहीं। यह कैसे सम्भव है कि बिना अपनी प्रिय पुत्री और दामाद को बुलाए, जिनका भाग यज्ञ में होता है, मेरे पिता यज्ञ करने वाले हैं। हो सकता है भूल से हमारे पास निमंत्रण न पहुँचा हो, इस प्रकार अनेक विचार सती के मन में आते हैं। लेकिन फिर एक विचार आया कि पुत्री को अपने पिता के घर जाने के लिए निमंत्रण की आवश्यकता तो नहीं होनी चाहिए। वह तो कभी भी जा सकती है। पिता के घर का द्वार अपनी पुत्री के लिए हमेशा खुला रहता है।

सभी देवी-देवताओं को जाते देख उसके मन में उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है कि हम भी इस यज्ञ में शामिल होने के लिए जाएँ। वे भगवान शिव के पास जाकर निवेदन करती हैं, 'भगवन्! पता चला है कि मेरे पिता कनखल में एक महायज्ञ कर रहे हैं और इस यज्ञ में भाग लेने के लिए सभी देवी-देवताओं को निमंत्रण दिया है। क्या हम लोग भी चलेंगे?' शिवजी ने कहा, 'महादेवी, हम लोगों को निमंत्रण नहीं मिला है, कैसे जायेंगे? बिना निमंत्रण के किसी के यहाँ जाने से अनादर मिलता है, जो मृत्यु से भी बढ़कर कष्टदायक है। तुम्हारा और मेरा दक्ष यज्ञ में जाना उचित नहीं है।' सती

कहती हैं, 'भगवन्! वे मेरे पिता हैं, मैं अपने पिता के यहाँ बिना निमंत्रण के कभी भी जा सकती हूँ।' शिवजी कहते हैं, 'सती, बिना बुलाये जाओगी तो शुभ नहीं होगा।'

लेकिन सती को भी आभास हो रहा था कि मेरे अवतरण का प्रयोजन अब समाप्त हो रहा है, सृष्टि में विद्या की स्थापना हो चुकी है, अब लीला के इस चक्र को समाप्त करना है, क्योंकि दूसरी लीला भी शुरू होनी है और युग परिवर्तन भी होने वाला है। उन्होंने कहा, 'भगवन्! मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।' शिवजी ने कहा, 'अगर तुम्हें जाने की इतनी प्रबल इच्छा है, तो अवश्य जाओ। लेकिन मेरे गण भी तुम्हारे साथ जायेंगे। तुम नन्दी पर सवार होकर जाओगी। मैं नहीं जाऊँगा, क्योंकि प्रयाग में जब पिछली बार तुम्हारे पिता ने यज्ञ किया था, तब मुझे यज्ञ से बहिष्कृत किया गया था। इसलिए जब तक मुझे निमंत्रण नहीं आता है, मैं नहीं जाऊँगा।'

इस प्रकार मधुर वचन कह कर उन्होंने सती को नन्दी पर सवार कर अपने गणों के साथ यज्ञ में शामिल होने के लिए भेज दिया। जब सती कनखल पहुँचती हैं, देखती हैं कि वहाँ यज्ञ की सभी तैयारियाँ हो गयी हैं। उनकी बहनें उन्हें देखकर प्रसन्न तो अवश्य होती हैं, परन्तु साथ ही इस विचार से उनके मुख पर थोड़ा भय और मलिनता रहती है कि सती बिन बुलाए आयी है, पता नहीं दक्ष क्या कर बैठेंगे। सती घूमते-घूमते यज्ञ मण्डप में पहुँच जाती हैं। मुख्य यज्ञ वेदी के पास सभी देवताओं के आसन लगे हुए हैं और चारों तरफ ऋषि-मुनि बैठकर यज्ञ हवन की तैयारी कर रहे हैं। सब देवताओं का आगमन हो रहा है, सब अपने-अपने स्थान पर बैठ रहे हैं। सबको बैठते देख सती अपने पिता के पास पहुँचती हैं और नमस्कार करती हैं। दक्ष सती की ओर देखकर कहते हैं, 'तुम यहाँ क्यों आयी हो? तुम्हारे पति श्मशान में रहने वाले हैं, भस्म लगाते हैं। वह सुसंस्कृत नहीं है, उन्मादी है। तुम उसके साथ रहती हो। मैंने उसका बहिष्कार किया है, क्योंकि उसने मेरा सम्मान नहीं किया, जबकि मैं प्रजापति हूँ। यज्ञ का कोई भाग उसको मिलने वाला नहीं है। तुम आ ही गयी हो, तो वितरित होने वाले धन में से थोड़ा-सा ले लो, उसके बाद तुम भी प्रस्थान कर सकती हो।'

जब दक्ष जगन्माता से प्रार्थना कर रहा था कि आप मेरी पुत्री के रूप में अवतरित होइये, तब जगत् जननी ने प्रकट होकर उसको एक ही बात कही थी कि जिस दिन तुम मेरा अनादर करोगे, मैं तुम्हारे द्वारा दिए गये इस शरीर को

त्याग दूँगी। किन्तु यहाँ दक्ष अपनी इस बात को भूल गया और उसने सती को अपनी पुत्री के रूप में देखा। मद और अहंकारवश वह इस बात को भूल गया कि सती जगत् जननी हैं, जिनकी आराधना उसने की थी।

सती को मालूम है कि लीला समाप्त करने का समय आ गया है। उन्होंने कहा, 'जहाँ शिव नहीं, वहाँ मैं भी नहीं रह सकती। इस शरीर को धिक्कार है, जिसे मैंने तुमसे प्राप्त किया है, क्योंकि तुम शिवद्रोही हो और तुम्हारे बीज से यह शरीर बना है, मैं इस शरीर का त्याग करूँगी।' ऐसा निर्णय लेकर जगत् जननी माँ उस यज्ञ वेदी में बैठकर योगाग्नि से आत्मदाह कर लेती हैं। दक्ष द्वारा दिये गये शरीर को अग्नि में जला देती हैं और शरीर के बंधन से मुक्त होकर पुन: शिवा रूप में शिव के भीतर प्रवेश कर जाती हैं। इस प्रकार विद्या अवतार के रूप में सती का यह प्रसंग यहाँ समाप्त होता है।

अब माता सती के साथ जो शिवगण आए थे, वे हाहाकार करने लगे, 'यह क्या हो गया!' कुछ घबरा गए, कुछ क्रोध में आ गए, कुछ चिल्लाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे और कुछ यज्ञ मण्डप में बैठे लोगों को उठाकर जमीन पर घसीटने लगे, पटकने लगे, पीटने लगे। पूरे यज्ञ मण्डप में हलचल मच गई। लग रहा था कि शिवगण उस पूरे यज्ञ मण्डप को ध्वस्त कर देंगे। लेकिन यज्ञ संचालन हेतु जो मुख्य ब्राह्मण थे भृगु, उन्होंने मंत्रोच्चारण द्वारा अनेक योद्धाओं को जन्म दिया। वे योद्धा इन शिवगणों के साथ भिड़ गए। वह युद्ध इतना प्रबल हुआ कि न कोई पक्ष जीता, न कोई पक्ष हारा। लेकिन अंत में रुद्र गणों को ही वापस जाना पड़ा, क्योंकि वे हताश हो चुके थे कि किस मुँह से अपने स्वामी के पास जाकर यह खबर देंगे कि माता सती ने योगाग्नि से स्वयं को भस्म कर लिया है। पर सूचना तो देनी ही है। इसलिए वे लोग यज्ञ मण्डप छोड़कर तुरन्त कैलाश आ गए और भगवान शिव को सब बातें विस्तार से कह सुनायीं।

सब कुछ सुनकर रुद्र क्रुद्ध हो गए और संसार के संहार के लिए उठ खड़े हुए। अपनी जटायें खोल दीं और एक जटा को उखाड़कर पर्वत के ऊपर दे मारा। जटा के दो टुकड़ों से महाबली वीरभद्र और महाकाली उत्पन्न हुईं। महादेव ने उन्हें आदेश दिया कि तुम दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करो।

वीरभद्र तथा महाकाली भगवान शिव से यह आदेश प्राप्त कर दक्ष यज्ञ को ध्वंस करने के लिए कनखल की ओर चल पड़ते हैं। जब वहाँ पहुँचते हैं, तब भृगुगणों और शिवगणों के बीच भीषण संग्राम होता है। लेकिन इस बार

सभी रुद्रगण शिव की इच्छा पूरी करने के लिए वहाँ उपस्थित हुए थे। इसलिये उन्होंने बिना किसी रोक-टोक के यज्ञ का ऐसा विनाश किया कि पूरा मण्डप गिर गया, सब तहस-नहस हो गया। यज्ञ करने के लिए बैठे ऋषि-मुनियों के बाल और दाढ़ी नोच कर उनके चेहरे से खून बहा दिया। देवताओं को मार-मार कर यज्ञ-मण्डप से बाहर कर दिया। यहाँ तक कि ब्रह्माजी और विष्णुजी को भी हार स्वीकार कर अपने लोक वापस जाना पड़ा। यज्ञ समाप्त हो गया, मण्डप ध्वस्त हो गया।

वीरभद्र ने दक्ष को पकड़ कर अपनी तलवार से उसका गला काट दिया और उसके सिर को अग्निकुण्ड में डाल दिया, जहाँ पर जगत् जननी माँ ने योगाग्नि से अपने शरीर का दाह किया था। तत्पश्चात् वीरभद्र और उसके अनुचर वापस शिवलोक, कैलाश आ जाते हैं।

जब सम्पूर्ण यज्ञ का विध्वंस हो जाता है, तब ब्रह्माजी सोचते हैं कि यज्ञ का अधूरा रह जाना ठीक नहीं हुआ। किसी प्रकार भगवान शिव से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे दक्ष को पुनः जीवन प्रदान करें और यज्ञ को पूर्ण होने दें, क्योंकि यह यज्ञ जगत् के हित के ही लिए ही हो रहा था। वे विष्णुजी तथा अन्य देवताओं के साथ भगवान शिव की शरण में जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि आप दक्ष को जीवन-दान दीजिए। मैं मानता हूँ उससे गलती हुई है, लेकिन आप सर्वेश्वर हैं, आप उसकी मति बदल सकते हैं। आपने अपनी लीला के कारण यज्ञ को नष्ट करवाया है और आप अपने अनुग्रह से ही दक्ष को जीवन-दान देकर पुनः इस यज्ञ-कार्य को सम्पादित करा सकते हैं।

इस प्रकार का अनुरोध कर जब देवता भगवान शिव के क्रोध को शान्त करते हैं तब महादेव देवताओं की इस इच्छा को पूरा करने के लिए तैयार होते हैं। वे देवताओं के साथ दक्ष के यज्ञ मण्डप में आते हैं और वहाँ के विनाश को देखते हैं। ब्रह्माजी अनुरोध करते हैं कि दक्ष को जीवन प्रदान किया जाए। शिवजी कहते हैं, 'दक्ष के शरीर को मेरे सामने लाओ।' लेकिन जब वीरभद्र दक्ष के शरीर को सामने लाकर रखते हैं, तब उसके धड़ को देखकर शिवजी पूछते हैं, 'इसका सिर कहाँ गया?' वीरभद्र कहता है, 'इसका सिर तो जल कर राख हो गया है, क्योंकि जिस मुख से इसने आप की निन्दा की थी, आपको अपशब्द कहे थे, वह पुनः कैसे इस शरीर में जुड़ पाएगा!' भगवान शिव कहते हैं, 'यज्ञ पशु का सिर ले आओ।' तब यज्ञ पशु बकरे का सिर काट कर उसको दक्ष के धड़ में जोड़ा गया।

इस प्रकार नन्दी का दक्ष को प्रयाग में दिया गया वह शाप भी सत्य हो गया कि तुम्हारा सिर, जो आज शिव निन्दा कर रहा है और मैं, मैं, मैं कर रहा है, एक दिन बकरे का सिर हो जाएगा और उससे तुम मैं, मैं, मैं ही करोगे। नंदी के इस शाप के पूर्ण होते ही दक्ष नवजीवन प्राप्त कर खड़ा हो जाता है। भगवान के सामने हाथ जोड़ता है, प्रार्थना करना चाहता है, लेकिन उसके मुख से केवल 'में में' ही निकल रहा है, बोली तो है नहीं। पर बड़े कातर भाव से वह भगवान के सामने नतमस्तक होकर क्षमायाचना कर रहा है। भगवान शिव कृपा कर अपना वरदहस्त दक्ष के सिर पर रख देते हैं। जैसे ही भगवान शिव का वरदहस्त दक्ष के सिर पर पड़ता है, उसको पुनः सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अपने अपराध का बोध होता है और वह भगवान की स्तुति करते हुए उनसे क्षमा याचना करता है। भगवान शिव उसकी श्रद्धा से प्रसन्न होकर उसको क्षमा कर देते हैं।



श्रीपशुपत्यष्टक



पशुपतिं द्युपतिं धरणीपतिं भुजगलोकपतिं च सतीपतिम् ।
प्रणतभक्तजनार्तिहरं परं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 1 ॥

न जनको जननी न च सोदरो न तनयो न च भूरिबलं कुलम् ।
अवति कोऽपि न कालवशं गतं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 2 ॥

मुरजडिण्डिम-वाद्यविलक्षणं मधुरपञ्चम-नादविशारदम् ।
प्रमथभूतगणैरपि सेवितं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 3 ॥

शरणदं सुखदं शरणान्वितं शिव शिवेति शिवेति नतं नृणाम् ।
अभयदं करुणावरुणालयं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 4 ॥

नरशिरोरचितं मणिकुण्डलं भुजगहारमुदं वृषभध्वजम् ।
चितिरजोधवली-कृतविग्रहं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 5 ॥

मखविनाशकरं शशिशेखरं सततमध्वरभाजि फलप्रदम् ।
प्रलयदग्ध-सुरासुरमानवं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 6 ॥

मदमपास्य चिरं हृदि संस्थितं मरण-जन्म-जरा-भय-पीडितम् ।
जगदुदीक्ष्य समीपभयाकुलं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 7 ॥

हरिविरञ्चि-सुराधिपपूजितं यमजनेशधनेश-नमस्कृतम् ।
त्रिनयनं भुवनत्रिंतयाधिपं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम् ॥ 8 ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ हरिः ॐ ॥



चतुर्थ दिवस

17-02-2009

शक्ति पीठ

दक्ष को जीवनदान देकर भगवान शिव सती के जले हुए शरीर को उठाकर अपने कंधों पर डाल लेते हैं और यज्ञ मण्डप से चल पड़ते हैं। कथाकार कहते हैं कि उस समय शिवजी की स्थिति पागलों जैसी थी। जब सती के शव को अपने कंधों पर रखकर उन्मत्त रूप में, बावरे होकर वे पूरे संसार में भ्रमण करने लगते हैं और अपने आप को भूल जाते हैं तब देवताओं को चिन्ता होती है कि भगवान शिव कब इस शव का त्याग करेंगे और पुनः अपने निर्विकार रूप को प्राप्त करेंगे। लेकिन शिवजी की उन्मत्तता समाप्त होती दिखायी नहीं देती। विष्णुजी ने सोचा कि क्यों न इस शव को ही शिव के कंधों से गायब कर दिया जाए, शिव जब शव को नहीं देखेंगे तब पुनः निर्विकार रूप को प्राप्त करेंगे। ऐसा चिन्तन करके नारायण ने शिव प्रदत्त सुदर्शन चक्र से सती के शव को काटना शुरू किया।

कथाकार कहते हैं कि इस धरती पर जहाँ-जहाँ भी देवी के अंग गिरते हैं, वह एक तीर्थ, एक शक्तिपीठ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अगर इस प्रसंग पर विचार किया जाए, तो शिव को, जो स्वयं परमेश्वर हैं और लीला कर रहे हैं, मालूम है कि सती के जन्म का प्रयोजन संसार में विद्या, ज्ञान, सिद्धान्त, दर्शन, विधि और साधना की स्थापना है। वे जो अपने आप को शोकग्रस्त बता रहे हैं, उसे भी उनकी नश्वर लीला ही मानिए। विष्णु भी शिवलीला को जानते हैं, शिव स्वयं विष्णुरूप हैं। दोनों में कोई भेद नहीं। दो शरीर, एक प्राण, एक मन, एक उद्देश्य, एक गति। चाहे तुम शिव की शरण में जाओ या नारायण की शरण में, परमगति प्राप्त

करोगे। दोनों में जो भेद दिखायी देता है वह केवल लीला के लिए है, क्योंकि सृष्टि में दोनों को अपने-अपने कृत्यों के अनुसार तरह-तरह की लीलाएँ करनी पड़ती हैं। विष्णु को परम शिव ने स्थिति कृत्य प्रदान किया था। अत: विष्णु को पालन के लिए तरह-तरह की लीलायें करनी पड़ती हैं। शिव रूपी रुद्र भी तरह-तरह की लीलाएँ करते हैं। दोनों एक-दूसरे को सहयोग देते हैं।

नारायण जानते हैं कि सती का अवतार एक विशेष प्रयोजन से हुआ है और उस प्रयोजन की पूर्ति तब होगी जब वह शिक्षा, विद्या, विधि और साधना, जिसे मनुष्य के उत्थान के लिए शिव ने सती को सुनाया है, और सती ने जिन विविध रूपों में शिव के समक्ष अपने शक्ति तत्त्व को प्रकट किया है, उनकी स्थापना संसार में हो।

पुराणों में कहा गया है कि सतयुग में चिन्तन मात्र से सभी इच्छायें पूर्ण होती थीं। वनस्पति, पेड़-पौधे, सब समय पर उचित आहार, फल और पदार्थ उपजाते थे। सबकुछ उन्हें सहज रूप से प्राप्त होता था। व्यक्ति को किसी प्रकार का उद्यम नहीं करना पड़ता था। आदमी जो कहता, जो सोचता था, वह सत्य होता था, क्योंकि सतयुग में जब प्राणियों ने जन्म लिया था तब उनकी आत्मा मलिन नहीं थी। सतयुग के लोगों का सम्बन्ध हमेशा ईश्वर से, देवताओं से, उच्च आत्माओं से रहता था। इच्छा मात्र से वे पूरे संसार में भ्रमण किया करते थे। लेकिन जब त्रेता युग आया, जब संसार में दु:ख की वृद्धि होने लगी, आततायी बढ़ते गये, तब धीरे-धीरे मन की मलिनता, भावों की मलिनता और कर्मों की मलिनता के कारण सृष्टि में ऊर्जा कम होने लगी और पुरुष को अपनी जीविका के लिए प्रयत्न और प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ने लगी।

जैसे-जैसे मन मलिन होता है, भाव मलिन होता है, वैसे-वैसे ईश्वर से विमुख होता जाता है और जैसे-जैसे मन शुद्ध एवं पवित्र होता है, प्राणी ईश्वर के समीप आता है। साधना और शिक्षा के द्वारा मलिन मन को स्वच्छ करने के लिए संसार में विद्या और विद्यालयों की स्थापना आवश्यक थी। नारायण द्वारा सती के शव को अनेक भागों में काटने का जो प्रसंग आता है, वह एक प्रतीकात्मक कहानी है, क्योंकि परमशिव उन्मत्त होकर, पागल की भाँति शव को लेकर संसार में घूमने वाले नहीं हैं। उन्हीं की इच्छा से शक्ति प्रकट होती हैं और उन्हीं की इच्छा से उनमें समाहित हो जाती हैं। यह

शिव और विष्णु के बीच एक व्यवस्था थी कि जिस शिक्षा का आदान-प्रदान शिव और सती संवाद के रूप में हुआ है, उसको लोकहित के लिए, मनुष्य की साधना और विवेक बुद्धि के लिए इस लोक में स्थापित किया जाए।

विष्णु के सहयोग से शिव ने पूरे संसार में ऐसे शक्ति केन्द्रों की स्थापना की जहाँ मनुष्य अध्यात्म और साधना की शिक्षा प्राप्त कर सकता है और स्वयं को माया के बन्धन से मुक्त कर, आत्म-तत्त्व से पुन: जुड़ सकता है। जैसे, आजकल संसार में विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय होते हैं, उनका प्रयोजन क्या है? जब तुम पढ़ायी करते हो, शिक्षा प्राप्त करते हो, वह तुम्हारे जीवन के उत्थान के लिए उपयोगी होती है। उस शिक्षा के द्वारा तुम नौकरी प्राप्त करते हो, परिवार बसाते हो, धन कमाते हो, अपने बुढ़ापे की व्यवस्था करते हो। शिक्षा के द्वारा तुम विशेष योग्यताएँ और क्षमताएँ अर्जित करते हो, जो तुम्हें समाज में जीने की कला बतलाती हैं। आज सबकी इच्छा धन-सम्पत्ति अर्जित करने और समृद्ध बनने की है। और विद्यालयों का यही प्रयोजन है कि आपको इतनी जानकारी मिल जाए कि आप समाज में जाकर एक व्यवसाय के माध्यम से जीवनयापन कर सकें, धन कमा सकें, इच्छाओं की पूर्ति कर सकें, परिवार बसा सकें।

यह जो व्यवस्था बनायी गयी है, कलियुग की व्यवस्था है, क्योंकि मनुष्य का चित्त, उसका मन अभी भौतिकता की ओर भाग रहा है, लेकिन सतयुग और त्रेता युग में मन भौतिकता की ओर नहीं भागता था। उस समय मनुष्य अपने कर्मों को कर्त्तव्य रूप में करता था। अर्थ पुरुषार्थ करता था, काम पुरुषार्थ करता था, धर्म पुरुषार्थ करता था, मोक्ष पुरुषार्थ करता था। हमारे शास्त्रों में इन चार पुरुषार्थों की शिक्षा दी गयी है।

अर्थ पुरुषार्थ माने भौतिक सम्पन्नता, भौतिक समृद्धि, क्योंकि जब तुम भौतिक रूप से सम्पन्न रहोगे और जीवन में कोई अभाव नहीं रहेगा, तभी तुम दूसरे पुरुषार्थों को सहजता से कर पाओगे। नहीं तो *'भूखे भजन न होई गोपाला ले लो अपनी कण्ठी माला'*। साधना के लिए भी सम्पन्नता और समृद्धि की आवश्यकता है, तभी तुम एकचित्त होकर शान्ति से बैठ पाओगे। अगर धन का अभाव है तो तुम साधना भी नहीं कर पाओगे, क्योंकि हमेशा रोटी, दाल, सब्जी की चिन्ता रहेगी। तुम कितना ही ध्यान करो, ज्यादा से ज्यादा दस घण्टे करोगे, ग्यारहवें घण्टे तो भूख लगनी ही है। तुमको उठकर

आग जलानी होगी, तवा चढ़ा कर रोटी सेंकनी होगी। चौबीस घण्टे भी ध्यान करोगे तो पचीसवें घण्टे तुमको कुछ आहार लेना ही होगा, क्योंकि वह शरीर का धर्म है, इसलिये हमारे शास्त्रों में इन चार पुरुषार्थों को निर्देशित किया गया है।

शास्त्र इन चार पुरुषार्थों की चर्चा जरूर करते हैं, लेकिन कलियुग में हमसे केवल दो पुरुषार्थ होते हैं, अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ। धर्म पुरुषार्थ नहीं होता और न मोक्ष पुरुषार्थ होता है। जितनी लगन के साथ हम अर्थ या काम पुरुषार्थ करते हैं, उतनी लगन और मानसिक तीव्रता के साथ हम धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ नहीं करते। जब सभी पुरुषार्थ सम्यक् रूप से होते हैं तब मनुष्य के जीवन मे शान्ति रहती है। जैसे, गाड़ी के चार चक्के होते हैं, अगर एक चक्के से भी हवा निकल जाए, गाड़ी चलाओगे? नहीं। तुरन्त रोकोगे, टायर बदलोगे और बदलने के बाद ही फिर से गाड़ी चलाओगे।

गाड़ी चलाने के लिए चारों चक्कों का दुरुस्त होना आवश्यक है। एक भी खराब हो जाए, तो तुम तुरन्त गाड़ी चलाना रोक देते हो, पहले टायर बदलते हो। लेकिन अपने जीवन के साथ क्या करते हो! तुम्हारे जीवन में भी चार चक्के हैं–अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष रूपी। तुम धर्म एवं मोक्ष रूपी अपने दो चक्कों को पंक्चर करके और अर्थ और काम रूपी दो चक्कों में और अधिक हवा भर कर गाड़ी चला रहे हो। कभी-कभी इतनी हवा भरा जाती है कि वह टायर भी फट जाता है। अर्थ का भी विस्फोट होता है और वासना का भी। धर्म और मोक्ष रूपी पीछे के दो चक्के तो पंक्चर हैं ही। दो टायर पर तुम अपनी गाड़ी चलाते हो, कितने दिन तक चलेगी? इसीलिए तो सुख चाहते हुए भी कभी किसी को भौतिक सुख भी प्राप्त नहीं हो पाता है। आध्यात्मिक सुख तो मनुष्य की पहुँच से बहुत दूर है। और भौतिक सुख भी जो उसको मिलता है, क्षणिक ही होता है, क्योंकि उसके जीवन में इन पुरुषार्थों में सामंजस्य नहीं है, संतुलन नहीं है।

सतयुग और त्रेता युग में लोग समान रूप से सभी पुरुषार्थ करते हुए अन्त में परम गति प्राप्त करते थे। लेकिन जो जगत् के सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं, उनको तो चारों युगों का आभास होता है। मालूम रहता है कि आगे क्या होने वाला है, क्योंकि वे ही लीला कर रहे हैं। विष्णु के सहयोग से भगवान शिव सती की स्मृति में पूरे देश में शक्तिपीठों की स्थापना करते हैं, जहाँ जाकर व्यक्ति साधना और तपस्या कर सके, उस पराशक्ति,

आदिशक्ति की अर्चना, आराधना कर सके और उनकी कृपा एवं अनुग्रह का पात्र बने।

कथा में कहा गया है कि सुदर्शन चक्र के द्वारा सती के शव को चौंसठ भागों में काटा गया। वे अंग इस धरती पर जहाँ-जहाँ गिरे, वहाँ एक शक्तिपीठ का निर्माण हुआ। कामाख्या में देवी का निम्न प्रदेश गिरा, योनि गिरी। देवघर में देवी का हृदय और मुंगेर में देवी की आँख है। मुंगेर शक्ति स्थल है, नेत्रपीठ कहलाता है। चण्डी स्थान में देवी का वाम नेत्र है। मनुष्य को नेत्र द्वारा क्या प्राप्त होता है? दृष्टि, देखने की क्षमता। समझ, जानकारी, ज्ञान, सब आँखों से ही स्पष्ट होता है। रूप, रंग, दृश्य, सब आँखों से दिखलायी देता है, नाक, कान या अन्य इन्द्रियों से नहीं।

नेत्रतंत्र एक अद्भुत ग्रंथ है। पूर्वकाल में शायद इस तंत्र की शिक्षा का केन्द्र मुंगेर था, क्योंकि यह नेत्रपीठ है। नेत्र तंत्र के दो भाग हैं। प्रथम भाग में बतलाया गया है कि नेत्र दोषों को किस प्रकार दूर किया जाए और दूसरे भाग में बतलाया गया है कि हम अपनी अंतर्दृष्टि, अपने प्रज्ञा चक्षु को किस प्रकार जाग्रत कर सकते हैं, उसकी विधि, उपाय और साधना क्या है। यह तंत्र केवल एक भौतिक विद्या नहीं, बल्कि भौतिक और अध्यात्म विद्याओं का संग्रह है।

हर शक्तिपीठ का एक विशिष्ट ग्रंथ है, जो उस पीठ की साधना-पद्धति को दर्शाता है। आजकल लोग इन्हें तंत्र अभ्यास के ही रूप में मानते हैं, लेकिन इनका अध्ययन करने पर आप जान पायेंगे कि इन तंत्र ग्रंथों में किस प्रकार की शिक्षा छुपी है और उस शिक्षा का क्या प्रयोजन है।

परमशिव महाविष्णु के साथ मिलकर इस धरती पर चौंसठ तंत्रों का विस्तार करते हैं। शक्ति के नाम पर चौंसठ केन्द्र बने, जो शक्तिपीठ के नाम से जाने जाते हैं, और इन पीठों में चौंसठ तंत्रों में से एक-एक तंत्र और शक्ति स्वरूपा एक-एक योगिनी को स्थापित किया गया। जैसे आजकल विद्यालयों में प्रधानाध्यापकों को बैठाते हैं, आश्रमों में आचार्यों को बैठाते हैं कि तुम इसका संचालन करो, वैसे ही इन चौंसठ शक्तिपीठों में योगिनियों को बैठाया गया था। इसके पश्चात् पूरे जगत् में भौतिक विद्या तथा अध्यात्म विद्या की स्थापना हो जाती है। यह कार्य सती के दहन के पश्चात्, सती की स्मृति में शिवजी ने विष्णु के साथ मिलकर किया था।

चौंसठ पीठ और इनमें स्थित देवी के स्वरूप इस प्रकार हैं–

शक्ति पीठ		अंग या आभूषण	शक्ति	भैरव
जम्मू-कश्मीर				
1	कश्मीर	कण्ठ	महामाया	त्रिसन्ध्येश्वर
हिमाचल प्रदेश				
2	ज्वालामुखी	जिह्वा	सिद्धिदा	उन्मत्त
पंजाब				
3	जालन्धर	वाम स्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
हरियाणा				
4	कुरुक्षेत्र	दक्षिण गुल्फ	सावित्री	स्थाणु
राजस्थान				
5	विराट	दक्षिण पादांगुलियाँ	अम्बिका	अमृत
6	पुष्कर	पुरुहुता	---	---
7	मणिवेदिक	कलाइयाँ	गायत्री	शर्वानन्द
उत्तर प्रदेश				
8	वृंदावन	केशपाश	उमा	भूतेश
9	वाराणसी	कर्ण-मणि	विशालाक्षी	कालभैरव
10	प्रयाग	हाथ की अँगुली	ललिता देवा	भव
11	विन्ध्याचल	विन्ध्यवासिनी	---	---
12	मथुरा	देवकी	---	---
13	कान्यकुब्ज	गौरी	---	---
असम				
14	कामगिरि	योनि	कामाख्या	उमानन्द/ उमानाथ
हरियाणा				
15	हस्तिनापुर	वाम जंघा	जयन्ती	क्रमदीश्वर
त्रिपुरा				
16	त्रिपुरा	दक्षिण पाद	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरेश

बिहार				
17	मिथिला	वाम स्कन्ध	उमा/महादेवी	महोदर
18	मगध	दक्षिण जंघा	सर्वानन्दकरी	व्योमकेश
19	मुंगेर	बायीं आँख	चण्डी	कालभैरव
20	गया	मंगला	---	---
गुजरात				
21	प्रभास	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड
22	द्वारिका	रुक्मिणी	---	---
मध्य प्रदेश				
23	भैरवपर्वत	ऊर्ध्व ओष्ठ	अवन्ती	लम्बकर्ण
24	रामगिरि	दक्षिण स्तन	शिवानी	चण्ड
25	उज्जयिनी	कुहनी	मंगलचण्डिका	मांगल्यक-पीलाम्बर
26	शोण	दक्षिण नितम्ब	नर्मदा/शोणाक्षा	भद्रसेन
27	अमरकण्टक	चण्डिका	---	---
28	कालमाधव	वाम नितम्ब	काली	असितांग
29	चित्रकूट	सीता	---	---
झारखण्ड				
30	वैद्यनाथ	हृदय	जयदुर्गा	वैद्यनाथ
पश्चिम बंगाल				
31	अट्टहास	अधरोष्ठ	फुल्लरा देवी	विश्वेश
32	नन्दीपुर	कण्ठहार	नन्दिनी	नन्दिकेश्वर
33	नलहटी	उदरनली	कालिका	योगीश
34	वक्त्रेश्वर	मन	महिषमर्दिनी	वक्त्रनाथ
35	बहुला	वाम बाहु	बहुला	भीरुक
36	त्रिस्रोता	वाम पाद	भ्रामरी	ईश्वर

37	विभाष	बाँया टखना	कपालिनी/ भीमरूपा	सर्वानन्द कपाली
38	युगाद्या	दक्षिण पादांगुष्ठ	भूतधात्री	क्षीरकण्टक
39	कालीपीठ	अन्य पादांगुलियाँ	कालिका	नकुलीश
40	करतोयातट	वाम तल्प	अपर्णा	वामन
उड़ीसा				
41	पुरी	किरीट	विमला/ भुवनेशी	संवर्त
42	उत्कल में विरजाक्षेत्र	नाभि	विमला	जगन्नाथ
महाराष्ट्र				
43	करवीर	त्रिनेत्र	महिषमर्दिनी	क्रोधीश
44	जनस्थान	ठुड्डी	भ्रामरी	विकृताक्ष
आन्ध्र प्रदेश				
45	गोदावरी तट	वाम गण्ड (कपोल)	विश्वेशी/ रुक्मिणी/ विश्वमातृका	दण्डपाणि/ वत्सपाणि
46	श्रीशैल	ग्रीवा	श्री भ्रमराम्बा देवी/महालक्ष्मा	मल्लिकार्जुन/ संवरानन्द/ ईश्वरानन्द
कर्नाटक				
47	कर्नाटक	दोनों कान	जय दुर्गा	अभीरु
48	किष्किंधा पर्वत	तारा	---	---
तमिलनाडु				
49	शुचि	ऊर्ध्व दन्त	नारायणी	संहार/संकूर
50	रत्नावली	दक्षिण स्कन्ध	कुमारी	शिव
51	कन्यकाश्रम	पीठ	शर्वाणी	निमिष

52	कांची	कंकाल	देवगर्भा	रुरु
पाकिस्तान				
53	हिंगुला	ब्रह्मरन्ध्र	भैरवी	भीमलोचन
नेपाल				
54	गण्डकी (नेपाल)	दक्षिण गण्ड (कपोल)	गण्डकी	चक्रपाणि
55	नेपाल	दोनों जानु	महामाया	कपाल
चीन/तिब्बत				
56	मानस	दक्षिण हथेली	दाक्षायणी	अमर
बंगलादेश				
57	सुगन्धा	नासिका	सुनन्दा	त्र्यम्बक
58	चट्टल	दक्षिण बाह	भवानी	चन्द्रशेखर
59	यशोर	बायीं हथेली	यशोरेश्वरी	चंद्र
श्रीलंका				
60	श्री लंका	नूपुर	इंद्राक्षी	राक्षसेश्वर
अज्ञात स्थान				
61	श्रीपर्वत	दक्षिण तल्प	श्रीसुन्दरी	सुन्दरानन्द
62	पंचसागर	अधोदन्त	वाराही	महारुद्र
63	हिमाद्री पर्वत	---	भीमा	---
64	---	---	---	---

भगवान शिव शक्तिपीठों की स्थापना के पश्चात् पुन: कैलाश आते हैं और विष्णुजी बैकुण्ठ चले जाते हैं।

त्रेता युग में रामेश्वर

विष्णुजी के रामावतार में जब रावण सीताजी को हर कर लंका में ले गया, तब सुग्रीव के साथ अठारह पद्म वानर सेना लेकर श्रीराम समुद्र तट पर आए। रामजी की सेना सागर के किनारे पहुँच चुकी थी और सागर को पार करना

था। कैसे करें? तरह-तरह के सुझाव उनको मिलते हैं। कोई कहता है नाव बना लीजिए, नाव से सब पार हो जायेंगे। कोई कहता है, नाव में खतरा है, पता नहीं राक्षस लोग कब आकर बीच समुद्र में ही नाव को डुबा देंगे, और हम लोग लड़ नहीं पायेंगे। इसलिए नाव मत बनाइए। कोई ऐसा उपाय किया जाए जिसमें हमारी सेना को कोई क्षति न पहुँचे। सेतु बनाया जाए।

जब सेतु बनने का कार्य आरम्भ हो रहा था तब रामजी ने कहा, "जिस कार्य के लिए हम लोग प्रस्थान करने वाले हैं और सेतु का निर्माण होने वाला है, उसको पूरा करने के लिए हम अपने आराध्य परमेश्वर शिव की इच्छा से उनकी आराधना कर, उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते हैं।" श्रीराम ने समुद्र किनारे ही रेत से एक पार्थिव शिवलिंग का निर्माण किया और एक स्तुति द्वारा वे उस शिवलिंग की आराधना करते हैं।

नमामि शम्भुं पुरुषं पुराणं नमामि सर्वज्ञमपारभावम् ।
नमामि रुद्रं प्रभुमक्षयं तं नमामि शर्वं शिरसा नमामि ॥

नमामि देवं परमव्ययं तमुमापतिं लोकगुरुं नमामि ।
नमामि दारिद्र्यविदारणं तं नमामि रोगापहरं नमामि ॥

नमामि कल्याणमचिन्त्यरूपं नमामि विश्वोद्भव-बीजरूपम् ।
नमामि विश्वस्थितिकारणं तं नमामि संहारकरं नमामि ॥

नमामि गौरीप्रियमव्ययं तं नमामि नित्यं क्षरमक्षरं तम् ।
नमामि चिद्रूपममेयभावं त्रिलोचनं तं शिरसा नमामि ॥

नमामि कारुण्यकरं भवस्य भयंकरं वाऽपि सदा नमामि ।
नमामि दातारमभीप्सितानां नमामि सोमेशमुमेशमादौ ॥

नमामि वेदत्रयलोचनं तं नमामि मूर्तित्रयवर्जितं तम् ।
नमामि पुण्यं सदसद्व्यतीतं नमामि तं पापहरं नमामि ॥

नमामि विश्वस्य हिते रतं तं नमामि रूपाणि बहूनि धत्ते ।
यो विश्वगोप्ता सदसत्प्रणेता नमामि तं विश्वपतिं नमामि ॥

यज्ञेश्वरं सम्प्रति हव्यकव्यं तथागतिं लोकसदाशिवो यः ।
आराधितो यश्च ददाति सर्वं नमामि दानप्रियमिष्टदेवम् ॥

नमामि सोमेश्वरमस्वतन्त्रमुमापतिं तं विजयं नमामि ।
नमामि विघ्नेश्वर-नन्दिनाथं पुत्रप्रियं तं शिरसा नमामि ।।

नमामि देवं भवदु:खशोकविनाशनं चन्द्रधरं नमामि ।
नमामि गंगाधरमीशमीड्यमुमाधवं देववरं नमामि ।।

नमाम्यजादीश-पुरन्दरादि-सुरासुरैरर्चित-पादपद्मम् ।
नमामि देवीमुख-वादनानामीक्षार्थमक्षित्रितयं य ऐच्छत् ।।

पञ्चामृतैर्गन्ध-सुधूपदीपैर्विचित्र-पुष्पैर्विविधैश्च मन्त्रै: ।
अन्नप्रकारै: सकलोपचारै: सम्पूजितं सोममहं नमामि ।।

श्रीराम इस शिव स्तुति के द्वारा बार-बार शिव की आराधना करते हैं। शिवजी कैलाश में फिर चुप नहीं बैठ सके। जब उन्हीं के आराध्य उनकी उपासना कर रहे हैं, उनका स्मरण कर रहे हैं, तब वे कैसे कैलाश में एकान्त में समाधि में बैठ सकते हैं। वे तुरन्त उस लिंग के भीतर प्रकट हो गये। जैसे ही भगवान श्रीराम ने अपने आराध्य देव का दर्शन उस लिंग में किया, स्वत: उनके मुख से स्तुति निकलती है–

डमरुपाणि शूलपाणि
हे नटराजन नमो नमो।

तुम आदि देव अनादि हो तुम अंतहीन अनन्त हो
श्रीमंत हो, भगवन्त हो हे नाथ करुणाकंत हो

शशिललाट तन विराट
हे त्रिलोचन नमो नमो।

नि:सार इस संसार में शिव नाम केवल सार है
शिव शक्ति है, शिव भक्ति है, शिव मुक्ति का आधार है।

रोम रोम ओम ओम
हे अघनाशन नमो नमो।

श्रीराम अपने आराध्य की वन्दना कर उनसे प्रार्थना करते हैं कि अब लंका में रावण के साथ महायुद्ध होने वाला है, उसमें विजय के लिए आशीर्वाद की

कामना है। यह सुनकर शिवजी रामजी को आशीर्वाद और वरदान देते हुए नहीं, बल्कि हाथ जोड़कर कहते हैं, 'राम, तुम्हारी जय हो!'

राम ने जैसे ही इस विजय सूचक मंगलकामना को सुना, उनको मालूम पड़ गया कि अब हम निश्चित रूप से रावण के ऊपर विजय पायेंगे। फिर श्रीराम भगवान शिव से युद्ध की आज्ञा लेते हैं और उनसे निवेदन करते हैं, 'हे प्रभु! आपने इस पार्थिव लिंग में अपना दर्शन देकर मुझे अनुगृहीत किया है। मेरी एक ही इच्छा शेष है कि जहाँ मैंने आपकी आराधना की है, वहाँ आप स्वयं स्थित हो जाइए।' यह सुनकर भगवान शिव राम द्वारा निर्मित उस शिवलिंग में प्रवेश कर गये। तब से वह शिवलिंग राम के ईश्वर, रामेश्वरम् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसके पश्चात् रामजी समुद्र पार करते हैं, लंका में प्रवेश होता है, युद्ध होता है, सभी राक्षस मृत्यु को प्राप्त करते हैं। अंत में रावण भी मृत्यु को प्राप्त करता है और रामजी पुनः सीता माता को अपने साथ लेकर अयोध्या वापस आते हैं। अयोध्या में रामराज्य प्रारम्भ होता है। एक ऐसा राज्य जहाँ किसी भी घर में, किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का अभाव नहीं था। समाज में दुःख तब होता है जब अभाव रहता है, और सुख-शान्ति तब होती है, जब अभाव नहीं रहता। जो अभाव में रहता है, दुःखी होता है। जो अभाव में नहीं रहता, सुखी होता है, यह एक लोकमान्यता है।

रामजी के समय उनके राज्य में किसी भी घर में, किसी भी व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं था। जो व्यक्ति जो कार्य कर रहा था उसी में संतुष्ट था, प्रफुल्लित था और उसके सभी प्रयोजन एवं कामनाएँ उस कार्य से सिद्ध होती थीं। इसको कहते हैं रामराज्य। एक भिखारी भी अगर संतुष्ट रहे तो उसके जीवन में रामराज्य है। संतोष, सुख, पूर्णता, अभावहीनता, यही रामराज्य का वास्तविक अर्थ है।

त्रेतायुग में भीमाशंकर

रावण की मृत्यु के उपरान्त, जब रामजी का राज्य चल रहा था, तब लंका से जो कुछ गिने-चुने राक्षस इधर-उधर भाग गये थे, उनमें से एक राक्षस का नाम था भीम। भीम कर्कटी राक्षसी का बेटा था। कर्कटी राक्षसी विराध राक्षस से ब्याही गयी थी और ये लोग जंगल में रहते थे। जब रामजी विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम जा रहे थे तब उन्होंने रास्ते में मारीच और सुबाहु को तो मारा

ही, अन्य अनेक दानव भी जो उनके साथ मरे थे, उन्हीं दानवों में एक दानव था विराध। कर्कटी विधवा हो गयी और उसके विधवा होने के पश्चात् किसी समय कुम्भकर्ण उस वन में आखेट के लिए आया, उसने कर्कटी को देखा और उसके साथ कुम्भकर्ण का समागम हो गया।

कुम्भकर्ण के बीज से ही भीम नामक दानव कर्कटी के गर्भ से उत्पन्न होता है। वह भी कुम्भकर्ण की तरह अतुलित बलशाली है। एक दिन वह अपनी माँ से पूछता है, 'मेरे पिता कौन हैं? कहाँ हैं? मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।' कर्कटी कहती है, 'बेटा, तेरे पिता रावण के छोटे भाई कुम्भकर्ण थे। उस महाबली को विष्णु ने राम रूप में मार दिया है।' यह सुनकर भीम को बहुत आक्रोश आया। उसने कहा, 'विष्णु ही हमारे कुल के नाश का कारण बना है। अगर मैं अपने पिता का पुत्र हूँ तो विष्णु को अवश्य परेशान करूँगा। मैं देवताओं को परेशान करूँगा और अपने पिता की मृत्यु का बदला देवताओं और विष्णु से अवश्य लूँगा।'

ऐसा निर्णय लेकर वह तपस्या करने चला गया और ब्रह्माजी की तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हुए और उन्होंने भीम को अतुलित बल प्रदान किया। बल के गर्व में भीम ने पृथ्वी को पूरा जीत लिया और अंत में पहुँचा कामरूप देश, जो वर्तमान असम है। कामरूप देश के राजा सुदक्षिण के साथ भीम युद्ध करता है। भीषण युद्ध होता है और अंत में भीम कामरूप के राजा सुदक्षिण को, जो शिव भक्त थे, बंदी बना कर कारागृह में डाल देता है और अत्याचारी तरीके से शासन करने लगता है। बंदीगृह में महाराज सुदक्षिण शिव के एक पार्थिव लिंग का निर्माण कर वहाँ शिव की आराधना करने लगते हैं। इस समय भगवान शिव भी अपने भक्त की रक्षा करने के लिए उसके निकट गये और गुप्त रूप से वहीं ठहर गये। इस बीच भीम को अपने सेवकों से खबर मिलती है कि राजा सुदक्षिण करागार के भीतर ही उसे मारने के लिए भगवान की आराधना कर रहे हैं।

यह खबर पाकर वह कुपित हो गया और राजा को मारने के उद्देश्य से तलवार हाथ में लेकर बंदीगृह पहुँचा। उसने देखा कि बंदीगृह में महाराज बैठ कर पार्थिव लिंग का पूजन कर रहे हैं। तब क्रोध में आकर उसने पार्थिव लिंग पर तलवार चलायी। लेकिन जैसे ही तलवार का स्पर्श उस पार्थिव लिंग से हुआ, लिंग को तो कुछ नहीं हुआ, तलवार के टुकड़े-टुकड़े हो गये और उस लिंग से साक्षात् शिवशंकर प्रकट हुए और हुँकार मात्र से भीम तथा उसके समस्त अनुयाइयों को भस्म कर दिया।

भीम की मृत्यु के पश्चात् राजा सुदक्षिण भगवान शिव की आराधना करते हैं–

अकारणायाखिल-कारणाय नमो महाकारण-कारणाय ।
नमोऽस्तु कालानल-लोचनाय कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

नमोऽस्त्वहीना-भरणाय नित्यं नमः पशूनां पतये मृडाय ।
वेदान्त-वेद्याय नमो नमस्ते कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

नमोऽस्तु भक्तेर्हित-दानदात्रे सर्वौषधीनां पतये नमोऽस्तु ।
ब्रह्मण्य-देवाय नमो नमस्ते कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

कालाय कालानल-संनिभाय हिरण्यगर्भाय नमो नमस्ते ।
हालाहलादाय सदा नमस्ते कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

विरिञ्चि-नारायण-शक्रमुख्यैरज्ञात-वीर्याय नमो नमस्ते ।
सूक्ष्माऽतिसूक्ष्माय नमोऽघहन्त्रे कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

अनेककोटीन्दुनिभाय तेऽस्तु नमो गिरीणां पतयेऽघहन्त्रे ।
नमोऽस्तु ते भक्त-विपद्धराय कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

सर्वान्तर-स्थाय विशुद्ध-धाम्ने नमोऽस्तु ते दुष्ट-कुलान्तकाय ।
समस्त-तेजोनिधये नमस्ते कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

यज्ञाय यज्ञादिफल-प्रदात्रे यज्ञस्वरूपाय नमो नमस्ते ।
नमो महानन्दमयाय नित्यं कृतागसं मामव विश्वमूर्ते ॥

इस आराधना से संतुष्ट होकर भगवान शिव पूछते हैं, 'तुम क्या चाहते हो?' तब राजा अनुरोध करता है कि महाराज आप अपने स्वरूप के साथ इसी लिंग में निवास कीजिए। भगवान शिव राजा द्वारा निर्मित उस पार्थिव लिंग में प्रवेश कर भीमशंकर के रूप में अवस्थित हो जाते हैं। जब भगवान शिव का तेज उस लिंग में समाहित हो जाता है तब वे कैलाश वापस आकर रुद्र रूप में समाधिस्थ हो जाते हैं और वह समाधि बहुत लम्बे समय तक चलती है। आँखें हमेशा बंद ही रहती हैं, खोलने का समय ही नहीं, शिव अपने ही स्वरूप में मस्त रहते हैं, अपने आराध्य का ध्यान करते जाते हैं। यही शिव की साधना है, आराध्य का ध्यान और आराध्य के नाम का स्मरण। अपने आराध्य का

ध्यान करते समय शिवजी उनमें अपने ही स्वरूप को देखते हैं। उस निराकार, निर्गुण, तेजोमय स्वरूप का ध्यान होता है।

द्वापर में हिमवान

धरती पर तेजी से समय बीतता जा रहा है। त्रेता समाप्त हो गया है और द्वापर शुरू हो रहा है। द्वापर की शुरुआत में हिमालय में हिमवान् नाम के राजा रहा करते थे। उनका साम्राज्य था पूरा हिमालय, हिमाचल क्षेत्र। हिमवान् राजा बहुत मेधावी, यशस्वी और कीर्तिमान थे। पूरे विश्व में इनकी कीर्ति थी, लोग इनका सम्मान करते थे, इनको श्रेष्ठ मानते थे। जब गिरिवर हिमवान् विवाह की अवस्था को प्राप्त करते हैं तब देवता स्वयं दिव्य पितरों के पास आते हैं और कहते हैं कि आपकी ज्येष्ठ पुत्री मेना का विवाह गिरिराज हिमवान् के साथ कर दीजिए।

दिव्य पितर देवताओं की बात मानकर अपनी पुत्री मेना की शादी गिरिराज हिमवान् के साथ कर देते हैं। हिमवान् भी मेना के साथ विधिपूर्वक विवाह कर आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगते हैं। लेकिन इस विवाह के पीछे भी एक रहस्य था, जिसके प्रणेता थे देवतागण और स्वयं विष्णु ।

एक दिन देवतागण विष्णुजी के साथ हिमवान् के पास आते हैं और कहते हैं, 'हिमवानजी, एक समय जगदम्बा सती के रूप में प्रकट हुई थीं और रुद्र पत्नी बनकर रही थीं। सती ने दक्ष की पुत्री के रूप में जन्म लिया था। बाद में उन्होंने दक्ष यज्ञ में आत्मदाह भी कर लिया और अपने निर्विकार स्वरूप को प्राप्त किया। सती ने अपने पिता से अनादर पाकर अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करके अपनी देह त्याग दी और अपने परम धाम को पधार गयी हैं। यदि वही जगदम्बा तुम्हारे घर में, तुम्हारी पुत्री के रूप में प्रकट होती हैं तो यह मान लो कि देवताओं के और विश्व के समस्त कार्य सिद्ध हो जायेंगे। अत: हिमवान्, तुम महादेवी को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करो। उनका अनुग्रह प्राप्त करो और उनसे निवेदन करो कि वे तुम्हारे घर में तुम्हारी पुत्री के रूप में जन्म लें।

हिमवान् को यह विचार बहुत अच्छा लगा। अगर जगत् जननी मेरी आराधना से प्रसन्न होकर स्वयं मेरे घर में पुत्री रूप में अवतरित हों, तो इससे बढ़कर और क्या चाहिए मुझे? जिसके लिए लोग तड़पते हैं, वह मुझे सहज रूप से प्राप्त हो जायेगा। जगदम्बा स्वयं मेरी पुत्री के रूप में आयेंगी, मेरे घर

में खेलेंगी, मेरी गोद में पलेंगी, बड़ी होंगी, मैं उनका विवाह करूँगा। यह कितना सौभाग्य सूचक, आनन्दवर्धक, मंगलकारी अवसर है! हिमवान् और मेना भगवान विष्णु की इस बात को सुन कर बहुत प्रसन्न हुए।

हिमवान् को देवी की आराधना करने के लिए कहकर देवतागण स्वयं देवी की आराधना के लिए चले जाते हैं। किसी पर्वत के शिखर पर बैठ कर देवी का आवाहन करते हैं। आदि शक्ति जगदम्बा अष्टभुजा स्वरूप में उनके सामने प्रकट होती हैं। कहती हैं, 'क्या चाहते हो तुम लोग?' देवतागण कहते हैं, 'मातेश्वरी, एक बार आपने हम लोगों पर अनुग्रह कर दक्ष कन्या के रूप में जन्म लिया था। आपके उस अवतार की लीला सम्पन्न हो चुकी है। लेकिन आपके चले आने से देवताओं का कार्य पूरा नहीं हुआ। हम लोगों की इच्छा है महादेवी कि आप पुनः जन्म लीजिए, पुनः रुद्र की पत्नी बनिए।'

सब जानते हुए भी देवी ने पूछा, 'मेरा जन्म कहाँ चाहते हो?' देवताओं ने कहा, 'अभी हम लोग हिमवान् के घर से आ रहे हैं। आप उसके यहाँ पुत्री रूप में जन्म लें।' देवी ने कहा, 'तथास्तु'। और वहाँ से अदृश्य हो गयीं। यह आश्वासन पाकर देवता अपने-अपने स्थान को लौट आते हैं। इधर हिमवान् तथा मेना आराधना आरम्भ करते हैं। वे बरसों तक शिव सहित शिवा की आराधना करते हैं। उनकी इस आराधना से प्रसन्न होकर देवी उनके सामने प्रकट होती हैं और कहती हैं, 'मैं तुम्हारी आराधना से प्रसन्न हूँ। तुम जिस मनोकामना को लेकर यह अनुष्ठान कर रहे हो, तुम्हारी वह मनोकामना अवश्य पूरी करूँगी।'

हिमवान् कहते हैं, 'महादेवी, हम लोगों ने यह आराधना इस कामना से की है कि आप हमारे घर पुत्री के रूप में अवतरित हों। लेकिन हमें मालूम है कि आपकी माया अत्यन्त बलवती है और जब आप पुत्री रूप में हमारे घर आयेंगी तो हमें स्मरण नहीं रहेगा कि आप साक्षात् महादेवी हैं। हम आपको पुत्री के रूप में ही देखेंगे। अतः पुत्री रूप में लीला करने के पहले महादेवी आप हमको अपने स्वरूप का ज्ञान दीजिए और कुछ ऐसा कीजिए कि आपका वह स्वरूप हमारे हृदय में इस प्रकार छा जाये कि पुत्री रूप में आपको प्राप्त कर, उस रूप में भी आपके तेज को, दिव्य प्रताप को हमेशा देखें।' देवी कहती हैं, 'तथास्तु'। फिर कहती हैं, 'मेरा स्वरूप जानना चाहते हो न?' सुनो–

परं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रणवद्वन्द्वरूपिणी ।
अहमेवास्मि सकलं मदन्यो नास्ति कश्चन ॥
निराकारापि साकारा सर्वतत्त्वस्वरूपिणी ।
अप्रतर्क्यगुणा नित्या कार्यकारणरूपिणी ॥

कदाचिद्दयिताकारा कदाचित्पुरुषाकृतिः ।
कदाचिदुभयाकारा सर्वाकाराहमीश्वरी ॥
विरञ्चिः सृष्टिकर्ताहं जगन्माताहमच्युतः ।
रुद्रः संहारकर्ताहं सर्वविश्वविमोहिनी ॥

कालिकाकमलावाणीमुखाः सर्वा हि शक्तयः ।
मदंशादेव संजातास्तथेमाः सकलाः कलाः ॥
मत्प्रभावाज्जिताः सर्वे युष्माभिर्दितिनन्दनाः ।
तामविज्ञाय मां यूयं वृथा सर्वेशमानिनः ॥

यथा दारुमयीं योषां नर्तयत्यैन्द्रजालिकः ।
तथैव सर्वभूतानि नर्तयाम्यहमीश्वरी ॥
मद्भयाद् वाति पवनः सर्वं दहति हव्यभुक् ।
लोकपालाः प्रकुर्वन्ति स्वस्वकर्माण्यनारतम् ॥

कदाचिद्देववर्गाणां कदाचिद्दितिजन्मनाम् ।
करोमि विजयं सम्यक् स्वतन्त्रा निजलीलया ॥
अविनाशिपरं धाम मायातीतं परात्परम् ।
श्रुतयो वर्णयन्ते यत्तद्रूपं तु ममैव हि ॥

सगुणं निर्गुणं चेति मद्रूपं द्विविधं मतम् ।
मायाशवलितं चैकं द्वितीयं तदनाश्रितम् ॥
एवं विज्ञाय मा देवाः स्वं स्वं गर्वं विहाय च।
भजत प्रणयोपेताः प्रकृतिं मां सनातनीम् ॥

इस प्रकार जगदीश्वरी अपने स्वरूप का वर्णन हिमवान् और मेना को करती हैं। कहती हैं, 'मैं ही परम ज्योति हूँ। मैं ही परम ब्रह्म हूँ।' हिमवान् और मेना को अपने वास्तविक स्वरूप के बारे में बतलाकर वे कहती हैं कि मैं तुम्हारी पुत्री के रूप में अवतरित होकर रुद्र के सभी कार्य सिद्ध करूँगी। इस

प्रकार का आश्वासन देकर महादेवी अदृश्य हो जाती हैं। हिमवान् और मेना भी वापस अपने महल को लौट आते हैं।

द्वापर में पार्वती

समय बीतता है। मेना गर्भधारण करती हैं। उस गर्भ में समय आने पर देवी अपने आप को स्थित करती हैं और पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं। संसार में चारों तरफ सुख, शान्ति और आनन्द की वृद्धि होने लगती है, क्योंकि जब परमेश्वरी ने स्वयं हिमवान् के घर जन्म लिया है तब वहाँ किसी प्रकार का अभाव कैसे रहेगा! हिमवान् और पूरा क्षेत्र सभी ऐश्वर्यों से युक्त हो गया। समस्त प्रकार की विभूतियाँ, समस्त प्रकार के ऐश्वर्य उस क्षेत्र में आ जाते हैं। बड़े ही आनन्दमय वातावरण में पर्वतराज की पुत्री, पार्वती पलती हैं।

थोड़ी बड़ी होने पर पार्वती गुरु के यहाँ विद्या अध्ययन के लिए जाने लगती हैं। जब उनकी शिक्षा सम्पन्न हो जाती है, तब एक दिन देवर्षि नारद हिमवान् के घर पहुँचते हैं। नारदजी को आया देख मेना और हिमवान् उनका स्वागत-सत्कार करते हैं और आसन पर बैठाते हैं। फिर हिमवान् अपनी पुत्री को बुलाते हैं, कहते हैं, 'महामुनि आए हैं, प्रणाम करो।' पार्वती महामुनि नारद को नमस्कार करती हैं, तब नारद उसकी ओर देखकर कहते हैं, 'हिमवान्, इस कन्या को तुम भगवान शिव को, जो कैलाश में समाधि में हैं, सौंप दो।' हिमवान् कहता है, 'इस कन्या का हाथ देखकर इसके गुण-दोष बताइये।' नारद कहते हैं, "मैं हाथ क्या देखूँगा और किसके भविष्य की चर्चा करूँगा? क्या मैं जगत् जननी माँ, जो स्वयं यहाँ तुम्हारे घर में पुत्री रूप में अवतीर्ण हुई हैं, उनका भविष्य बताऊँ? वही तो मेरा भविष्य निश्चित करती हैं, वही पूरे संसार का भविष्य निश्चित करती हैं और तुम कहते हो कि मैं इसका हाथ देखकर इसके बारे में बताऊँ, इसका भविष्य बताऊँ? हिमवान्, मेरा सीधा अनुरोध है, सुझाव है कि तुम अपनी पुत्री को भगवान शिव को सौंप दो, क्योंकि यह साक्षात् जगदम्बा हैं और यह पार्वती भगवान शिव की ही पत्नी होंगी, और किसी की नहीं, इसमें कोई संदेह नहीं।" इतना कह कर नारद जी वहाँ से चले जाते हैं।

द्वापर में शिव की तपस्या

इस बीच शिवजी सोचते हैं, बहुत दिनों से साधना करते-करते, तपस्या करते-करते, समाधि में रहते हुए कैलाश में अकेला रह रहा हूँ, थोड़ा परिवर्तन

होना चाहिए। कहीं चलना चाहिए और एक सुन्दर रमणीय स्थान में जाकर तपस्या करनी चाहिए। इस विचार से वे अपने पार्षदों के साथ गंगावतार तीर्थ में आते हैं। गंगावतार तीर्थ गंगोत्री के पास है और हिमवान् के ही क्षेत्र में पड़ता है। वे हिमवान् के साम्राज्य में आते हैं। जब भगवान शिव के गंगोत्री क्षेत्र में आने का समाचार हिमवान् को मिलता है, तब वह पूरे परिवार और सेवकों के साथ उनके स्वागत हेतु वहाँ उपस्थित होता है।

उसको देखकर भगवान शिव कहते हैं, 'हिमवान्, मैं यहाँ एकान्तवास के लिए आया हूँ। तपस्या करना चाहता हूँ।' हिमवान ने कहा, "प्रभु! सारी सृष्टि तो आपकी है। कैलाश में कौन-सा कोलाहल हो गया है कि आप एकान्तवास के लिए यहाँ आये हैं! यह तो आपकी इच्छा है, आपकी लीला है। आप जहाँ चाहें, वहाँ बैठ सकते हैं। यह हम लोगों का सौभाग्य है कि हमें यह अवसर मिल रहा है कि आप हमारे क्षेत्र में आकर तपस्या करें, समाधि लगायें। मेरी एक ही इच्छा है प्रभो कि मेरी पुत्री इस गंगावतार क्षेत्र में आपकी सेवा में रह जाये, ताकि आपको तपस्या में किसी प्रकार का कष्ट न हो, किसी प्रकार का अभाव न रहे, आप संतुष्ट रहें, आपको किसी प्रकार की चिन्ता न हो। मेरी पुत्री पार्वती हर प्रकार से आपकी सेवा करेगी और हर प्रकार से आपको संतुष्ट करने का प्रयास करेगी।"

शिवजी कहते हैं, 'हिमवान्! विद्वानों ने नारी को मायारूपिणी कहा है। मैं तपस्वी हूँ, योगी हूँ और सदा माया से निर्लिप्त रहने वाला व्यक्ति हूँ। तुम चाहते हो कि एक युवती मेरी सेवा करे! युवती से मेरा क्या प्रयोजन? स्त्री के संग से मन में शीघ्र ही विषय-वासना उत्पन्न होती है, ऐसा विद्वानों और शास्त्रों का मत है। और यह शास्त्रों एवं विद्वानों का मत ही नहीं, बल्कि गृहस्थ का, संसारी मनुष्य का अनुभव भी है। जब स्त्री को देखकर मन चंचल होता है, उस समय वैराग्य नष्ट हो जाता है और मैं तो यहाँ तपस्या करने के लिए, अपने वैराग्य को दृढ़ बनाने के लिए आया हूँ, कमजोर करने के लिए नहीं।

जब भगवान शिव के मुँह से ऐसी बात निकली, तब हिमवान् तो कुछ नहीं कह पाये, लेकिन जगत् जननी पार्वती से नहीं रहा गया, उन्होंने कह दिया, 'आप महात्मन्, तप: शक्ति से ही युक्त होकर तपस्या करते हैं। अगर आप में वह तप: शक्ति न रहे तो तपस्या कैसे होगी? आप तप: शक्ति से सम्पन्न होकर भारी तप कर रहे हैं, किसी शक्ति के कारण ही आपके मन में विचार

आया कि तपस्या करूँ। और सभी कर्मों को करने की जो शक्ति है, उसको प्रकृति ही जानना चाहिए। शम्भु, आप अभी प्रकृति के अधीन हैं। आप प्रकृति के इच्छानुसार गंगावतार क्षेत्र में तपस्या करने के लिए आए हैं। यहाँ आपको कौन लाया? शक्ति ही आपको लायी है। प्रकृति से युक्त होकर सबकी सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। आप कौन हैं? आप भूल रहे हैं कि सूक्ष्म प्रकृति क्या है, क्या प्रकृति के बिना लिंगरूपी महेश्वर हो सकते हैं? नहीं। और आप जो प्राणियों के लिए वन्दनीय हैं, चिन्तनीय हैं, अर्चनीय हैं, आदरणीय हैं, उसका कारण शक्ति तत्त्व ही है।'

भगवान शिव पार्वती की इस बात को सुनकर मुस्कुराते हुए कहते हैं, 'मैं तो तपस्या के द्वारा ही प्रकृति का नाश करता हूँ और तत्त्वत: प्रकृति रहित निराकार शिव के रूप में स्थित होता हूँ। सत्पुरुषों को कभी या कहीं भी प्रकृति का संग्रह नहीं करना चाहिए, लोकाचार से दूर एवं निर्विकार रहना चाहिए।'

पार्वती ने पुन: जवाब दिया, "महात्मन्! मुझे क्षमा करें। आप जो बात कह रहे हैं, क्या वह वाणी, वह शब्द प्रकृति नहीं है? आप बोलने के लिए प्रकृति का सहारा क्यों ले रहे हैं? बैठने के लिए, चलने के लिए, हर कार्य के लिए तो आप प्रकृति का ही सहारा ले रहे हैं और अगर आप कहते हैं कि मैं प्रकृति से उन्मुक्त हूँ, तो फिर आप प्रकृति का उपयोग क्यों कर रहे हैं? उससे परे क्यों नहीं हो गये? यह सब कुछ तो सदा प्रकृति से ही बंधा है, इसलिए अगर आप प्रकृति से परे हैं तो आपको न बोलने की आवश्यकता है और न कुछ करने की। लेकिन अगर आप स्वीकार करते हैं कि मैं प्रकृति द्वारा ही प्रेरित होकर बोल रहा हूँ और कर रहा हूँ, तो फिर प्रकृति आप से दूर नहीं है, और यह सब प्रकृति का ही कार्य है। इस समय अगर आप प्रकृति से परे होते तो फिर हिमालय पर्वत में क्यों आते तपस्या करने? जो कुछ प्राणियों की इन्द्रियों का विषय है, वह प्राकृत है। और ज्ञानी पुरुष बुद्धि से जब विचार करते हैं, तब प्राकृत हैं, क्योंकि बुद्धि प्रकृति की देन होती है। मैं प्रकृति हूँ, आप पुरुष हैं। मेरे ही अनुग्रह से आप सगुण बनते हैं और मेरे ही अनुग्रह से आप निर्गुण बनते हैं।"

पार्वती स्पष्ट और तीखी बात भगवान शिव को कह रही हैं कि मेरे अनुग्रह से ही आप सगुण और साकार माने गये हैं। मेरे बिना आप निरीह हैं, मेरे बिना आपका अस्तित्व ही नहीं है। आप कुछ कर भी नहीं सकते, और जितेन्द्रिय

होने के बावजूद भी प्रकृति के अधीन होकर समस्त लीलाएँ करते हैं, फिर आप निर्विकार कैसे हुए और मुझसे लिप्त कैसे नहीं? यहाँ उन्होंने चुनौती दी है, 'अगर आप प्रकृति से परे हैं, वीतराग और निर्विकार हैं, तो फिर सोचते क्यों हैं, डरते क्यों हैं कि स्त्री के समीप रहने से मन चंचल हो जायेगा? अगर आप प्रकृति से परे हैं तो फिर आपको डरना नहीं चाहिए, निर्विकार रहना चाहिए। आपको यह बोलना भी नहीं चाहिए कि मैं स्त्रियों से दूर रहता हूँ, उनका संग वैराग्य में बाधक है। उसे ही बोलना चाहिए जो प्रकृति के अधीन रहता है। इसलिए आपने जो बातें कही हैं, वे उचित, न्यायसंगत, धर्मसंगत नहीं लगती हैं।'

महादेव तो ये बातें कह कर पार्वती की परीक्षा ही ले रहे थे, उन्होंने मुस्कुरा कर कहा, 'ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा। तुम यहाँ रह कर प्रतिदिन मेरी सेवा करो।'

महादेव को मालूम है कि यह स्वयं साक्षात् जगदम्बा हैं, जो पार्वती के रूप में अवतरित हुई हैं और पुनः मुझे इस जीवन में प्राप्त होंगी। लेकिन वे सोचते हैं कि अभी समय है, अभी तो महादेवी को तपस्या करनी है। जब तक उनके द्वारा तपस्या नहीं होगी, मैं कैसे प्राप्त होऊँगा? इस प्रकार विचार करके महादेव ध्यानस्थ हो जाते हैं और पार्वती अपनी परिचारिकाओं के साथ भगवान शिव की सेवा में संलग्न हो जाती हैं।

द्वापर में कामदहन

भगवान शिव इधर गंगावतरण क्षेत्र में साधना और तपस्या के लिए आ गये, उधर तारकासुर नामक एक असुर ने स्वर्ग लोक पर हमला कर दिया और समस्त देवताओं को परास्त कर उन्हें स्वर्ग से बाहर निकाल दिया। तारकासुर बहुत पराक्रमी असुर था और तीनों लोकों का स्वामी बनना चाहता था। देवता स्वर्ग से निष्कासित हो अपने परम पिता ब्रह्माजी के पास पहुँचे और कहा, 'भगवन्! तारकासुर के आतंक से हम लोग परेशान हो गये हैं, उसने स्वर्ग को हथिया लिया है, सब देवताओं को बाहर कर दिया है और पूरे संसार को दुःख एवं कष्ट पहुँचा रहा है, आतंक बढ़ा रहा है।' तब ब्रह्माजी कहते हैं, 'देवताओं, शिव पुत्र ही तारकासुर का वध कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। तारकासुर को वरदान मिला है कि अगर उसकी मृत्यु होगी तो शिव पुत्र से ही होगी। उसने यह वरदान जान-बूझकर माँगा है, क्योंकि उसको मालूम है कि

सती देह त्याग चुकी हैं, शिवजी अभी एकदम निर्विकार अवस्था में समाधि में हैं और विवाह से उनका मन हट गया है। जब तक शिवजी समाधि में रहेंगे, शिव पुत्र होगा नहीं, और जब तक शिव पुत्र नहीं होगा, मैं नहीं मरूँगा। इसीलिए तारकासुर अपने आपको अजेय मानने लगा है।'

ब्रह्माजी देवताओं को कहते हैं कि तारकासुर को मैंने ही यह वरदान दिया है कि शिव पुत्र ही उसका संहार कर सकता है। अत: अब तुम लोगों को प्रयास करना चाहिए कि शिवजी पुन: वैवाहिक जीवन में प्रवेश करें। अभी समय उचित है, क्योंकि जगत् जननी ने तुम लोगों के इच्छानुसार हिमवान् के यहाँ पार्वती रूप में जन्म लिया है और अभी गंगोत्री क्षेत्र में वे भगवान शिव की सेवा में संलग्न हैं। अगर तुम लोग किसी प्रकार, किसी प्रयास से भगवान शिव के मन को पार्वती की ओर आकृष्ट कर दोगे तो तुम लोगों का काम हो जायेगा। अत: प्रयास करो कि भगवान शिव पार्वती को चाहने लगें, पार्वती के प्रति उनके भीतर अनुराग की, प्रेम की उत्पत्ति हो।

जब ब्रह्माजी ने देवताओं को यह बात कही तब देवताओं ने कामदेव का स्मरण किया और कामदेव वहाँ उपस्थित हो गये। देवता कामदेव से कहते हैं, 'ऐसा प्रयास करो कि शिवजी की रुचि पार्वती की ओर हो जाये, शिवजी पार्वती में अनुरक्त हो जाएँ।' कामदेव ने कहा, 'अगर आप लोगों का यह आदेश है, तो मैं निश्चित रूप से इस कार्य को करूँगा।' वे गंगावतरण क्षेत्र में आ गये, जहाँ शिवजी तपस्या कर रहे थे और पार्वतीजी उनकी सेवा कर रही थीं। वहाँ कामदेव ने अपने सभी अनुयायियों के साथ एक ऐसा सुन्दर वातावरण तैयार किया, जो सभी का मन मोह लेता था। चारों तरफ फूल निकल आये, हवा में पुष्पों की सुगन्ध भर गयी, शीतल मंद वायु बहने लगी, वसंत ऋतु का प्रभाव गंगावतरण क्षेत्र में दिखने लगा। सब अति सुन्दर दिखलायी देने लगे, प्रकृति सुन्दर हो गयी, पर्वत सुन्दर हो गये, प्राणी सुन्दर हो गये, सौन्दर्य का विस्तार पूरी सृष्टि में हो गया, और इस समय कामदेव ने शिव पर कामास्त्र का प्रयोग किया।

पहला बाण चला, भगवान को कुछ नहीं हुआ, क्योंकि पहला बाण कामदेव ने शरीर की ओर मारा था और भगवान तो इन्द्रियों को जीते हुए बैठे हैं। उसने दूसरा बाण चला कर भगवान के मन को प्रभावित करना चाहा, लेकिन शंभु ने तो मनोजय की हुई है, वे उस बाण से भी विचलित नहीं हुए। जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वह किसी प्रकार की मानसिक

चंचलता से परेशान नहीं होता, उद्विग्न नहीं होता, बल्कि मानसिक चंचलता नाम की चीज उसके जीवन में रहती ही नहीं। फिर कामदेव ने तीसरा बाण चलाया, जिसने प्राणों को प्रभावित किया। जब प्राण चंचल हो उठे, तब रुद्र की समाधि भंग हुई। उन्होंने सोचा, 'यह क्या? मन चंचल नहीं हुआ, इन्द्रियाँ चंचल नहीं हुईं। मेरे प्राण चंचल कैसे हो उठे? क्यों चंचल हुए ये प्राण?' जब उन्होंने अपनी आँखें खोलकर देखा, तो सामने कामदेव पर उनकी दृष्टि पड़ी। कामदेव को देखते ही उन्हें इतना क्रोध आया कि क्षणभर के लिए उनकी दोनों आँखें बंद हो गईं और तीसरी आँख खुल गई।

भगवान शिव के तीन नेत्र हैं। सामान्य रूप से भगवान शिव दो आँखों से काम करते हैं और तीसरी आँख हमेशा बंद रहती है। प्रभु का जो साकार स्वरूप है, जिसके कारण द्वैत का अनुभव होता है, 'मैं' और 'तुम' का भाव रहता है, उपास्य और उपासक का भाव आता है, दृश्य और द्रष्टा का भाव आता है, वह द्वैत दृष्टि हम लोगों की दो आँखें हैं। यह संसार हमारी द्वैत दृष्टि है। लेकिन जब द्वैत की ये दोनों आँखें बंद हो जाती हैं, तब तीसरी आँख, अद्वैत की आँख खुलती है। जब अद्वैत की आँख खुलती है, तब द्वैत भस्म हो जाता है। तीसरा नेत्र खुल जाए, तो संसार के अस्तित्व का क्या प्रयोजन? क्योंकि संसार ही तो द्वैत का बोध कराता है। और संहार के लिए 'मैं' और 'तुम' की भावना का नाश होना आवश्यक है।

कामदेव को देखते ही प्रभु को मालूम पड़ गया कि यह देवताओं की करतूत है, और कामदेव को इन्होंने अपना मुखौटा बनाया है। लेकिन उस समय प्राणों की चंचलता के कारण प्रभु इतने क्रोध में थे कि जब उनका तीसरा नेत्र खुला, तब उस नेत्र से निकली अग्नि द्वारा कामदेव तत्काल भस्म हो गये। अद्वैत दृष्टि होने पर द्वैत नहीं रहता। सब लय हो जाता है, सब समाप्त हो जाता है।

भगवान शिव के तीसरे नेत्र से बड़ी-बड़ी ज्वालाएँ निकल रही हैं, संसार में हाहाकार मचने लगा है। देवता, सिद्ध और ऋषिगण भयभीत हो गये। उन्होंने सोचा, शंभु तो अब संसार का संहार ही कर बैठेंगे। सब आर्त्त भाव से प्रार्थना करने लगे–क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए। इधर पार्वती ने भी, जो भगवान के सामने खड़ी थीं, देखा कि एक बार तो भगवान ने उसको बहुत ही स्नेहपूर्ण, प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा, लेकिन दूसरे ही क्षण दोनों आँखें बंद हो गईं और तीसरी आँख खुल गयी तथा कामदेव जलकर भस्म हो गया।

पार्वती के रूप में जगत् जननी भी घबरा गईं कि यह क्या अनर्थ हो गया। प्रभु को इतना रोष क्यों?

इधर रति रो रही है कि मेरे पति का क्या होगा। देवताओं ने प्रार्थना की, ब्रह्मा और विष्णु ने प्रार्थना की, 'रुद्र देव शान्त हो जाइये, क्रोध मत कीजिए। जो हुआ, विधाता के विधान के अनुसार ही हुआ है। आपकी इच्छा के अनुसार ही हुआ है, अब आप अपने क्रोध को शान्त कर लीजिए।' रति भी भगवान से प्रार्थना करती है, 'प्रभु, कामदेव का तो कोई दोष नहीं था। वह तो देवताओं की आज्ञा का पालन कर रहा था। देवताओं ने उसको आपको जगाने का, आपके भीतर प्राकृत वासना को जन्म देने का आदेश दिया था। वह इन्द्र का अनुचर है, उसके आदेश का ही पालन कर रहा था। आप उसे क्षमा कर दीजिए, उसे जीवनदान दीजिए।' शिव शंभु कहते हैं, 'कामदेव अब अनंग रूप में रहेगा, उसका शरीर नहीं होगा। अनंग रूप में वह हर प्राणी को घायल करता रहेगा। वह सर्वव्यापी होगा, कोई प्राणी कामदेव के प्रभाव से मुक्त नहीं होगा, लेकिन कोई उसे देख नहीं पाएगा। तुम प्रार्थना कर रही हो, इसलिए मैं तुमको वचन देता हूँ कि भविष्य में कामदेव कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेगा। कृष्ण स्वयं नारायण के अवतार रहेंगे, और उसके पुत्र के रूप में जब कामदेव का जन्म होगा, तब उसे शरीर की प्राप्ति होगी, और तुम पुनः उसे प्राप्त करोगी।'

एक महादेव, शिव कामदेव को जलाते हैं तो शिव के ही अभिन्न स्वरूप, दूसरे महादेव, महाविष्णु उस कामदेव को शरीर देते हैं। यह प्रभु की कितनी सुन्दर लीला है।

शिवजी आगे कहते हैं, 'जब प्रद्युम्न का जन्म होगा, तब शम्बरासुर उस बालक को सागर में फेंक देगा, लेकिन वह बालक बच जाएगा और बड़ा होकर शम्बरासुर का वध करेगा। शम्बरासुर के राज्य में ही उसका पालन-पोषण होगा। अतः रति तुम शम्बरासुर के राज्य में जाओ और वहीं रहकर प्रद्युम्न की प्रतीक्षा करो। तुम्हारा पति तुम्हें शम्बरासुर के राज्य में ही प्राप्त होगा।' ऐसा कह कर भगवान शिव तो अपने गणों सहित उठ कर पुनः कैलाश की ओर प्रस्थान कर गये। किन्तु पार्वती, जो भयभीत होकर चुपचाप शिव की सेवा में एक किनारे खड़ी थी, खड़ी ही रही। शिवजी ने उसकी ओर देखा तक नहीं। भगवान शिव के प्रस्थान के बाद पार्वती विरह से अत्यन्त व्याकुल होकर, अपनी सहेलियों के साथ चिन्ता करते हुए वापस अपने घर आ गयीं कि इस

अपराध के लिए हम लोगों को कभी क्षमा मिलेगी या नहीं। भगवान शिव नाराज होकर चले गए हैं, वे फिर प्रसन्न होंगे कि नहीं? इस प्रकार चिन्तन करते-करते पार्वती के मन में कहीं सुख-शान्ति नहीं। ये विचार हमेशा आते हैं कि प्रभु नाराज हो गये, छोड़ कर चले गये और मैं ही उनकी नाराजगी का कारण बनी हूँ। वे मेरी तरफ फिर कभी देखेंगे या नहीं?

इस बीच हिमवान के यहाँ नारद जी का आगमन होता है। वे पार्वती को देखकर पूछते हैं, 'तुम चिन्तातुर क्यों हो?' पार्वती कहती हैं, 'महादेव नाराज हो गये हैं। गंगोत्री क्षेत्र में इतना भीषण काण्ड हुआ है। देवताओं के कहने पर महादेव की समाधि भंग की गयी। महादेव अत्यंत क्रुद्ध हो गये और उन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया। वे नाराज होकर कैलाश चले गये हैं। मुझे पुन: अपने इष्ट का, आराध्य का दर्शन होगा या नहीं?' तब नारद जी कहते हैं, 'अवश्य होगा। तुम दीर्घकाल तक महादेव की आराधना करो। उस आराधना से जब तुम्हारा संस्कार हो जाएगा, तब रुद्र देव तुम्हारे साथ विवाह के लिये स्वत: तुम्हारे पास आयेंगे, और तुमको अपनी सहधर्मिणी बनायेंगे। इस बात को याद रखना कि शिव तुम्हारा परित्याग कभी नहीं कर सकते हैं। तुम उन्हीं की अर्धांगिनी हो। तुम ही आदिशक्ति हो। लेकिन अभी तुम इस देह में पार्वती के रूप में नरलीला कर रही हो, इसलिए तुमको कभी-कभी अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, किन्तु सामान्य रूप से नहीं हो पाता है। तुमने रक्त, मांस, मज्जा से बने शरीर को प्राप्त किया है। इस शरीर और मन को शुद्ध करने के लिए आराधना करो। भगवान आशुतोष को प्रसन्न करो। वे तुम्हें अपनी सहधर्मिणी अवश्य बनायेंगे।' ऐसा कहकर नारद जी ने माता पार्वती को पंचाक्षर मंत्र, 'नम: शिवाय' का उपदेश दिया, साधना और दीक्षा दी।

पार्वती ने महादेव को तपस्या से ही साध्य माना। माता-पिता को प्रणाम किया और अपनी दो सखियों के साथ तपस्या करने के लिए एक पर्वत पर चली गयीं। वे शिव जी को प्रसन्न करने के लिए अनवरत तपस्या करने लगीं। हिमालय के जिस क्षेत्र में वे तपस्या के लिए गयीं थीं, उस क्षेत्र का नाम था श्रृंगितीर्थ। श्रृंगितीर्थ के जिस पर्वत पर उन्होंने तपस्या की, आज वह स्थान 'गौरी शिखर' के नाम से जाना जाता है। गौरी शिखर में ही माता पार्वती शिव के पार्थिव लिंग का निर्माण कर रोज बिल्वपत्रों से शिव की अर्चना करती थीं। शिव सहस्रार्चन के समय सहस्र बिल्व पत्रों को वे शिव पर चढ़ाती हैं।

त्रिदलं त्रिगुणाकारं त्रिनेत्रं च त्रियायुधम् ।
त्रिजन्म पाप संहारं एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥1॥

त्रिशाखेरबिल्वपत्रैश्च अच्छिद्रे: कोमलैस्तथा ।
शिवपूजां करिष्यामि एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥2॥

अखण्ड बिल्वपत्रेण पूजितं नन्दिकेश्वरम् ।
शुद्ध्यते सर्वपापेभ्यो एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥3॥

शालिग्राम शिलामेकां विप्राणां जातु अर्पयेत् ।
सोमयज्ञ महादानं एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥4॥

दन्ति कोटि सहस्राणि अश्वमेध शतानिच ।
कोटि कन्या महादानं एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥5॥

लक्ष्म्याश्चस्तनउत्पन्नं महादेव सदाप्रियम् ।
बिल्ववृक्षं प्रयच्छामि एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥6॥

दर्शनं बिल्ववृक्षस्य स्पर्शनं पाप नाशनम् ।
अघोर पाप संहारं एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥7॥

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णु रूपिणे ।
अग्रत: शिवरूपाय एक बिल्वं शिवार्पणम् ॥8॥

वहाँ माता पार्वती ने शिव को प्राप्त करने के लिए पंचाग्नि साधना जैसी बहुत कठोर साधनायें कीं। पहले अन्न लिया करती थीं, अन्त में वह भी छोड़ दिया और पत्ते खाकर रहती थीं। फिर धीरे-धीरे उनका भी त्याग कर दिया और वायु पर जीवित रहती थीं। और जब धीरे-धीरे उनकी तपस्या प्रबल होने लगी, तब उनके शरीर का तेज पूरे ब्रह्माण्ड को व्याप्त करने लगा। उनके तेज से संतप्त होकर सभी देवता और प्राणी विष्णु के पास जाते हैं और कहते हैं, 'विष्णुजी! तपस्या में लगी हुई पार्वती के तेज से पूरा विश्व संतप्त हो रहा है। हम सब आपकी शरण में आए हैं। अब आप ही हमें बचाइये।'

विष्णु जी कहते हैं, 'पार्वती की तपस्या का कारण तो सर्वविदित है ही। हम सब जानते हैं कि पार्वती क्यों तपस्या कर रही हैं। हम लोगों को भगवान

शिव के पास चलना चाहिए। वे ही इसका समाधान करेंगे। वही हम लोगों के जीवन के संताप, क्लेश और दु:ख को दूर करेंगे।'

इस प्रकार देवता भगवान शिव के पास जाते हैं और कहते हैं, 'आपको प्राप्त करने के लिए पार्वती घोर तपस्या कर रही हैं। आप उन पर कृपा कीजिए।' शिवजी कहते हैं, 'मैं जानता हूँ कि पार्वती घोर तपस्या में रत है और समय आ भी रहा है कि सप्तर्षि उसके पास जायें और उसकी परीक्षा लें। देवताओं, तुम लोग सब वापस चले जाओ। मुझे क्या करना है, मुझे मालूम है, और मैं उसे पूरा करूँगा।' देवताओं के जाने के बाद भगवान शिव सप्तर्षियों का स्मरण करते हैं। वे भगवान शिव के सामने उपस्थित हो जाते हैं। भगवान शिव उनको आदेश देते हैं, 'पार्वती श्रृंगितीर्थ में गौरी शिखर पर तपस्या कर रही हैं। आप लोग वहाँ जाइए और पार्वती की तपस्या एवं उसके संकल्प की दृढ़ता को देखिए कि वह कितनी अडिग है। जब उसका संकल्प अडिग हो जाए और मुझे प्राप्त करने की संपूर्ण कामना के अतिरिक्त उसके जीवन में कोई दूसरी कामना शेष न रहे, तब मुझे खबर करना।'

सप्तर्षि गौरीशिखर पहुँचते हैं, जहाँ माता पार्वती की तपस्या हो रही थी। वहाँ वे क्या अद्भुत दृश्य देखते हैं–जगत् जननी माँ, आदिशक्ति स्वयं एक पहाड़ पर बैठ कर पार्थिव शिवलिंग पर बिल्वपत्र चढ़ाते हुए शिव आराधना में पूर्णरूपेण तल्लीन हैं। सप्तर्षि पार्वती की आराधना पूर्ण होने तक प्रतीक्षा करते हैं। जब पार्वती अपनी अर्चना-आराधना पूरी कर लेती हैं, तब वे सप्तर्षियों को प्रणाम करती हैं, बैठाती हैं। सप्तर्षि उनसे पूछते हैं, 'देवी, इतनी कठोर साधना किसलिए?' पार्वती कहती हैं, 'यह कठोर साधना नहीं, अपने प्रिय शिव को प्राप्त करने के लिए एक अनुष्ठान है। इसमें मुझे कुछ कठोर नहीं लग रहा है। यह तो प्रेम की आराधना है, प्रेम की अभिव्यक्ति है। इसमें कठोरता कहाँ?'

इन शब्दों से सप्तर्षियों को यह ज्ञात हो गया कि देवी जगदम्बा का पूर्ण अनुराग शिव में है। अगर देवी कहतीं कि हाँ, यह तपस्या कठोर है, तब देवी को आभास होता कि मैं अलग हूँ, शिव को प्राप्त करने के लिए प्रयास कर रही हूँ। कठोरता का अनुभव होता। लेकिन देवी ने तो सीधा कह दिया, 'यह प्रेम की आराधना है। यह अनुराग है। इसमें कौन-सी कठोरता? शिव को प्राप्त करने के लिए जो भी किया जाता है, उसमें मनुष्य का अनुराग रहता है। यह अनुराग की, प्रेम की अभिव्यक्ति है।'

कर्म या पुरुषार्थ तो कठोर तब लगता है जब मन में यह भाव रहता है कि मैं कर रहा हूँ और मुझे ही यह प्राप्ति होगी। मन में एक इच्छा रखकर कर्म या अनुष्ठान का प्रयास होता है और वह इच्छा मनुष्य के स्वार्थ से जुड़ी रहती है। लेकिन पार्वती का कौन-सा स्वार्थ? वह तो मात्र इस कामना के साथ सदाशिव की आराधना कर रही है कि उनकी कृपा मुझ पर हो जाए, मैं उनका प्राप्त हो जाऊँ। इसके अतिरिक्ति पार्वती के मन में और कोई कामना तो थी नहीं। इसलिए उनका यह कहना स्वाभाविक है कि मैं जो कर रही हूँ वह शिव के प्रति मेरी भक्ति, मेरी प्रीति, मेरे अनुराग की ही अभिव्यक्ति है। मैं अपने प्रभु को प्राप्त करना चाहती हूँ। यह कोई तपस्या थोड़े ही है?

सप्तर्षि देवी के इन भावों से संतुष्ट हो जाते हैं और उसे मनोकामना पूर्ण होने का आशीर्वाद देकर कैलाश आते हैं। भगवान को बतलाते हैं कि आपको प्राप्त करने के लिए पार्वती की तपस्या वास्तव में अद्भुत है। भगवान भी सप्तर्षियों की वाणी से प्रसन्न होकर स्वयं एक तपस्वी का वेष धारण कर पार्वती के पास आते हैं और पूछते हैं, 'तुम सर्वांग सुन्दरी हो। इस वन में, जहाँ हिंसक पशु रहते हैं, जहाँ कोई सुख-सुविधा नहीं है, इस कोमल शरीर से तुम यह कठोर तपस्या क्यों कर रही हो?' पार्वती कहती हैं, 'मैं अपने आराध्य को प्राप्त करने के लिए यह तपस्या कर रही हूँ।'

तपस्वी वेष में भगवान शिव पूछते हैं, 'तुम्हारे आराध्य कौन हैं? तुम किसको पाना चाहती हो?' माता पार्वती कहती हैं, 'मैं सर्वेश्वर महादेव को पाना चाहती हूँ।' महादेव हँस पड़े। कहते हैं, 'वह महादेव, जिसका अपना कोई स्थान नहीं है, जिसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है, जो आभूषणों के स्थान पर सर्पों को अपने शरीर पर धारण करता है, जिसने रेशमी वस्त्र के स्थान पर बाघम्बर से अपने शरीर को ढँका है, जिसके माता-पिता नहीं हैं, जिसका कोई गोत्र नहीं है, जिसके आगे-पीछे कोई नहीं है। तुम ऐसे शिव को प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रही हो! यह तुम्हारा पागलपन है।'

पार्वती उस तपस्वी की इस बात सुनकर बहुत क्रुद्ध हो गयीं और कहा, 'खबरदार! मेरे इष्ट के बारे में ऐसे शब्दों का प्रयोग मत करो। तुम जानते नहीं वह परात्पर शिव कौन हैं। तुम तो ठहरे संसार के प्राणी, इधर-उधर भटकते हो और देव अनुग्रह के लिए तपस्या करते हो। किन्तु तुम्हारे भीतर श्रद्धा नहीं है, शंका है, इसलिए तपस्वी होकर भी तुम्हारी तपस्या आज तक पूर्ण नहीं हुई है। अगर तुमने मेरे आराध्य के बारे में अपशब्द कहे, तो मैं यहाँ

से चली जाऊँगी।’ लेकिन तपस्वी वेष में शिव मानने वाले कब थे! उन्होंने कहा, ‘बेटी, तुम अपना समय गँवा रही हो, क्योंकि जिसे तुम खुश करना चाहती हो, वह तो समाधि में ऐसा बैठा है कि अगर इस बार दस कामदेव भी आकर अपने बाण चलायें तो वह हिलने वाला नहीं है। वह सम्भल गया है। पूर्ण निर्विकार होकर बैठा हुआ है। इसलिए उसको छोड़ो। संसार में बहुत से अच्छे-अच्छे सम्राट् हैं, राजकुमार हैं, जो तुम्हें हर प्रकार का सुख और वैभव दे सकते हैं। उनके साथ शादी रचाओ, पागल शिव को भूल जाओ।’ जब शिवजी ने ऐसी बात कही तब माता पार्वती को बहुत क्रोध आया, लेकिन उन्होंने अपने आप को सम्भाल लिया और सोचा, ‘अगर मैं क्रोध करती हूँ, तो मेरी तपस्या भंग हो जाएगी।’

तपस्या का नियम है, क्रोध नहीं करना। प्रत्येक अनुष्ठान के कुछ नियम होते हैं। ये नियम जितने शारीरिक होते हैं, उतने ही मानसिक भी। सामान्य रूप से लोग अपने व्रत-अनुष्ठान में शारीरिक नियमों का ही पालन करते हैं, मानसिक और आध्यात्मिक नियमों का नहीं। यह खाना चाहिए, यह नहीं। यह पीना चाहिए, यह नहीं। यह वर्जित है, इसका निषेध है, यह मान्य है, यह स्वीकार्य है। ऐसे बहुत से नियम लोग बाहर से आरोपित कर देते हैं, जो मुख्य रूप से बाह्य व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन अनुष्ठान का नियम होता है कि जितनी व्यवस्था तुम अपने शरीर के लिए करते हो, उतनी ही व्यवस्था अपने मन के लिए भी करो, तब ही तुम्हारा अनुष्ठान सफल होगा।

शास्त्रों में कहा गया है कि जब तुम किसी संकल्प को लेकर अनुष्ठान करते हो, उस समय मन में किसी प्रकार का क्रोध, भय, चिन्ता या निराशा नहीं आनी चाहिए। मन उत्पाती न रहे, सौम्य, शान्त एवं सभ्य रहे, क्योंकि अनुष्ठानों के फल को तुम शरीर के द्वारा नहीं, बल्कि अपने मन, प्राण और आत्मा द्वारा ग्रहण कर रहे हो। पर तुम अपनी मानसिक अवस्था को अनदेखा कर, शरीर को भी क्या सम्भाल पाते हो? व्रत-उपवास तो लोगों के लिए अधिक खाने का एक अवसर होता है। कहते हैं कि मैंने उपवास किया, लेकिन पता लगाया जाए कि कितना खाए, तो मालूम पड़ता है उस दिन उन्होंने यह सोचकर सबसे अधिक खाया है कि भूखे कैसे रहेंगे। कहते हैं, अन्न छोड़ दो, फलाहार कर लो।

एक बार एक महिला ने अनुष्ठान के लिए घर में तैयारी की। उसके तीन बेटे थे। जब बेटों को पता चला कि माँ एक दिन के लिए उपवास करने वाली

है, तो सभी ने थोड़ी-थोड़ी सामग्री माँ के पास भेज दी। एक लड़के ने छ:-सात किलो तरह-तरह के फल माँ के पास भेज दिये। दूसरे लड़के ने तीन-चार लीटर एकदम गाढ़ा दूध माँ के पास भेज दिया। तीसरे बेटे ने सिंघाड़ा और कद्दू की सब्जी बनवाकर पूरा थाल भर कर माँ के पास भेज दिया। और माँ कर रही है उपवास!

दूसरे दिन जब बेटे आकर माँ से पूछते हैं, 'माँ, आपका व्रत कैसा रहा?' माँ कहती है, 'बेटा, शरीर में थोड़ी कमजोरी तो है।' 'कमजोरी क्यों माँ? आपको तो फल, दूध और सिंघाड़ा भेजा था न!' 'हाँ बेटा, वह सब तो मैंने खा लिया, लेकिन अभी भी भूख लगी है।'

अरे! जो बंदा एक दिन में इतनी बड़ी थाली भरकर खा सकता है। फल खा सकता है, तीन-चार लीटर दूध पी सकता है, वह क्या उपवास करेगा!

जब कोई व्रत या अनुष्ठान होता है, तब लोग भोजन पर ज्यादा ध्यान देते हैं। मन शुद्धि पर कोई ध्यान देता ही नहीं। जो तिकड़म मन करता है, दिनभर करता ही रहे। जिस छल-कपट में मन रमा रहता है, रमा ही रहे।

लेकिन पार्वती को मालूम था कि अगर इस अनुष्ठान के समय उसके मन की अवस्था विचलित हो गयी या वह क्रुद्ध हो गयी या अपने लक्ष्य से हट गयी या उसकी एकाग्रता भंग हो गयी, तो उसका अनुष्ठान अधूरा ही रह जाएगा, अनुष्ठान का फल नहीं मिलेगा। इसलिए वह निर्णय लेती है कि इस पागल तपस्वी से अभी कौन भिड़े। इसको तो मालूम ही नहीं कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं अब यहाँ से चलती हूँ। ऐसा निर्णय लेकर जब वे अन्यत्र जाने के लिए मुड़ जाती हैं, तब तपस्वी वेष में शम्भु प्रिया पार्वती का हाथ पकड़ लेते हैं और कहते हैं, 'मैं ही शिव हूँ। तुम मेरे साथ कैलाश चलो।' पार्वती तुरन्त अपना हाथ छुड़ाती हैं और कहती हैं, 'अभी क्यों पकड़ लिया? अभी मेरा हाथ पकड़ने का कोई औचित्य नहीं है। अभी मैं उपासक हूँ और आप उपास्य हैं। अगर आपको मेरा हाथ मांगना है, तो पिताजी से जाकर मांगिये। जंगल में मेरा हाथ मत पकड़िये। विधिवत् मेरा पाणिग्रहण कीजिए, तभी मैं आपकी हो सकती हूँ।' भगवान शिव शिवा के इस व्यवहार से अति प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा, 'ऐसा ही होगा।' यह कहकर वे अदृश्य हो गये और पार्वती भी संतुष्ट हो गयीं कि भगवान की कृपा दृष्टि मुझ पर पड़ गयी। अब वे मेरा हाथ मांगने के लिए आयेंगे। यह सोच कर प्रसन्न मन से वे अपनी सखियों के साथ पिता के घर लौट आती हैं।

कुछ समय बीतता है। भगवान शिव विचार करते हैं कि हिमवान् के यहाँ पार्वती का हाथ मांगने के लिए चलना चाहिए। वे तो लीलाधर हैं, एक नट का वेष धारण कर हिमवान् के राजमहल में आते हैं और कहते हैं, 'अभी मैं अपनी कला का प्रदर्शन करूँगा।' हिमवान् के दरबार में वे अपनी लीला का प्रदर्शन करते हैं। रस्सी पर चढ़ना, रस्सी पर चलना, नृत्य करना, ढोल बजाना, गीत गाना। अर्थात् नट के सारे करतब दिखाते हैं। सभा मंडप में जितने लोग बैठे थे, किसी ने उन्हें नहीं पहचाना, केवल पार्वती ने पहचान लिया। उन्होंने भगवान शिव को मन-ही-मन प्रणाम किया और कहा, 'प्रभु आप आ गये।' भगवान ने भी मन-ही-मन पार्वती को आशीर्वाद दिया और कहा, 'हाँ, मैं हाथ मांगने के लिए आ गया हूँ।'

जब नट का अभिनय समाप्त होता है तब हिमवान् और मेना प्रसन्न होकर कहते हैं, 'बहुत अच्छा अभिनय रहा। तुमको क्या दें? धन, सम्पत्ति, महल, हाथी-घोड़े, गाय, पशुधन, जो तुम्हारी इच्छा हो, ले लो।' नट रूप में भगवान शिव कहते हैं, 'अगर आप मेरे अभिनय से प्रसन्न हैं, तो मुझे अपनी पुत्री पार्वती का हाथ दे दीजिए।' लेकिन शिव माया से प्रेरित मेना और शैलराज ने भगवान शिव को पहचाना नहीं, उन्होंने सोचा कि कोई नट महल में घुस कर पारितोषिक के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहा है। उन्होंने कहा, 'तुम पागल हो गये हो, भिखमंगे होकर राजकुमारी का हाथ मांगते हो!' फिर वे अपने सेवकों से कहते हैं, 'इसको द्वार के बाहर कर दो।' जैसे ही सेवक नट को पकड़ने के लिए जाते हैं, वह अदृश्य हो जाता है। नट के अदृश्य होते ही हिमवान् अपना सिर पकड़ लेते हैं। मैंने नहीं पहचाना, नट वेश में प्रभु स्वयं मेरी बेटी का हाथ मांगने के लिए मेरे पास आए थे, और अपनी माया से छल कर अपने स्थान को लौट गये हैं। अब मैं क्या करूँ? कैसे उनको प्रसन्न करूँ?

इधर प्रभु की लीला जारी है। हिमवान् सभा भवन में पार्वती सहित बैठे हैं। भगवान शिव नट रूप त्याग कर, ब्राह्मण का वेष धारण कर पुनः राजमहल आते हैं। हाथ में दण्ड, सिर पर छत्र, भाल पर टीका, सुन्दर स्फटिक की माला, काशाय वस्त्र, तपस्वी वेष में फिर सभा मण्डप में प्रवेश करते हैं। एक तरफ हिमवान् रो रहे थे कि मुझसे घोर अपराध हो गया, भगवान चले गये। दूसरी तरफ पार्वती जी पुनः भगवान को सभा मण्डप में प्रवेश करते देख उनको मन-ही-मन नमस्कार करती हैं और अंतर्वाणी से कहती हैं, 'प्रभु

अब लीला समाप्त कीजिए। माता-पिता को बहुत दु:ख हो रहा है। आप कितनी परीक्षा लेंगे?' भगवान भी मन-ही-मन अंतर्वाणी से फिर कहते हैं, 'अभी रुको!' हिमवान् से पूछते हैं, 'क्या हो गया? इतना सुन्दर हर्ष का माहौल यहाँ दिखलायी दे रहा है। फूल जमीन पर बिखरे हुए हैं। लगता है जैसे यहाँ पर कोई नाच रहा था। लेकिन आपके मुख पर चिन्ता की रेखाएँ कैसी? आप इतने दु:खी क्यों हैं?' हिमवान् कहते हैं, 'महात्मन्, मेरी बेटी पार्वती का विवाह विधाता की लेखनी के अनुसार भगवान शिव से होना है। अभी कुछ देर पहले भगवान शिव नट के रूप में यहाँ पधारे भी थे। उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया और मैंने जब उनसे पारितोषिक लेने के लिए कहा तो उन्होंने पार्वती का हाथ मांग लिया। मैंने उन्हें पहचाना नहीं, उनको अपशब्द कह कर राजभवन से निकल जाने की आज्ञा दे दी। वे हम सबको अपनी माया से मोहित कर चले गये हैं। मुझसे घोर अपराध हुआ है। समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूँ।' यह सुनकर साधु वेषधारी शिव फिर कहते हैं, 'प्रायश्चित क्यों करना चाहते हो? उस अमंगल शिव से तुम अपनी कन्या का विवाह करना चाहते हो!'

शिव जी फिर कहते हैं, 'तुमने इस कन्या के विवाह के लिए जिस पात्र को ढूँढ़ रखा है, वह इसके योग्य नहीं है। तुम शिव के साथ इसका विवाह मत करो।' मेना के लिए तो इतना सुनना ही पर्याप्त था। उसने कहा, 'मैंने तो भगवान शिव को आज तक देखा ही नहीं है। लेकिन उनके बारे में जितने लोगों से सुनने को मिल रहा है, सब उनके विरोध में ही हैं। सभी कह रहे हैं कि शिवजी भिखारी हैं। नग्न अवस्था में रहते हैं। उनके माता-पिता नहीं है। घर-परिवार नहीं है। गोत्र नहीं है। श्मशान में रहते हैं। वस्त्र के स्थान पर बल्कल पहनते हैं। कभी किसी पशु की छाल पहन लेते हैं। शरीर पर भस्म लगा लेते हैं। केश बिखरे हुए हैं। ऐसे व्यक्ति को मैं किस प्रकार अपनी यह कोमल बेटी प्रदान करूँ? जो भी इस दरबार में आता है, कहता है, उनके साथ शादी मत करो। जरूर दाल में कुछ काला है। अगर वे योग्य वर होते, तो सभी कहते कि तुरन्त शादी कर दो। लेकिन लगता है कि वे पार्वती के योग्य नहीं हैं। और जब से उनकी पहली पत्नी, सती गयी है, तब से वे अपने जीवन में व्यवस्थित रहते भी नहीं हैं। पागल की भाँति इधर-उधर विचरण करते रहते हैं। मैं शिव से अपनी बेटी का विवाह नहीं करूँगी। ऐसा निर्णय लेकर वे राजसभा छोड़कर अपने महल में चली जाती हैं।

कोप-भवन

मेना के कोप-भवन में जाने के बाद हिमवान् ने भी सभा का विसर्जन कर दिया। कहा, पक्ष में और विपक्ष में बहुत सुन लिया, कुछ लोगों ने कहा करो और कुछ लोगों ने कहा मत करो। अब मैं एकान्तवास में चिन्तन करूँगा, क्या करना है। ऐसा कह कर उन्होंने सभा स्थगित कर दी और अन्दर चले गये। भगवान शिव भी वापस कैलाश आकर पुनः सप्तर्षियों को बुलाकर कहते हैं, 'अभी वे लोग भ्रम में हैं कि शादी करें या न करें। अतः तुम लोग फिर से जाओ और मेना तथा हिमवान् को सम्भाल लो, समझा दो, और उनको तैयार करो कि अपनी पुत्री पार्वती का हाथ महादेव के हाथ में दे दें। मन में जो कुरोष है, उसे त्याग दें।' सप्तर्षि आकर पुनः हिमवान् और मेना को समझाते हैं, 'यह सब तो ईश्वर की लीला थी, परीक्षा थी। वे ही नट के रूप में आए थे। वे ही तपस्वी के रूप में आए थे। वे ही तुम लोगों की परीक्षा ले रहे थे। देखना चाहते थे कि तुम में कितनी भक्ति और श्रद्धा है। तुम दूसरों की बातों को सुन कर शिव से विमुख होते हो या नहीं। अब व्यर्थ की चिन्ता छोड़ो और अपनी कन्या महादेव के हाथ में दे दो।'

यहाँ शिवजी ने मनोविज्ञान का प्रयोग किया है। यह तो सत्य है कि आदमी दूसरों की बातों पर अधिक विश्वास करता है और आँखों देखी बात पर कम। अगर कोई आपको कहे कि स्वामी निरंजन बहुत खराब आदमी है, आप सोचेंगे कि यह सम्भव है, ऐसा हो सकता है, क्योंकि यह कह रहा है। इस बात पर आप विश्वास कर लेंगे। लेकिन अगर कोई आपको कह दे कि वह अच्छा आदमी है, तो आप उसका विश्वास नहीं करोगे, कहोगे कि एक बार चलकर देखें कैसा है।

यहाँ भी यही मनोविज्ञान है। देवाधिदेव, सर्वेश्वर महादेव पार्वती से विवाह करने वाले हैं। देवताओं, सिद्धों, ऋषियों, तपस्वियों, सबको मालूम है। लेकिन हिमवान् और मेना के मन में ऐसा भ्रम पैदा किया जा रहा है ताकि यह पता चले कि इनकी निष्ठा, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास कितने प्रबल हैं।

सप्तर्षि हिमवान् और मेना से कहते हैं कि शिवजी ने हम लोगों को तुम्हारे पास भेजा है कि लग्न-पत्रिका बनायी जाए, निमंत्रण भेजा जाए। हम लोग विवाह की तैयारी करने के लिए आए हैं। तुम्हारे मन में जो रोष है, उसका त्याग कर दो। महादेव के बारे में तुम कहते हो कि वे भिखारी हैं, किन्तु वास्तव में सम्पूर्ण जगत् के स्वामी तो वे ही हैं। सभी देवता, प्राणी,

यक्ष, गन्धर्व, किन्नर उनकी इच्छा के अनुसार ही कार्य करते हैं। अन्य सब तो देवता हैं, ये ही महादेव हैं। सभी देवताओं में किसी-न-किसी प्रकार का विकार रहता है। देवताओं का जन्म भी होता है और मृत्यु भी। अन्तर सिर्फ इतना है कि उनका शरीर अन्नमय या पदार्थमय शरीर नहीं, बल्कि तेजोमय होता है। अमृत पीकर कोई अपनी मृत्यु को टाल नहीं सकता। दीर्घायु अवश्य प्राप्त कर सकता है। चिरंजीवी भले ही हो जाए, लेकिन प्रकृति के नियम को कोई टाल नहीं सकता। चिरंजीवी की भी एक आयु निश्चित होती है। चाहे हजार साल हो, दस हजार साल हो या दस लाख साल।

शाश्वत जीवन, सनातन जीवन जीने वाला इस सृष्टि में ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं है। वही ईश्वर भूत में रहता है, वही वर्त्तमान में और वही भविष्य में रहता है। उस सनातन सत्ता को छोड़कर संसार में सब कुछ नश्वर है। सम्पूर्ण सृष्टि नश्वर है। महाप्रलय में सबका नाश हो जाता है। एक महादेव ही ऐसे हैं जो निर्विकार हैं, निर्लिप्त हैं और उनका कभी नाश नहीं होता। उन्हीं की इच्छा से सृष्टि होती है, उन्हीं की इच्छा से सृष्टि पलती है, और उन्हीं की इच्छा से सृष्टि का संहार होता है। अत: मेना और हिमवान्, तुम अब चिन्ता छोड़कर भगवान शिव की आराधना में जुट जाओ और विवाह की तैयारी कर लो।

सप्तर्षियों की बात सुन कर हिमवान् और मेना पुन: शिव के हाथों में पार्वती का हाथ देने के लिए तैयार हो जाते हैं। सप्तर्षि लग्न-पत्री तैयार करते हैं। हिमवान् सभी को निमंत्रण देते हैं। नदी, पर्वत, सब अपने-अपने दिव्य रूप में हिमवान् के पास आते हैं और विवाह की तैयारियाँ आरम्भ होती हैं। मण्डप सजने लगता है।

सभी भुवनों में हिमवान् पर्वतों, नदियों, वृक्षों आदि को निमंत्रण पत्र भेजता है। और इन सभी भुवनों के प्राणी दिव्य शरीर धारण कर हिमवान् के निमंत्रण पर आ पहुँचते हैं। इधर ब्रह्माजी ने नारदजी को भी आदेश दिया कि तुम देवताओं को तैयार करो, वे शिवजी के यहाँ पहुँच जाएँ, बारात लेकर जाना है। नारदजी ने भी घूमते-घूमते सभी लोकों में ढिंढोरा पीट दिया और चारों तरफ से देवी-देवता, यक्ष, किन्नर सभी कैलाश आने लगे, सबका जमघट होने लगा। ब्रह्मा और विष्णु भी पहुँच गये। शिवजी निर्लिप्त, शान्त भाव से बैठे थे। कहते हैं, तुम लोग चलो, मैं भी अपने बैल पर सवार होकर तुम लोगों के साथ चलता हूँ। तुम लोग आगे चलो, मैं पीछे आता हूँ।

शिवजी चतुर हैं। जब देवता आगे चलेंगे, तब सब उनके सौन्दर्य को देखेंगे। शिवजी भिखारी हैं, उनके तन पर वस्त्र और आभूषण नहीं हैं, इन सब बातों पर कोई ध्यान नहीं देगा। हजार सुन्दर व्यक्तियों के बीच अगर कोई कुरूप घुस भी जाए तो कोई उसकी ओर देखता नहीं है। शिवजी ने कहा, देवता पहले जायेंगे, जो दिव्य हैं, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं। उनकी आभा से पूरा क्षेत्र आलोकित हो उठता है। और खुद लीला करते हुए एक मरियल बैल पर सवार होकर अपने गणों के साथ चलते हैं। शिवजी के गणों में कोई भूत है, कोई प्रेत, कोई पिशाच, किसी का मोटा पेट है, किसी का सिर नहीं है, किसी की एक आँख है, किसी की एक नाक है, किसी के दो दाँत हैं, किसी का एक कान है, किसी का एक पैर है।

संसार में प्राणियों का जो मॉडल स्वीकृत हुआ, वह आया और जितने मॉडल अस्वीकृत हुए थे, उन सबको शिवजी ने एकत्र करके अपने गणों के रूप में रखा हुआ था। संसार में एक ही प्रकार का मॉडल आया। ऐसा प्राणी जिसके दो पैर, दो भुजा, एक सिर, दो आँखें, दो कान, एक नाक, दो नासिका छिद्र, एक मुँह, बत्तीस दाँत थे। बाकी सब शिवजी के गण के रूप में उनके पास रह गये।

कोलाहल करते संगीत वाद्य बजाते, शिवजी की बारात हिमवान् के राज्य में आती है। हिमवान् शिवजी के इस समूह को सम्मानपूर्वक अपने यहाँ लाता है और शिवजी की आराधना करता है, स्तुति करता है।

त्वं ब्रह्मा सृष्टिकर्ता च त्वं विष्णुः परिपालकः ।
त्वं शिवः शिवदोऽनन्तः सर्वसंहारकारकः ॥1॥

त्वमीश्वरो गुणातीतो ज्योतीरूपः सनातनः ।
प्रकृतिः प्रकृतीशश्च प्राकृतः प्रकृतेः परः ॥2॥

नानारूपविधाता त्वं भक्तानां ध्यानहेतवे ।
येषु रूपेषु यत्प्रीतिस्तत्तद्रूपं बिभर्षि च ॥3॥

सूर्यस्त्वं सृष्टिजनक आधारः सर्वतेजसाम् ।
सोमस्त्वं शस्य पाता च सततं शीतरश्मिना ॥4॥

वायुस्त्वं वरुणस्त्वं च त्वमग्निः सर्वदाहकः ।
इन्द्रस्त्वं देवराजश्च कालो मृत्युर्यमस्तथा ॥5॥

मृत्युञ्जयो मृत्युमृत्युः कालकालो यमान्तकः ।
वेदस्त्वं वेदकर्ता च वेदवेदांगपारगः ॥6॥

विदुषां जनकस्त्वं च विद्वांश्च विदुषां गुरुः ।
मन्त्रस्त्वं हि जपस्त्वं हि तपस्त्वं तत्फलप्रदः ॥7॥

वाक् त्वं वागधिदेवी त्वं तत्कर्ता तद्गुरुः स्वयम् ।
अहो सरस्वतीबीजं कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥8॥

इत्येवमुक्त्वा शैलेन्द्रस्तस्थौ धृत्वा पदाम्बुजम् ।
तत्रोवास तमाबोध्य चावरुह्य वृषाच्छिवः ॥9॥

इस प्रकार शिव और पार्वती का विवाह पुनः हो जाता है। और शिव तथा पार्वती के जीवन में दूसरा लीला चक्र प्रारम्भ होता है।





पञ्चम् दिवस

18-02-2009

काल को जीतने का उपाय

जगत् जननी माँ पार्वती के साथ शिवजी ने विधिवत् विवाह सम्पन्न कर लिया है। तत्पश्चात् वे पार्वती को लेकर अपने लोक कैलाश लौट चुके हैं। सभी देवी, देवता, यक्ष, किन्नर, साधु, ऋषि, जो इस महान् वैवाहिक कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आए थे, वे भी अपने-अपने लोकों के लिए प्रस्थान कर जाते हैं; और शिवजी पार्वती के साथ कैलाश में विहार करते हुए अपना समय बिताते हैं। विहार के क्रम में वे माता पार्वती को उसके पूर्व जन्मों के बारे में भी बताते हैं, क्योंकि एक दिन माता पार्वती ने भगवान शिव से प्रश्न किया था, 'भगवन्! आपने अपने गले में मुण्डों की माला क्यों धारण कर रखी है? और ये मुण्ड किसके हैं?'

भगवान शिव माता पार्वती को बतलाते हैं कि ये जितने मुण्ड मैंने अपने गले में पहन रखे हैं, सब तुम्हारे ही हैं। हे आदि शक्ति! तुमने अनेक बार लीला के प्रयोजन से इस संसार में जन्म लिया है और लीला करने के पश्चात् आदि शक्ति के रूप में अपने मूल स्वरूप में लीन भी हो गयी हो। तुम्हारा मूल स्वरूप तो आदि शक्ति का है, शिवा का है और मुझसे अभिन्न है। लेकिन जगत् में विशेष कार्य करने के लिए जितनी बार, जिस-जिस काल, युग, मनवन्तर में तुम्हारा अवतार हुआ है, तुम मेरे साथ रही हो, और कार्य को सम्पन्न करके जब भी तुमने अपनी इस भौतिक देह का त्याग किया है, मैंने तुम्हारी स्मृति के रूप में उस देह के मुण्ड को अपने साथ रखा है, और उसी की माला पहनता हूँ।

माता पार्वती भगवान शिव से पूछती हैं, 'इसके पहले मेरा कौन-सा जन्म हुआ था?' शिवजी कहते हैं, 'पार्वती, तुम मेरी ही स्वरूपा शक्ति हो और

तुमसे कुछ अज्ञात नहीं है। लेकिन फिर भी, चूँकि तुमने प्रश्न किया है, मैं तुमको बतलाता हूँ कि इस जन्म के पूर्व तुम किस रूप में थीं।' ऐसा कहकर भगवान शिव पार्वती को उनके सती अवतार के बारे में बतलाते हैं। साथ-ही-साथ वे पुन: सम्पूर्ण योग, तंत्र, पाशुपत दर्शन, सांख्य तथा अन्य विद्याओं के बारे में भी बतलाते हैं, जिसकी शिक्षा सती रूपा आदि शक्ति को उन्होंने दी थी। यह सब सुनते-सुनते माता पार्वती कहती हैं, 'ऐसा प्रतीत होता है कि जो भी इस संसार में पंचभूतात्मक देह को अपनाता है, वह एक दिन मृत्यु को अवश्य प्राप्त करता है। भगवन्! यह बताइए, क्या काल को जीता जा सकता है? क्या अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है? अगर हाँ, तो काल को जीतने के उपाय क्या हैं?'

भगवान शिव कहते हैं, 'पार्वती, संसार में जो भी आता है, वह काल के अधीन, काल के नियमानुसार ही इस धरती पर अपना जीवन-चक्र व्यतीत करता है। काल बड़ा विकराल है, देवता, दैत्य, यक्ष, राक्षस, नाग और मनुष्य, किसी के द्वारा भी उसका नाश नहीं हो सकता है। किन्तु जो साधु हैं, योगी हैं, तपस्वी हैं, जिनको संसार की माया स्पर्श नहीं करती है, जिन्होंने संसार के विषयों को छोड़ अपने चित्त को परमात्मा में लगाया है, जो ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति रखते हैं और समर्पित हैं, वे ही इस काल को जीत कर परमधाम और परमैश्वर्य–शिवलोक को प्राप्त करते हैं।

माता पार्वती प्रश्न करती हैं, 'भगवन्! जो योगी और तपस्वी होते हैं, वे किस विधि से इस काल को जीत सकते हैं?' भगवान शिव कहते हैं, 'पार्वती, यह एक रहस्यमय, गुप्त विद्या है, जिसे मैं सबके सामने उद्घाटित नहीं कर सकता हूँ। मेरे साथ कहीं एकान्त में चलो, वहाँ मैं तुम्हें काल को जीतने के समस्त उपायों का वर्णन करूँगा। उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनना।' ऐसा कहकर भगवान शिव माता पार्वती को पर्वतों में ऐसे स्थान पर ले जाते हैं, जहाँ किसी का प्रवेश सम्भव नहीं, न देवता, न दानव, न शिवगण, यहाँ तक कि कोई पक्षी भी नहीं। वहाँ बैठकर उनको शिक्षा देते हैं। वे माता पार्वती को साधना का रहस्य बतलाते हुए कहते हैं, 'काल को जीतने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने मन को संसार के विषय-भोगों से हटाकर ईश्वर से जोड़ दे।' यह काल को जीतने का प्रथम चरण है, क्योंकि जब तक मनुष्य संसार से प्रभावित होगा, संसार के विषयों की कामना करेगा, वह कर्म-बन्धन में बँधेगा। और एक बार जब प्राणी कर्म-बन्धन में बँधता है, तब फिर उससे

मुक्त होना उसके लिए तब तक सम्भव नहीं, जब तक गुरु-कृपा या ईश्वर अनुग्रह उसे प्राप्त न हो।

उन्होंने यह बात माता पार्वती को कही थी, लेकिन यह आज भी प्रासंगिक है। भक्ति के महत्त्व को कोई अनदेखा नहीं कर सकता है। भक्ति एक ऐसी शक्तिशाली पद्धति है, विधि है, जिसको लोग समझ नहीं पाते हैं। सोचते हैं, भक्ति का अर्थ केवल ईश्वर की आराधना है। लेकिन वस्तुत: भक्ति से व्यक्तित्व परिवर्तन होता है।

जब पूर्व में शिवजी ने भक्ति के बारे में माता सती को समझाया था, तब उन्होंने कहा था कि ज्ञान की अभिव्यक्ति ही भक्ति है। ज्ञान, ध्यान और भक्ति, ये तीनों अभिन्न हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। रामचरितमानस में भी श्रीराम ने माता शबरी को नवधा भक्ति की जो शिक्षा दी, उसमें भक्ति के मूल तत्त्व आये हैं। संक्षेप में इन मूल बिन्दुओं को बतलाता हूँ। श्रीराम माता शबरी को कहते हैं, *'प्रथम भगति संतन कर संगा।'* इसका अर्थ लोग लगाते हैं, किसी साधु, महात्मा या संन्यासी के साथ बैठना। उनके साथ जो बातें हों, वही सत्संग है। सत्संग को लोगों ने केवल बातचीत तक सीमित कर दिया है। लेकिन अगर इसके मूल में जाएँ, तो संत किसको कहते हैं? रामचरितमानस में ही श्रीराम बतलाते हैं, *'संत हृदय नवनीत समाना'* – जिसका हृदय मक्खन की तरह कोमल हो।

उदाहरण के लिए, आलू जब कच्चा रहता है, तब उसको खाने में कोई स्वाद नहीं मिलता, क्योंकि वह कड़ा रहता है। लेकिन जैसे-जैसे आलू को गरम पानी में उबाला जाता है, वह मुलायम होता जाता है। जब आलू पूर्ण रूप से मुलायम हो जाता है, तब उसको खाने का आनन्द ही अलग होता है। जैसे आलू के मुलायम होने से उसमें स्वाद आता है, वैसे ही जब हृदय कोमल होता है, भावनायें कोमल और शुद्ध होती हैं, तब मनुष्य को जीवन में संतत्व की अनुभूति होने लगती है। हमारे गुरु श्रीस्वामी सत्यानन्दजी भी इस बात को बहुत रूपों में समझाते हैं कि किस प्रकार अपनी भावनाओं को परिष्कृत कर हम अपने भीतर स्थित परमेश्वर की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं।

अत: संत का संग एक सम्बन्ध को दर्शाता है। आधुनिक मनुष्य सम्बन्धों से प्रेरित होता है। वह अपने परिवार, मित्रों तथा अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। ये सम्बन्ध मनुष्य की मानसिकता, विचार और व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं। और अगर इनमें नकारात्मक तत्त्व हो, तो वह इतना

प्रबल होता है कि अच्छे को भी दूषित और धूमिल कर देता है। फलों की टोकरी में अगर एक फल सड़ जाए, तो वह दूसरों को भी सड़ा देता है। एक सड़ा हुआ सेब सौ सेबों को नष्ट कर सकता है, लेकिन सौ अच्छे सेब एक सड़े हुए को नहीं बदल सकते। व्यक्ति के जीवन में तामसिक शक्ति इतनी प्रबल होती है कि जीवन की जो भी अच्छाई होती है, उस तामसिक शक्ति के सामने धूमिल हो जाती है।

अगर हम लोगों का सम्बन्ध ऐसे व्यक्तियों के साथ हो जिनके जीवन, मन और आचरण में साधुपन नहीं हो, सात्त्विकता नहीं हो, तो हम भी उनके आचरण, मानसिकता और व्यवहार से प्रभावित हो जाते हैं। इसलिए अच्छे लोगों की संगत होनी चाहिए, बुरे लोगों की नहीं। अच्छी संगत से ही भक्ति की शुरुआत होती है, क्योंकि उस समय आप नये-नये, अच्छे, सकारात्मक और प्रेरक विचार प्राप्त करते हैं। और ये विचार आपको अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिए दिशा प्रदान करते हैं।

प्रभु श्रीराम कहते हैं, *'दूजी रति मम कथा प्रसंगा।'* कथा सुनने में रुचि होनी चाहिए, क्योंकि जब हम कथा में अच्छी बातों को सुनते हैं, तब उससे सुख, प्रेरणा और आनन्द मिलता है। जब व्यक्ति कहानी या उपन्यास पढ़ता है तब उसका मनोरंजन होता है, लेकिन जब व्यक्ति ईश्वर के गुणों का अध्ययन या श्रवण करता है, तब वह मनोरंजन नहीं, उन भावों में सकारात्मक परिवर्तन है जिन्हें धारण कर लोग हमेशा संसार में जीते हैं। इससे आत्मविकास की स्थिति प्राप्त होती है, मनोरंजन की नहीं। मनोरंजन का अर्थ होता है, क्षणिक सुख मिला, सुन लिया, अच्छा लगा, बस!

एक बार एक पण्डित जी कथा कह रहे थे। बहुत सुन्दर कथा करते थे और अच्छे-अच्छे लोग सुनने आते थे। उनमें एक ऐसा व्यक्ति भी आता था जिसकी इच्छा होती थी कि मेरे बेटे भी इसमें भाग लें। लेकिन बेटों की इच्छा कथा में भाग लेने की नहीं थी। एक दिन वह व्यक्ति थोड़ा जोर-जबरदस्ती करके एक बेटे को अपने साथ कथा में ले आया। बेटा ध्यानपूर्वक कथा को सुनता है। कथा समाप्त होती है, सब खड़े होकर जाने लगते हैं। पिता भी खड़े हो जाते हैं, अपने वस्त्रों को झाड़ते हैं, ठीक करते हैं और चलने को तैयार होते हैं। अपने बेटे से पूछते हैं, 'कैसी लगी कथा?' बेटा कहता है, 'कथा तो बहुत अच्छी थी, लेकिन एक चीज मेरी समझ में नहीं आ रही है कि जितने लोगों ने यहाँ कथा सुनी और अच्छी-अच्छी बातों को ग्रहण किया है, जब वे

खड़े होते हैं, तब सब कुछ अपने शरीर से झाड़ देते हैं, और उसके बाद यहाँ से प्रस्थान करते हैं।'

अर्थात् कोई कथा के विषय को, ज्ञान को अपने साथ नहीं ले जाता है! लेकिन अगर कथा को लोग मानसिक स्तर पर ग्रहण कर लें, तो उनका जीवन दिव्य हो जाता है और मन एक सकारात्मक चिन्तन से, एक ऐसे विचार से जुड़ता है जो उसे संसार के दु:खों से दूर ले जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने सकारात्मक सोच की शक्ति पर किताबें भी लिखी हैं। वे भी कहते हैं कि हर व्यक्ति की सोच सकारात्मक होनी चाहिए, क्योंकि उसी में शक्ति होती है। श्रवण के द्वारा जब हमारी सोच सकारात्मक हो जाती है तब मन की शक्ति जाग्रत होती है और भक्ति मार्ग सहज हो जाता है।

'तीसरी भगती अमान।' जब सोच, चिन्तन और विचार सकारात्मक हो गये, तब फिर घमण्ड या अभिमान का स्थान ही कहाँ? घमण्ड या अभिमान तो एक संकीर्ण मन की अभिव्यक्ति है, जो अपने अलावा संसार में और कुछ नहीं देख पाता है। अपने को ही श्रेष्ठ मानता है। जो मन अपने आप में ही लिप्त रहता है, भ्रमित रहता है, उसी में अहंकार बढ़ता है, घमण्ड की वृद्धि होती है। और जो मन अपने आप में लिप्त नहीं रहता, जो सहज और सरल है, वह अभिमान रहित होकर, सरल और सहज भाव को धारण कर गुरु भक्ति में, ईश्वर भक्ति में संलग्न हो जाता है। गुरु या ईश्वर भक्ति का अर्थ होता है, अध्यात्म शिक्षा को आत्मसात् कर लेना। यही भक्ति का असली रूप है।

इस प्रकार भगवान शिव माता पार्वती को समझाते हुए कहते हैं कि काल या मृत्यु को जीतने के लिए सबसे पहले आवश्यक है कि तुम अपने मन, अपनी भावनाओं को भक्ति से जोड़कर ईश्वर के प्रति अनुराग उत्पन्न करो। जो व्यक्ति संसार से अनुरक्त होता है, भोगी है। जो व्यक्ति ईश्वर से अनुरक्त रहता है, योगी है। इसके पश्चात् माता पार्वती प्रश्न करती हैं, 'भगवन्! आपने भक्ति की तो चर्चा की, लेकिन इसके अतिरिक्त और क्या उपाय हो सकता है?'

नवधा शब्दब्रह्म

शैवागमों में आया है कि भक्ति के बारे में समझाकर, भगवान शिव माता पार्वती को काल को जीतने के उपाय के रूप में नवधा शब्द-ब्रह्म का उपदेश देते हैं। यह नवधा शब्द-ब्रह्म क्या है? यह भी मंत्र साधना का ही एक स्वरूप

है, क्योंकि मंत्र ही शब्द है, मंत्र ही ब्रह्म है। जिस ब्रह्म को, जिस आराध्य को हम अपनी इन्द्रियों से देख नहीं पाते हैं, अपने मन से जिसका पता नहीं चलता है, उसका आभास हमें अपने जीवन में मंत्र के द्वारा होता है। भगवान को तो न आपने देखा है, न हमने। और जिन्होंने देखा है, वे बतला भी नहीं पाये हैं कि उनका क्या स्वरूप है।

हमारे गुरु श्रीस्वामी सत्यानन्दजी कहते हैं कि एक बार नमक की एक गुड़िया समुद्र की गहराई का पता लगाने के लिए समुद्र में डुबकी मारती है, और उस जल में इतना घुल जाती है कि उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मंत्र के द्वारा जब हम अपने भीतर चेतना में गोता लगाते हैं, तब वही मंत्र हमें स्थूल से सूक्ष्म अवस्था की ओर ले जाता है। *श्रीराम जय राम जय जय राम, ॐ नम: शिवाय, ॐ नम: भगवते वासुदेवाय,* इत्यादि जो भी मंत्र हो, पहले उसके जप की क्रिया शारीरिक होती है। माला हाथ में ले लो, प्रत्येक दाने के साथ एक-एक मंत्र का जप करो। मंत्र का जप करते समय अपने ध्यान को अपने इष्ट में, इष्ट के विभिन्न स्वरूपों में केन्द्रित करो। यह एक बाह्य प्रक्रिया है, जिससे यह साधना आरम्भ की जाती है। किन्तु जैसे-जैसे हम मंत्र की गहराई में प्रवेश करते हैं, मंत्र मन में जाग्रत होता जाता है, सतत् चलने लगता है। कबीरदास कहते हैं–

ऐसा जाप जपो मन लाई, सोहं सोहं सुरता गाई ।
छ: सौ सहस्र इकीसौ जाप, अनहद उपजै आपहि आप ॥

अपने मंत्र के साथ मन को इस प्रकार जोड़ दो कि प्रत्येक श्वास के साथ तुम्हें मंत्र ही सुनायी दे। मंत्र की सजगता चौबीस घण्टे बनी रहे। चौबीस घण्टे में प्रत्येक मनुष्य औसतन 21600 बार श्वास लेता है और प्रत्येक श्वास के साथ अगर वह मंत्र का स्मरण करे, तो मंत्र साधना सूक्ष्म हो जाती है, और भीतर से नाद प्रकट होता है।

नवधा शब्द-ब्रह्म में भगवान शिव यही समझाते हैं कि किस प्रकार मंत्र के जप से चेतना सूक्ष्म हो जाती है और साधक को अपने भीतर नौ प्रकार के नाद सुनायी पड़ने लगते हैं। हर एक नाद एक विशेष प्रकार की आन्तरिक अवस्था को दर्शाता है। मंत्र साधना के बारे में बतला कर वे यह भी बतलाते हैं कि नौ प्रकार के नादों का क्या स्वरूप होता है, जिन्हें साधक ध्यान की अवस्था में सुनता है। कभी घण्टी की आवाज सुनायी पड़ती है, कभी मुरली की, और

कभी बादलों का गर्जन सुनायी पड़ता है। जब मनुष्य इन नादों का विश्लेषण करते हुए अपने आप को अन्तिम नाद में स्थित करता है, जो कि प्रणव नाद है, तब उसकी मुक्ति होती है और वह कालजयी हो जाता है।

इसके पश्चात् भगवान शिव माता पार्वती को योगों की भी शिक्षा देते हैं। इसी क्रम में हठयोग की शिक्षा आती है। माता पार्वती पूछती हैं, 'क्या इस देह में रह कर अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है?' भगवान शिव कहते हैं, 'हाँ, क्योंकि यह एक ऐसा शरीर है जिसके भीतर विष भी है और अमृत भी। शरीर के भीतर अमृत का जो स्रोत है, वह बिन्दु चक्र है। इसी केन्द्र से अमृत टपकता है। लेकिन वह अमृत टपक कर जठराग्नि द्वारा भस्म हो जाता है। अगर कोई इस अमृत को जठराग्नि में जलने नहीं दे और ग्रहण कर ले, तो वह जरा को भी जीतता है और मृत्यु को भी। वह कभी बूढ़ा नहीं होगा और चिरंजीवी होगा।' इसके लिए भगवान शिव खेचरी मुद्रा की साधना बतलाते हुए कहते हैं, 'जिह्वा को मोड़ कर तालु से लगा लो। अमृत जिह्वा पर टपकेगा, उसको पचा लो।' फिर वे माता पार्वती को प्राणायाम, ध्यान, आसन, मंत्र आदि के बारे में भी समझाते हैं।

अनेक दिनों तक शिव-पार्वती का यह संवाद चलता है और सुनते-सुनते माता पार्वती को नींद आ जाती है। शिव जी ने उनसे कहा था कि तुम बीच-बीच में हाँ, हाँ कहते जाना, क्योंकि वे अपनी आँखें बंद कर बतलाए जा रहे थे। लेकिन जहाँ पर वे बैठे थे, वह एक नदी का किनारा था, और उस नदी में एक मछली भगवान शिव के इन उपदेशों को चुपचाप सुन रही थी। जब मछली ने देखा कि अब पार्वती जी को नींद आ रही है और वे हाँ नहीं बोल पायेंगी, भगवान अपनी बात बंद कर देंगे, तब मछली ने जल से ही हाँ, हाँ बोलना शुरू कर दिया। और लीलाधर भी ऐसे, मालूम होते हुए भी कि क्या हो रहा है, वे अपनी आँखों को बंद कर विद्या देते गये, समझाते गये। जब माता पार्वती की तंद्रा टूटती है, तब भगवान शिव उनसे पूछते हैं, 'मैंने जो रहस्य की बातें कहीं, तुम सब समझ गयीं न?' माता पार्वती कहती हैं, 'भगवन्! मुझे बीच में नींद आ गयी थी, मैंने पूरी बात सुनी नहीं।' भगवान शिव कहते हैं, 'तब कौन पूरे समय हाँ, हाँ कहता रहा!' आस-पास देखते हैं कि वहाँ जल में एक मछली है। माता पार्वती कहती हैं, 'इस मछली ने सम्पूर्ण योगशास्त्र का ज्ञान आपसे प्राप्त किया है।' भगवान शिव कहते हैं, 'हाँ, अब इस मछली को मनुष्य का रूप देकर हम संसार में भेजते हैं, ताकि वहाँ जाकर जन-कल्याण

हेतु इस योग विद्या की शिक्षा दे सके।' उन्होंने मछली को आशीर्वाद दिया। उसी मछली ने मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में अवतरित होकर इस संसार में हठयोग का प्रचार किया।

नाथ सम्प्रदाय आज भी एक ऐसा सम्प्रदाय है, जिसमें हठयोग को सिद्ध करने, मृत्यु पर विजय और शिवपद प्राप्त करने पर बल दिया जाता है। आज भी यह एक सशक्त सम्प्रदाय है। इस क्रम में अनेक महात्मा आते हैं जो नाथ कहलाते हैं। आदिगुरु भगवान शिव आदिनाथ हैं। अनेक सम्प्रदायों और धर्मों ने आदिनाथ के रूप में इनके अस्तित्व और शिक्षा को स्वीकार किया है। जैन सम्प्रदाय में भी चौबीस तीर्थंकरों में पहले तीर्थंकर आदिनाथ, स्वयं भगवान शिव हैं। हठयोग की परम्परा में बहुत से नाथ आते हैं। आदिनाथ के बाद मत्स्येन्द्रनाथ से परम्परा की शुरुआत होती है, उनके शिष्य होते हैं गोरखनाथ। और इस प्रकार नाथों की परम्परा चल पड़ती है। माता पार्वती को भगवान शिव ने योग की जो शिक्षा दी, वह इस संसार में नाथों के द्वारा प्रचलित हुई। यह नाथ सम्प्रदाय भी पाशुपत सम्प्रदाय का एक अंग माना गया है।

कार्तिकेय का जन्म

भगवान शिव जिस समय माता पार्वती को शिक्षा प्रदान कर रहे थे, उसी समय तारकासुर द्वारा स्वर्ग से निष्कासित देवताओं की सभा हो रही थी। देवता अपनी सभा में कहते हैं, 'भगवान शिव का विवाह हो चुका है और वे पार्वतीजी को वन में, एकान्त में बैठाकर रहस्यमय आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। इधर तारकासुर साम्राज्य का निरन्तर विस्तार हो रहा है। वह हमला कर रहा है, भुवनों को जीत रहा है, त्रिलोकी का राज्य प्राप्त करना चाहता है। और ब्रह्माजी के वरदान के अनुसार शिव पुत्र ही तारकासुर का संहार कर पाएगा, अन्य कोई नहीं। कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि भगवान शिव पार्वती को अब आध्यात्म की शिक्षा देना बंद कर, देवताओं को एक पुत्र प्रदान करें, जो तारकासुर को मार सके।'

ऐसा विचार कर उन्होंने अग्नि को भगवान रुद्र के पास भेजा, जो जंगल में पार्वती जी को योग, अध्यात्म और तंत्र की शिक्षा दे रहे थे। अग्निदेव वहाँ पहुँच कर विनम्र भाव से भगवान शिव को प्रणाम कर कहते हैं, 'भगवन्! तारकासुर के अत्याचार से सृष्टि के सभी प्राणी एवं देवता समूह में त्राहि-त्राहि

मची है। सम्पूर्ण विश्व को शिव पुत्र की प्रतीक्षा है, जो त्रिलोक को तारकासुर के अत्याचार से मुक्त कर, देवताओं के संताप एवं कष्ट को दूर कर पाएगा।' शिवजी कहते हैं, 'बात तो तुमने ठीक कही है, यह लो मेरा तेज।' ऐसा कहकर उन्होंने अपना तेज अग्नि के हाथों में रख दिया। लेकिन जब अग्नि भगवान शिव के तेज को अपने हाथों में ग्रहण करता है, तब उसमें निहित प्रचण्ड शिव शक्ति से स्वयं अग्नि का हाथ जलने लगता है। वह उस तेज को अपने हाथों में धारण नहीं कर पाता, तो हड़बड़ा कर गंगा जी में गिरा देता है। जैसे ही वह तेज गंगा में गिरता है, एक शिशु का रूप धारण कर रुदन करने लगता है।

उसी समय छः कृत्तिकायें गंगा जी में स्नान करने आ रही होती हैं। इस छोटे बालक के रुदन को सुनकर कृत्तिकायें आकृष्ट हो उस ओर देखती हैं तो पाती हैं कि एक नवजात शिशु गंगा के किनारे रुदन कर रहा है। ये कृत्तिकायें उस बालक को अपनी गोद में ले लेती हैं और सभी कहने लगती हैं कि यह मेरा है, मैं इसका लालन-पालन करूँगी। छहों में विवाद होने लगता है कि यह मेरा है, मैं इसकी देखभाल करूँगी। लेकिन शिव तेज से जन्मा वह बालक भी सामान्य नहीं है। वह बालक भी तो स्वयं शिव स्वरूप ही है। चमत्कार पूर्ण ढंग से तुरन्त उस बालक के छः मुख हो गए, इन छः मुखों से वह इन कृत्तिकाओं का दुग्धपान करता है और सभी को अपनी माता बना लेता है। फिर कृत्तिकाएँ उसे अपने घर ले जाती हैं। चूँकि वह कृत्तिकाओं द्वारा पोषित हुआ था, इसलिए उसका नाम पड़ा, 'कार्त्तिकेय'। इन्हीं छः कृत्तिकाओं को शिवजी ने नक्षत्र पद प्रदान किया।

कथा में है कि माँ गंगा भी वहाँ पहुँच गयीं और उन्होंने कहा कि इस बालक को पहले मैंने गोद में धारण किया था। यह बालक मेरी बहन पार्वती की सन्तान है। इसकी देखभाल मैं करूँगी और समस्त विद्याओं में इसको पारंगत करूँगी। माँ गंगा कार्त्तिकेय की जिम्मेदारी लेती हैं। उनको शिक्षा देती हैं और समय आने पर उन्हें भगवान शिव के पास ले जाती हैं। उसी समय सभी देवता भी भगवान शिव के पास पहुँचते हैं

जब माँ गंगा शिव-पुत्र कार्त्तिकेय को लेकर कैलाश पहुँचती हैं, तब शिवजी और पार्वती, दोनों उस कुमार को अपने हृदय से लगा कर उसको परम ऐश्वर्य प्रदान करते हैं और चिरंजीवी बना देते हैं। देवता कहते हैं, 'भगवन्! समय आ गया है कि अब कुमार के द्वारा तारकासुर का वध हो।' भगवान शिव कार्त्तिकेय

को देवताओं के सुपुर्द करते हुए कहते हैं, 'इसे ले जाओ और अपना सेनापति बनाओ। सेनापति के रूप में युद्ध कर यह तारकासुर का संहार करेगा।' शिव की इस बात को मान कर देवतागण कैलाश में ही भगवान शंकर और माता पार्वती के सामने कार्त्तिकेय को देवताओं के सेनाध्यक्ष का पद प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् शिव के आशीर्वाद से कुमार देवताओं के साथ प्रस्थान करते हैं। तारकासुर के साथ कुमार का भीषण युद्ध होता है। और शंकर के तेज से उत्पन्न कुमार अन्त में तारकासुर का वध कर देता है। कुमार की इस विजय की सूचना प्राप्त कर भगवान शिव और माता पार्वती समरभूमि में आते हैं, देखते हैं कि तारकासुर का वध हो चुका है। देवता विजयी हो चुके हैं। माता पार्वती कार्त्तिकेय को अपनी भुजाओं में भर लेती हैं, मस्तक सूँघती हैं, आशीर्वाद देती हैं। उस समय कार्त्तिकेय अपने माता-पिता की स्तुति करते हैं–

नमः शिवायास्तु निरामयाय नमः शिवायास्तु मनोमयाय ।
नमः शिवायास्तु सुरार्चिताय तुभ्यं सदा भक्तकृपापराय ॥1॥

नमो भवायास्तु भवोद्भवाय नमोऽस्तु ते ध्वस्तमनोभवाय ।
नमोऽस्तु ते गूढमहाव्रताय नमोऽस्तु मायागहनाश्रयाय ॥2॥

नमोऽस्तु शर्वाय नमः शिवाय नमोऽस्तु सिद्धाय पुरातनाय ।
नमोऽस्तु कालाय नमः कलाय नमोऽस्तु ते कालकलातिगाय ॥3॥

नमो निसर्गात्मकभूतिकाय नमोऽस्त्वमेयोक्षमहर्द्धिकाय ।
नमः शरण्याय नमोऽगुणाय नमोऽस्तु ते भीमगुणानुगाय ॥4॥

नमोऽस्तु नानाभुवनाधिकर्त्रे नमोऽस्तु भक्ताभिमतप्रदात्रे ।
नमोऽस्तु कर्मप्रसवाय धात्रे नमः सदा ते भगवन् सुकर्त्रे ॥5॥

अनन्तरूपाय सदैव तुभ्यमसह्यकोपाय सदैव तुभ्यम् ।
अमेयमानाय नमोऽस्तु तुभ्यं वृषेन्द्रयानाय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥6॥

नमः प्रसिद्धाय महौषधाय नमोऽस्तु ते व्याधिगणापहाय ।
चराचरायाथ विचारदाय कुमारनाथाय नमः शिवाय ॥7॥

ममेश भूतेश महेश्वरोऽसि कामेश वागीश बलेश धीश ।
क्रोधेश मोहेश परापरेश नमोऽस्तु मोक्षेश गुहाशयेश ॥8॥

गणेश जन्म

कैलाश में चारों तरफ कुमार की विजय का उत्सव मनाया जा रहा है। वातावरण में विजय का हर्ष और उल्लास है। शिवगण, शिव जी और कुमार के चारों तरफ घूम-घूम कर उनकी सेवा कर रहे हैं। माता पार्वती अपनी दो सेविकाओं, जया और विजया के साथ बैठी हैं। जया माता पार्वती से कहती हैं, 'माता, कैलाश में शिवगण तो बहुत हैं, पर सब शिवजी की ही सेवा में संलग्न हैं। आपकी सेवा में हम लोग हैं, लेकिन अपना कोई गण नहीं है। सभी गण शिवजी की बात मानते हैं। जब हम उनको कुछ कहते हैं कि ऐसा कर दो, तो कहते हैं कि शिवजी की आज्ञा के बिना हम लोग नहीं करेंगे। अगर मैं किसी को कह दूँ कि माता पार्वती को भ्रमण के लिए जाना है, नन्दी को सवारी के लिए तैयार करके ले आओ, तो शिवजी के गण कहते हैं, पहले शिवजी से अनुमति लेंगे, उसके बाद ही माता पार्वती कहीं बाहर जा सकती हैं।

अर्थात् हमारे मुंगेर आश्रम जैसी पूरी व्यवस्था कैलाश में है। जैसे मुंगेर आश्रम में बिना गेट पास के कोई बाहर नहीं जा सकता, वैसे ही कैलाश में भी नंदी के हस्ताक्षर और शिव के अनुमोदन के बिना कोई गेट के बाहर नहीं जा सकता है। यह बात जया और विजया, दोनों को खल रही थी कि यहाँ जितने गण हैं, सब शिवजी के भक्त हैं, माता का कोई भक्त है ही नहीं, और सेविकाओं को छोड़कर कोई माता का काम करता भी नहीं है। वे माता पार्वती को सुझाव देती हैं कि क्यों न आप एक ऐसा गण तैयार करें, जो आपकी ही बात माने। माता पार्वती को यह बात भा गई। उन्होंने कहा, हाँ, ऐसा ही करेंगे।

एक दिन माता पार्वती स्नान करने के लिए जाती हैं। जहाँ माता पार्वती स्नान करती थीं, उस कुण्ड की बगल में उनकी सेविकाओं ने उनके लिए उबटन रखा था। माता पार्वती अपने पूरे शरीर में उबटन लगाती हैं, और बाद में उबटन को ही एक बालक का रूप देती हैं, और प्राण फूँक कर उसे जीवन प्रदान करती हैं। जीवन प्रदान किये जाने पर वह बाल गण जीवित हो गया और उसने तुरन्त हाथ जोड़ कर कहा, 'माता, मेरे लिए क्या आज्ञा है?'

जगत् जननी ही एक ऐसी शक्ति हैं जो एक जड़ तत्त्व को भी चेतनता प्रदान कर सकती हैं। इसलिए उनके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी। वे एक क्या, अनेक गणों को उत्पन्न करने की क्षमता रखती थीं। उनको यह सब लीला करने की आवश्यकता भी नहीं थी। चिन्तन मात्र से उनकी सेवा के लिए अनेक गण उत्पन्न हो सकते थे। लेकिन वे भी आदि शक्ति स्वरूपा हैं,

उन्हें भी लीला करनी है। उबटन से उन्होंने एक मानव आकृति का निर्माण कर उसमें प्राण फूँक दिये और वह मानव आकृति जीवित होकर माता को नमस्कार कर उनसे आदेश लेती है। माता कहती हैं, 'तुम मेरे बेटे हो। तुम मेरे हो, मैंने तुमको बनाया है। मैं तुमको आदेश देती हूँ कि मेरी आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति मेरे इस महल में प्रवेश न करे।' गणेशजी ने कहा, 'बहुत अच्छा, जैसा आपका आदेश।'

उन्होंने अपने हाथ में दण्ड लिया और माता पार्वती के महल के सामने खड़े हो गए। माता पार्वती गणेश को अपने दरवाजे पर नियुक्त कर सखियों के साथ अन्दर स्नान करने लगीं। शिवजी द्वार पर आते हैं और भवन में प्रवेश करना चाहते हैं। किन्तु देखते हैं कि वहाँ एक नया बालक दण्ड लेकर खड़ा है, जिसने उन्हें रोक दिया और कहा कि आप इस महल में प्रवेश नहीं कर सकते हैं। शिवजी कहते हैं, 'तुम जानते हो मैं कौन हूँ? बालक कहता है, 'आप कोई भी हों, परमेश्वर भी हों तो मुझे परवाह नहीं है। मैं केवल माता के आदेश का पालन कर रहा हूँ। आप इस भवन में प्रवेश नहीं कर सकते हैं।' शिवजी को क्रोध आया, वे आगबबूला होकर वापस आ गये और अपने गणों से कहा, 'जाओ, देखो वहाँ कौन खड़ा है, जो मेरे प्रवेश को रोक रहा है। उसको सबक सिखाओ। वह नहीं जानता कि उसने किसको रोका है।'

शिवगण जाते हैं, गणेश के साथ उनका युद्ध होने लगता है और गणेश जी सबको मार भगाते हैं। जब शिवगण भगवान शिव के पास वापस आते हैं और शिवजी देखते हैं कि ये सब गण हार कर आए हैं, तब वे स्वयं अपना त्रिशूल लेकर जाते हैं और गणेश के साथ उनका युद्ध होता है। शिवजी अपने त्रिशूल से गणेश का सिर काट देते हैं।

इधर माता पार्वती स्नान करके निकलती हैं तो देखती हैं कि उनके पुत्र गणेश का शव धरती पर पड़ा है, सिर कटा हुआ है, शव खून से लथपथ है। भगवान शिव वहाँ त्रिशूल लेकर खड़े हैं और त्रिशूल से रक्त बह रहा है। माता पार्वती को मालूम पड़ गया कि शिवजी ने ही मेरे बेटे का सिर धड़ से अलग किया है। वे क्रोध से काँपने लगती हैं। कथा में कहा गया है कि जैसे ही वे क्रोध में काँपने लगती हैं, दिशायें डोलने लगती हैं, चारों तरफ हाहाकार मच जाता है। माता पार्वती के शरीर से अग्नि की ज्वालाएँ निकलने लगती हैं और लगता है कि पूरा संसार उससे जल उठेगा। वे अपने विकराल रूप में प्रकट हो जाती हैं और कहती हैं, 'किसने मारा मेरे बेटे को?'

भगवान शिव भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि पार्वती आज क्यों यह विकराल रूप धारण कर पूरे संसार को जलाने के लिए तत्पर हो गयीं हैं। वे कहते हैं, 'मैंने ही इस गण को मारा है, क्योंकि इसने मेरा रास्ता रोक रखा था।' पार्वती कहती हैं, 'यह मेरी सन्तान है, आपने इसे क्यों मारा?' देवता भी शिवजी के पास आकर कहने लगे, 'भगवन्! आदिशक्ति के कोप से हमारी रक्षा कीजिए। इनकी क्रोधाग्नि से त्रिभुवन जल रहा है। प्राणी त्रस्त हो गये हैं। तीनों लोकों में कहीं शान्ति नहीं है। आप माता पार्वती के क्रोध को शान्त कीजिये।' शिवजी कहते हैं, 'इनके क्रोध को शान्त करने का एक ही तरीका है। मुझको फिर से शल्य-क्रिया करनी होगी। शल्य-क्रिया की तैयारी करो।'

शिवजी विशेष दक्षता प्राप्त शल्य-चिकित्सक थे। पहले उन्होंने शल्य-क्रिया द्वारा दक्ष के शरीर में बकरे का सिर लगा दिया था। और अब परिस्थिति बन रही है कि उन्हें फिर से शल्य-क्रिया करनी है। वे अपने गणों को आदेश देते हैं कि तुम लोग जाकर खोजो, आस-पास जिस नवजात शिशु का जन्म हुआ हो, उसके सिर को काट कर ले आओ। मैं उस सिर को इस धड़ से जोड़ दूँगा और जीवन प्रदान करूँगा, तभी माता पार्वती शान्त होंगी।

शिवजी के गण चारों दिशाओं में फैल जाते हैं। शिवजी ने उन्हें संकेत दे रखा था कि इस प्रकार के बालक की खोज करनी है, जो अपनी माँ के साथ हो, जिसका सिर उत्तर दिशा की तरफ हो, और जो विश्राम कर रहा हो। गण चारों दिशाओं में फैल कर ऐसे प्राणी की खोज करते हैं, जो शिवजी के निर्देशानुसार हो। देखते हैं कि एक स्थान में एक हथनी अपने नवजात शिशु के साथ लेटी है। उस नवजात शिशु का सिर उत्तर की ओर है और वह सो रहा है। शिवगण उस हाथी के बालक का सिर काट कर तुरन्त कैलाश की ओर वापस चल पड़ते हैं। कैलाश आकर भगवान शिव को वह सिर प्रदान करते हैं। भगवान शिव हाथी का सिर देखकर कहते हैं, 'कोई बालक नहीं मिला जो हाथी का सिर ले आये!' रुद्रगण कहते हैं, 'हम लोग जिस-जिस दिशा में गये, वहाँ हमें कोई नवजात बालक नहीं मिला, केवल यही मिला, जिसका सिर काट कर हम लाए हैं।'

शिवजी कहते हैं, 'ठीक है, ऑपरेशन थियेटर में ले आओ।' वहाँ वे हाथी के सिर को बालक के शरीर के साथ जोड़ देते हैं और उसको जीवनदान देते हैं। जब हाथी के सिर से युक्त बालक जीवन प्राप्त कर खड़ा होता है, तब सबसे पहले जाकर माता पार्वती को प्रणाम करता है, तत्पश्चात्

आदिदेव शिव को प्रणाम करता है और शिव तथा पार्वती उसको अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करते हैं। शिवजी कहते हैं, 'मैं तुमको अपने सभी गणों तथा देवताओं का अध्यक्ष बनाता हूँ।' गणेशजी को वे दो पद प्रदान करते हैं–गणाध्यक्ष और सर्वाध्यक्ष। माता पार्वती भी गणेशजी को आशीर्वाद देती हैं कि सबसे पहले तुम्हारी पूजा होगी, उसके बाद दूसरों की। ब्रह्मा, विष्णु आदि जो देवता वहाँ उपस्थित थे, सभी गणेश पर पुष्पवर्षा करते हैं। शिवजी को साधुवाद देते हैं। माँ पार्वती के कोप को शान्त कर देवता उनकी अर्चना-आराधना करते हैं। इस प्रकार गणेशजी सर्वाध्यक्ष और प्रथम पूजनीय का वरदान प्राप्त करते हैं।

त्रिपुर संहार

कुमार ने तारकासुर का वध कर दिया, तब तारकासुर के तीन बेटों–तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष ने मेरु पर्वत की कन्दराओं में जाकर ब्रह्माजी को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार की साधनाएँ, अनुष्ठान और तपस्यायें आरम्भ कीं। उनके मन में एक ही भाव है कि अगर हम लोग ब्रह्माजी का वरदान प्राप्त कर अजर-अमर हो जाएँ, तो फिर देवताओं से पिता की मृत्यु का बदला ले सकते हैं। मेरु पर्वत पर वे इतनी कठोर तपस्या आरम्भ करते हैं कि उनकी तपस्या से प्रसन्न हो ब्रह्मा जी प्रकट होकर कहते हैं, 'बोलो क्या चाहते हो, मैं उसे पूरा करने का प्रयास करूँगा।'

तारकाक्ष ने कहा, 'भगवन्! मृत्यु भय हमसे हटा दीजिए। हमें मृत्यु का भय कभी न रहे। हम कभी जरावस्था को प्राप्त न करें। हम अजर-अमर हो जाएँ।'

ब्रह्माजी कहते हैं, 'यह वरदान तो मैंने बहुत बार दिया है और बहुत धोखा खा चुका हूँ। अब मैंने निर्णय कर लिया है कि ऐसा वरदान मैं फिर देने वाला नहीं हूँ। तुम भी इस बात को समझ लो कि जो प्रकृति के अधीन होता है, वह जरा और मृत्यु से मुक्त नहीं हो सकता है। जिसने जन्म लिया है, वह एक दिन बुढ़ापे को प्राप्त करेगा ही, बीमार भी होगा और मृत्यु को भी अवश्य प्राप्त करेगा। जन्म, व्याधि, जरा और मृत्यु, ये जीवन के चार शाश्वत सत्य हैं, इनसे कोई मुक्त नहीं हो सकता है। तुम कुछ और मांगो।'

तब इन तीन भाइयों ने आपस में विचार-विमर्श किया कि हम किस प्रकार अजेय हो सकते हैं, फिर कहा, 'भगवन्! अगर आप हमसे प्रसन्न हैं तो

तारकाक्ष के लिए विश्वकर्मा के द्वारा एक ऐसे स्वर्णमय नगर का निर्माण करा दीजिए, जो आकाश में विचरण करे और देवता भी उसका भेदन न कर सकें। विद्युन्माली के लिए एक चाँदी के नगर का निर्माण करा दीजिए, जो आकाश में स्वतंत्र रूप से विचरण करे और कमलाक्ष के लिए वज्र के समान कठोर लोहे का एक नगर होना चाहिए, जो आकाश में विचरण करेगा। हम लोगों को ऐसा वरदान दीजिए कि साल में एक दिन जब अभिजित् मुहूर्त्त में चंद्रमा पुष्य नक्षत्र पर स्थित होता है, तब ये तीनों पुर आकाश में विचरण करते-करते एक साथ एक पंक्ति में आ जायें। और उसी समय आदिदेव महादेव एक अनोखे बाण से हमारे पुरों का भेदन कर हम लोगों को समाप्त कर सकेंगे, अन्यथा नहीं।'

उन्होंने बहुत सोच-समझ कर निर्णय लिया कि ये तीन पुर, जो आसमान में चारों दिशाओं में इधर-उधर विचरण कर रहे हैं, साल में एक ही बार, जब चंद्रमा पुष्य नक्षत्र में स्थित होता है, तब अभिजित् मुहूर्त में ही एक साथ आयें और एक ही बाण से इन तीनों पुरों का वेधन होना चाहिए, तभी हम लोगों की मृत्यु होगी। ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कह दिया।

नारायण और शिवजी, ये दोनों ब्रह्माजी की गलतियों को सम्भालने में ही अपना समय बिताते हैं और ब्रह्माजी ऐसे हैं, जो किसी को न नहीं कह सकते। किसी ने एक बार उनसे पूछा, 'दैत्यों, दानवों और राक्षसों को भी आप विचित्र-विचित्र वरदान दे देते हैं, जब कि जानते हैं कि ये लोग पूरे संसार को कष्ट देंगे। यह जानकर भी आप इनको वरदान क्यों देते हैं?' ब्रह्माजी ने कहा, 'मैं तो सृष्टिकर्ता हूँ। अगर वरदान भी देता हूँ तो सृष्टिकर्ता के रूप में। विधाता का नियम है देना, इसलिए जो मुझसे मांगता है, देता हूँ। लेकिन अगर कोई मेरे वरदान का गलत उपयोग करता है, तो महाविष्णु और सदाशिव हैं ही, जो मेरी गलती को ठीक कर देते हैं।'

ब्रह्माजी का आदेश पाकर विश्वकर्मा तारकाक्ष के लिए एक स्वर्ण नगरी का, विद्युन्माली के लिए एक रजत नगरी का और कमलाक्ष के लिए एक लौह नगरी का निर्माण करता है। इन तीनों नगरों में प्रवेश कर ये तीन भाई स्वच्छंद रूप से आकाश में विचरण करते हुए पूरे संसार में त्रासदी फैलाते हैं।

जब इन लोगों का दुष्कर्म बढ़ता है और देवता भी इन्हें परास्त नहीं कर पाते, तब सभी ब्रह्माजी के पास पहुँचते हैं कि आपने वरदान दिया, अब आप ही बताइए कि इनका नाश कैसे होगा। ब्रह्माजी कहते हैं, 'भगवान शिव से अनुरोध करो कि वे ही इनका नाश करें। चलो, हम सब भगवान शिव के पास

चलते हैं। वे ही अनुग्रह कर इन तीन पुरों को एक ही बाण से बेधेंगे और इनका नाश होगा।' इस प्रकार ब्रह्माजी देवताओं के साथ भगवान शिव के पास आते हैं और उनसे अनुरोध करते हैं, 'महादेव! आप ही अब इस जगत् की रक्षा कीजिए। आप ही सबको बचाइए। इन तीनों का संहार कीजिए।' शिव जी कहते हैं, 'ये तीनों दैत्य मेरी भक्ति में संलग्न हैं। अपने-अपने पुरों में इन्होंने एक-एक शिवालय का निर्माण किया है और वहाँ नित्यप्रति मेरी अराधना करते हैं। मैं अपने भक्तों को कैसे मार सकता हूँ?'

तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष बहुत चतुर दैत्य थे। उन लोगों ने सोचा कि अपने-अपने नगरों में हम शिव जी की आराधना करेंगे, उनके भक्त बनेंगे तो शिवजी हम लोगों से कभी नाराज नहीं होंगे। वे हमें मारेंगे नहीं, भक्त वत्सल हैं, उनकी कृपा हमें प्राप्त होगी।

ब्रह्माजी ने शिवजी से कहा, 'प्रभु! आप ही कुछ उपाय कीजिए।' तब शिवजी महाविष्णु से कहते हैं, 'विष्णु! तुम एक विप्र का रूप बना लो और उनकी नगरी में जाओ, जो अभेद्य है। वहाँ उनको शिव आराधना से विमुख करो। जिस दिन वे लोग शिव आराधना से विमुख हो जायेंगे, उस दिन से उन्हें मेरा आश्रय प्राप्त नहीं होगा और मैं उनका संहार कर दूँगा।'

शिव के इस आदेश से विष्णु एक विप्र का रूप धारण कर आकाश में विचरण करते हुए इन तीन पुरों में जाते हैं। वहाँ दैत्यों को शिव आराधना से विमुख करते हैं और पदार्थ की बड़ाई कर उनकी भावना को ईश्वर से हटाकर, शरीर के साथ जोड़ देते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि विष्णु का वही रूप चार्वाक था। कुछ लोग अन्य नाम देते हैं। लेकिन अध्ययन के पश्चात् हमने जो समझा है, उससे लगता है कि विष्णु का रूप चार्वाक का ही था, क्योंकि वे वहाँ जाकर कहते हैं, 'भाई, ऐसे ईश्वर की आराधना क्यों करनी, जिसे तुम कभी प्राप्त नहीं कर पाओगे। तुम लोग तो महान् योद्धा हो, शक्तिशाली हो, अपना-अपना ख्याल करो। धन-सम्पत्ति एकत्र करो। त्याग-साधना को भूल जाओ और इच्छा तथा काम, जो तुम्हारे भीतर हैं, उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करो। उनके साथ रहकर महाविष्णु कुछ समय तक उनको ऐसी शिक्षा देते हैं, जिसमें शरीर और इन्द्रियों को ही प्रधान माना गया और इन्द्रिय सुख को ही अन्तिम सत्य माना गया।

विष्णु की इस माया से मोहित होकर सभी दैत्य शिव आराधना का त्याग कर देते हैं। जैसे ही ये दैत्य शिव आराधना का त्याग करते हैं, शिवजी कहते

हैं कि अब मैं इनके संहार के लिए तैयार हूँ। लेकिन मुझे एक रथ चाहिए, जिस पर बैठकर मैं युद्ध कर सकूँ। मुझे अस्त्र-शस्त्र चाहिए, जिनके द्वारा मैं इन तीनों पुरों को भेद सकूँ। तब विश्वकर्मा ने एक सुन्दर, दिव्य, ज्योर्तिमय रथ और पाशुपत अस्त्र का निर्माण किया। ब्रह्माजी उस दिव्य रथ और पाशुपतास्त्र को भगवान शिव के सम्मुख लाते हैं और कहते हैं, 'ये अस्त्र और रथ आपके लिए हैं। आप रथ पर सवार हो जाइये।' तब शिवजी कहते हैं, 'रथ पर सवार होने के पहले मुझे देवों तथा अन्य प्राणियों के पशुत्व की कल्पना कर उन पशुओं का आधिपत्य प्रदान कीजिए, तभी मैं रथ पर सवार होऊँगा।' ब्रह्माजी कहते हैं, 'प्रभु! आप तो स्वयं पशुपति हैं। आप के मुख से शिक्षा प्राप्त हुई है कि समस्त त्रिलोक में जितने प्राणी हैं, सबका स्वरूप पशु का है, और आप ही एक पति हैं, सबके परमेश्वर हैं।' शिवजी कहते हैं, 'ब्रह्मा, वह तो मैंने कहा है। लेकिन अभी देवताओं, दैत्यों, मानवों या इस सृष्टि की अन्य जातियों ने मुझे स्वेच्छा से अधिकार नहीं दिया है। जब तक वे स्वेच्छा से प्रेरित होकर मुझे पशु का आधिपत्य प्रदान नहीं करेंगे, मैं युद्ध नहीं करूँगा। तब ब्रह्माजी कहते हैं, 'भगवन्! जैसी आपकी इच्छा।'

उस समय ब्रह्माजी के आदेश के अनुसार त्रिलोक में भगवान शिव को पशुपति के रूप में स्वीकार किया गया। सभी ने इस पशुपति स्तोत्रम् से भगवान शंकर की आराधना की।

स पातु वो यस्य जटाकलापे स्थित: शशांक: स्फुटहारगौर: ।
नीलोत्पलानामिव नालपुञ्जे निद्रायमाण: शरदीव हंस: ।।1।।

जगत्सिसृक्षाप्रलय-क्रियाविधौ प्रयत्नमुन्मेष-निमेषविभ्रमम् ।
वदन्ति यस्येक्षण-लोलपक्ष्मणां पराय तस्मै परमेष्ठिने नम: ।।2।।

व्योम्नीव नीरदभर: सरसीव वीचि-व्यूह: सहस्त्रमहसीव सुधांशुधाम ।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये व: ।।3।।

य: कन्दुकैरिव पुरन्दरपद्मसद्म-पद्मापति-प्रभृतिभि: प्रभुरप्रमेय: ।
खेलत्यलंघ्य-महिमा स हिमाद्रिकन्या-कान्त: कृतान्तदलनो गलयत्वघं व: ।।4।।

दिश्यात् स शीतकिरणाभरण: शिवं वो यस्योत्तमांगभुवि विस्फुरदुर्मिपक्षा ।
हंसीव निर्मल-शशांक-कलामृणाल-कन्दार्थिनी सुरसरिन्निभत: पपात ।।5।।

त्रिलोकी के सभी देवता तथा प्राणी भगवान शिव के पशु बने और पशुत्व रूपी पाश से विमुक्त करने वाले शिव पशुपति बने। तभी से इस संसार में शिव पशुपति के नाम से प्रसिद्ध हुए, क्योंकि उन्होंने सभी देवताओं और प्राणियों से उनके भीतर के पशुत्व का स्वामित्व पद मांग लिया है, और सभी ने उनको सहज भाव से दे भी दिया।

अब भगवान शिव पशुपति के रूप में प्रत्यंचा चढ़ा कर रथ पर अचल भाव से खड़े हो जाते हैं और अभिजित् मुहूर्त में तीनों पुरों के आकाश में विचरण करते-करते एक पंक्ति में आने की प्रतीक्षा करते हैं। जैसे-जैसे समय नजदीक आता है, तीनों पुर आकाश में दिखायी देने लगते हैं। धीरे-धीरे उनको नजदीक आते देखा जाता है। विष्णु कहते हैं, 'प्रभु! अब बाण चढ़ा लीजिए, तीनों पुर एक पंक्ति में आ रहे हैं।' और ठीक समय पर, अभिजित् मुहूर्त्त में जब तीनों पुर एक-दूसरे की सीध में होते हैं, पहले स्वर्ण पुर, फिर रजत पुर, फिर लौह पुर, तब आदिदेव महादेव पाशुपतास्त्र नामक बाण का संधान करते हुए उन तीनों पुरों को भस्म कर देते हैं। पुरों के साथ ही तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली भी अपनी सेनाओं सहित भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान देवताओं के कार्य को सम्पन्न कर जय घोष के बीच अपने धाम कैलाश को लौट आते हैं।

गणेश विवाह

समय बीतता है। कैलाश में दोनों बालक, कार्त्तिकेय और गणेश क्रीड़ा कर रहे हैं। उन दोनों को देखकर शिव और पार्वती अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, उन्हें बाल सुख की प्राप्ति होती है। जब दोनों बालक विवाह के योग्य होते हैं, तब दोनों में बातचीत होती है कि भईया पहले मैं शादी करूँगा तब आप करना। इनकी बातों को सुनकर शिवजी सोचने लगते हैं कि किसकी शादी पहले हो। काल की दृष्टि से देखा जाए, तो कार्त्तिकेय बड़े हैं। उनका जन्म गणेश से पूर्व हुआ। बारह साल की अवस्था में कार्त्तिकेय देवताओं के सेनापति बने थे और तारकासुर का नाश किया था। उसके बाद ही गणेशजी का जन्म हुआ। इसलिए अगर काल गणना के हिसाब से देखा जाए, तो कार्त्तिकेय गणेशजी से करीब 12-13 साल बड़े जरूर रहे होंगे। नियम के अनुसार शादी तो पहले उनकी होनी चाहिए। लेकिन गणेशजी को सर्वाध्यक्ष का पद दिया गया, वे सभी देवताओं में प्रमुख हैं, पहली पूजा भी उन्हीं की होती है, और वे भी हठ

कर रहे हैं कि मेरी शादी पहले होगी। अब गणेशजी की बात को टालना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे सर्वाध्यक्ष हैं, गणाध्यक्ष हैं।

बालकों की हठ को सुनकर शिव-पार्वती सोचने लगते हैं कि इसका समाधान कैसे किया जाए। उनके मन में एक विचार आता है, शिवजी पार्वती से कहते हैं, 'हम लोग बच्चों से कहते हैं कि जो इस पृथ्वी की परिक्रमा तीन बार करके पहले घर लौटेगा, उसी का विवाह पहले करेंगे।' फिर उन्होंने यह बात कार्त्तिकेय और गणेश को कह दी। कार्त्तिकेय ने कहा, 'मुझे तो कोई परेशानी है ही नहीं। मेरी सवारी मयूर है, वह उड़ने की क्षमता रखता है। मैं उड़कर तीन परिक्रमा कर लूँगा।' गणेशजी को चिन्ता हो गयी। उन्होंने सोचा कि मैं क्या करूँ, एक तो ऐसे ही सर्वाध्यक्ष बन कर सब देवताओं के निमंत्रण पर उनकी पार्टी में जा-जाकर मेरा वजन बढ़ गया है; और मेरा वाहन है, एक छोटा-सा चूहा। पता नहीं मेरे वजन को सम्भाल कर वह पृथ्वी की तीन परिक्रमा कर पायेगा या नहीं। लगता है कि मेरे भाई कार्त्तिक ही प्रतिस्पर्धा जीत लेंगे।

गणेशजी और कार्त्तिकेयजी इस प्रकार सोचते-सोचते अपने आपको इस मैराथन के लिए तैयार करते हैं। उनका प्रशिक्षण शुरू हो रहा है। जब अभ्यास सत्र में कार्त्तिकेयजी का मयूर एक मिनट में आधा किलोमीटर जाता है, तब तक गणेशजी का वाहन मूसक केवल दस गज जा पाता है। अब गणेशजी को और चिन्ता हो गयी कि कार्त्तिकेयजी तो अपने मयूर पर उड़कर तुरन्त परिक्रमा करके आ जायेंगे। लगता है, मैं हार गया। लेकिन गणेशजी बुद्धि के धनी हैं, शास्त्रों के ज्ञाता हैं; उन्होंने सोचा, 'ठीक है, कोई-न-कोई उपाय हम निकालेंगे ही।' दिन आता है, गणेशजी और कार्त्तिकेयजी दौड़ के प्रारम्भिक बिन्दु पर खड़े हो जाते हैं। शिवजी कहते हैं, जिस समय मैं अपना त्रिशूल धरती पर भोंकूँ, उसी समय तुम दोनों दौड़ लगाना शुरू करना। सब तैयार है, शिवजी ने यह संकेत दिया कि कार्त्तिकेयजी अपने मयूर की पीठ पर सवार होकर उड़ गये। गणेशजी खड़े रहे। उनकी बुद्धि का प्रताप देखिए, उन्होंने दो आसन स्थापित किये। फिर माता-पिता के पास जाकर कहा, 'भगवन्! आप दोनों यहाँ आकर आसन पर बैठ जाइए।'

शिव-पार्वती गणेशजी के कथनानुसार उनके द्वारा बतलायी गयी शिला पर बैठ जाते हैं और कहते हैं, 'क्या चाहते हो? क्या करोगे? तुमको तो जाना चाहिए। कुमार बहुत आगे निकल गया है। वह अभी एशिया को पार कर यूरोप

के ऊपर उड़ रहा है, और तुम अभी तक कैलाश में ही हो।' गणेशजी कहते हैं, 'बस, एक मिनट का ही काम है, आप लोग बैठिये। मैं अभी आता हूँ।' वे अपने भवन में गये और एक थाली में धूप, दीप, अगरबत्ती, फल, फूल आदि पूजा की सामग्री लेकर भगवान के सामने आ गये। भगवान शिव और माता पार्वती गणेशजी को देखते रहे कि यह बेटा क्या कर रहा है। गणेशजी सबसे पहले माता और पिता की पूजा-आराधना करते हैं, उसके पश्चात् माता-पिता की तीन परिक्रमा कर लेते हैं और उनके सामने चुपचाप हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं।

कुछ समय बीतता है, माता पार्वती कहती हैं, 'बेटा, तुम पृथ्वी की परिक्रमा करने नहीं जा रहे हो, तीन परिक्रमायें करनी हैं न? गणेशजी कहते हैं, 'मातेश्वरी, परिक्रमा तो मैंने कर ली।' 'कैसे?' 'शास्त्रों में कहा गया है कि अगर माता-पिता की परिक्रमा कर ली जाए तो उसका उतना ही महत्त्व एवं पुण्य होता है जितनी पृथ्वी की परिक्रमा का। मैंने आपकी तीन परिक्रमायें कीं, अर्थात् धरती की तीन परिक्रमायें हो गयीं। जब माता-पिता आप हैं; सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता आप हैं, तब फिर आपकी परिक्रमा से ही पूरी पृथ्वी की परिक्रमा हो गयी। अब शीघ्र ही मेरा विवाह कर दीजिए।' शंकरजी मुस्कुरा पड़े और बोले, 'वाह गणेश! तुम्हारे जैसा चतुर तो मैंने आज तक किसी को देखा ही नहीं। विवाह की तैयारी करो।' उन्होंने विश्वरूप नामक प्रजापति की दिव्यरूप-सम्पन्न दो कन्याओं, ऋद्धि और सिद्धि का विवाह गणेशजी के साथ कैलाश में करवा दिया। गणेशजी इन दोनों के साथ आनन्द से अपना जीवन बिताने लगे।

द्वापर में मल्लिकार्जुन

कार्तिकेयजी कुछ समय बाद अपनी परिक्रमा पूरी करके लौटते हैं, तो माता-पिता की बगल में उन्हें गणेशजी खड़े दिखायी देते हैं। कार्त्तिकेय को लगा, गणेश कैसे यहाँ पहुँच गये! पहले तो मैं उड़ कर गया था। और अगर गणेशजी उस समय चले होते, तो मेरी गणना के अनुसार अभी तक हिमालय की तराई में रहते। लेकिन ये यहाँ कैसे? उन्होंने माता-पिता के चरणों में प्रणाम करने के पश्चात् गणेश से पूछा, 'तुम कब लौटे?' गणेशजी कहते हैं, 'मैं तो गया ही नहीं, तो लौटूँगा कहाँ से।' 'अरे! तुम गये नहीं, तो मैं हारा कैसे? यह कैसे सम्भव हुआ?' तब गणेशजी रहस्योद्घाटन करते हैं, 'भईया, आप पृथ्वी की

परिक्रमा करने के लिए इतने जोश में थे कि असली चीज तो भूल ही गये कि माता-पिता ही धरती का रूप होते हैं, वे ही ईश्वर का रूप होते हैं, वे ही हर रूप में विद्यमान हैं, और जो माता-पिता की परिक्रमा कर लेता है, वह त्रिभुवन की परिक्रमा कर लेता है। इसलिए भईया! मैंने तो माता-पिता की परिक्रमा कर ली और दो कन्याओं से मेरी शादी भी हो गयी है।'

कार्त्तिकेय ने जब यह बात सुनी, उन्हें बहुत क्रोध आया। उन्होंने सोचा, मेरे साथ धोखा हुआ है। मेरे माता-पिता और भाई ने मुझसे छल किया है। अब मैं कैलाश में नहीं रह सकता, मैं दूर चला जाता हूँ। यह सोचकर वे उल्टे पाँव वापस आते हैं और मयूर पर सवार होकर दक्षिण भारत में क्रौंच पर्वत पर चले आते हैं। वहाँ वे अपनी कुटिया बनाकर साधु-संतों और संन्यासियों के साथ सत्संग, शिव आराधना और शिव योग के प्रचार में अपना समय बिताते हैं। वे भूले नहीं हैं कि शिव ही परम इष्ट हैं और जगत् जननी माँ ही जगदम्बा हैं। उनको नाराजगी केवल इस बात से है कि गणेश ने उनके साथ छल किया है, दुनिया का चक्कर न लगाकर उसने केवल अपने माता-पिता का चक्कर लगाया है। इसी बात से वे खफा थे। लेकिन उनके भीतर अपने माता-पिता के प्रति अटूट श्रद्धा और भक्ति थी। उन्हीं की शिक्षा का विस्तार वे क्रौंच पर्वत पर रह कर अन्य जनजातियों के बीच करते रहे।

इधर ऋद्धि और सिद्धि से गणेशजी के दो पुत्र होते हैं–क्षेम और लाभ। शुभ-लाभ। इसलिए जब भी कोई शुभ काम होता है, तब लोग स्वस्तिक का चिह्न बनाकर अगल-बगल शुभ और लाभ लिखते हैं, ताकि गणेशजी के पुत्रों का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त हो।

जब कार्त्तिकेय कैलाश छोड़कर क्रौंच पर्वत पर आकर शिव आराधना में लीन रहने लगते हैं, तब भगवान शिव व माता पार्वती भी कार्त्तिकेय का स्मरण करते हैं, कहते हैं, वह तो नाराज हो गया। चलो, हम लोग उसे मनाकर वापस घर ले आते हैं। ऐसा निर्णय लेकर शिव और पार्वती, दोनों क्रौंच पर्वत पर आते हैं। वहाँ कार्त्तिकेय से कहते हैं, वापस चलो। कार्त्तिकेय उनकी बात मानने को तैयार नहीं होते, कहते हैं–मैं नहीं जाऊँगा। जब शिवजी और पार्वती बहुत जिद्द करते हैं कि तुमको चलना चाहिए, यह अच्छा नहीं है कि तुम यहाँ रहो और हम लोग प्रतिदिन कैलाश में तुम्हारा स्मरण करते रहें। तब कार्त्तिकेयजी और नाराज हो जाते हैं। कहते हैं, 'भगवन्! मैंने अपने घर का त्याग कर दिया है, आप मुझसे बार-बार क्यों वापस चलने को कह रहे हैं?

और अब तो आपको मालूम पड़ गया कि क्रौंच पर्वत में मेरा निवास है, लगता है कि अब यहाँ पर भी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी, बार-बार आपका संदेश आता रहेगा। मैं यहाँ से भी चलता हूँ।' ऐसा कहकर वे चले जाते हैं और क्रौंच पर्वत से भी बारह कोस दूर जाकर अपनी कुटिया का निर्माण करते हैं।

जब पार्वती और शिव देखते हैं कि कार्त्तिकेय तो वापस कैलाश आने वाले नहीं हैं, तब वे निर्णय लेते हैं कि हम ही यहाँ निवास करेंगे; और वे क्रौंच पर्वत पर ही ज्योतिर्मय स्वरूप धारण कर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। भगवान शिव और पार्वती का वह ज्योतिर्मय स्वरूप मल्लिकार्जुन के नाम से जाना जाता है। मल्लिका माता पार्वती का नाम है और अर्जुन सदाशिव का। मल्लिकार्जुन का अर्थ हुआ, जहाँ पार्वती और शिव, दोनों एक साथ विद्यमान हैं। शिवजी अपने पुत्र के समीप रहने के लिए समय-समय पर कैलाश से आते रहते हैं। आज भी यह घटना घटती है, क्योंकि क्रौंच पर्वत पर एक विशेष दिन, शिवरात्रि के समय दो श्वेत कबूतर, एक नर और एक मादा, मल्लिकार्जुन आते हैं। एक दिन उनका निवास वहाँ होता है, और फिर वे उड़ जाते हैं। कहाँ जाते हैं, किसी को मालूम नहीं। लेकिन साल में एक दिन वहाँ शिव और शक्ति कबूतर के रूप में अपने पुत्र कार्त्तिकेय से भेंट करने के लिए अवश्य आते हैं।

भगवान का दर्शन किसको किस रूप में हो जाए, क्या मालूम। यह कोई जरूरी नहीं कि उनका स्वरूप आपके सामने प्रकट हो जाए और आप उनको देखें, क्योंकि ईश्वर तो लीलाधर हैं, वे किसी भी रूप में आ सकते हैं। अगर एक पक्षी के रूप में भी आते हैं तो आप उसे अपना सौभाग्य समझिए कि आपने उस रूप में प्रभु का दर्शन किया है।

अन्धकासुर

कैलाश में शिव और पार्वती क्रीड़ा, विहार और भ्रमण करते हुए अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। एक दिन माता पार्वती ने कहा, 'भगवन्! सृष्टि के आदिकाल में आपने जिस अविमुक्त क्षेत्र का निर्माण किया था, सृष्टि के पश्चात् आपने उसे कहाँ पर स्थापित किया है?' भगवान कहते हैं, 'वह अविमुक्त क्षेत्र, जो पाँच कोस का नगर है, इस वक्त काशी के नाम से जाना जाता है। वह दो नदियों, वारा और असी के बीच स्थित हुआ है। लोग उसको वाराणसी के नाम से भी जानते हैं। लेकिन वाराणसी उसका भौतिक स्वरूप है। उसका सूक्ष्म स्वरूप, जो पाँच कोस का नगर है, वहीं पर सूक्ष्म रूप में

स्थित है।’ माता पार्वती कहती हैं, ‘भगवन्! एक बार उस अविमुक्त क्षेत्र को देखने की इच्छा है।’ भगवान कहते हैं, ‘चलो, हम लोग वहाँ चलते हैं। वहाँ भी कुछ समय बितायेंगे, लीला करेंगे।’ वे पार्वती को लेकर काशी आ जाते हैं। काशीपुरी का रक्षक भैरव को बनाते हुए उससे कहते हैं, ‘जब तक हम यहाँ हैं, तुम काशी के रक्षक बनकर यहाँ विराजमान् रहो।’

शिव जी माता पार्वती के साथ अपना कुछ समय उस अविमुक्त क्षेत्र में बिताते हैं। फिर एक दिन वे माता पार्वती के साथ घूमते-घूमते मन्दराचल की ओर जाते हैं। मन्दराचल बिहार में, बाँका के पास है। वहाँ पहुँचकर कहते हैं, यहाँ थोड़ा विश्राम करेंगे। वे एक शिला पर बैठ कर चारों तरफ देखते हैं। इस समय माता पार्वती भगवान शिव के साथ कुछ विनोद करना चाहती हैं। वे कोई बहाना खोजकर भगवान शिव के पीछे आती हैं और अपने हाथों से उनके तीनों नेत्रों को बन्द कर देती हैं।

भगवान शिव के नेत्रों के मुन्द जाने के कारण चारों तरफ घोर अन्धकार छा जाता है, कुछ दिखलायी नहीं देता। उस समय शिव जी के कपाल से पसीने की कुछ बूँदें जमीन पर गिर गयीं और उन बूँदों से वहाँ एक जीव प्रकट हुआ। वह जीव बड़ा ही कुरूप था। उसकी आँखें नहीं थीं। एकदम श्वेत रंग का था। जैसे कोई अंधेरे में रहे और सूर्य की किरण उसके शरीर पर न पड़े तो चमड़े का रंग बदल जाता है। श्वेत रंग चमड़े में दिखलाई देने लगता है, उसी प्रकार का रंग था। जब शिवजी के स्वेद से इस प्रकार का जीव जन्म लेता है और उसके भयंकर, विकराल रूप को देखकर माता पार्वती घबरा जाती हैं, तब अपना हाथ शिव जी के नेत्रों से हटा लेती हैं और उनसे कहती हैं, ‘प्रभु! यह कैसे जीव ने जन्म लिया है?’

भगवान कहते हैं, ‘पार्वती, यह तुम्हारी ही सन्तान है, और मैं इसका नाम दे रहा हूँ अन्धकासुर, क्योंकि इसका जन्म अंधेरे में हुआ है। जब तुमने क्रीड़ावश मेरी आँखों को बन्द किया था, तब निश्चित रूप से पूरे त्रिलोक में अन्धकार हो गया था, क्योंकि मेरा ही एक नेत्र सूर्य है, दूसरा नेत्र सोम या चन्द्रमा है और तीसरा नेत्र अग्नि है। सोम, सूर्य और अग्नि, ये तीनों ही प्रकाश कारक होते हैं। अग्नि से प्रकाश निकलता है, सूर्य से प्रकाश निकलता है, और चन्द्रमा से भी प्रकाश निकलता है। जब तुमने मेरी तीनों आँखों को बन्द कर दिया था, तब त्रिभुवन में घोर अन्धकार छाया हुआ था। उसी समय इस अन्धक का जन्म हुआ, इसलिए यह अन्धा है, देख नहीं

सकता है। चूँकि अंधकार में इसका जन्म हुआ है, इसलिए इसके शरीर का रंग भी विचित्र है। तुम इसको उत्पन्न करने वाली हो, इसलिए पुत्र की भाँति तुम इसकी रक्षा करना।

माता पार्वती उस अंधक कुमार को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करती हैं। उसी समय हिरण्यकश्यप का भाई हिरण्याक्ष पुत्र की कामना लेकर मंदराचल में शिव की आराधना करने उसी वन में आया हुआ था। वहाँ वह कठोर तपस्या कर रहा था। भगवान शिव उसकी तपस्या से प्रसन्न हो गये और उसके सामने माता पार्वती के साथ उपस्थित हो गये। पूछा, 'क्या चाहिए। इतनी कठोर तपस्या क्यों कर रहे हो?' हिरण्याक्ष कहता है, 'प्रभु! मैं एक संतान की कामना से तपस्या कर रहा हूँ।' भगवान शिव कहते हैं, 'हिरण्याक्ष, विधाता ने तुमको पुत्र नहीं दिया है। तुम्हारा कोई वीर्य पुत्र नहीं होगा। लेकिन तुम पुत्र का वरदान माँग रहे हो, इसलिए मैं तुमको अपना पुत्र देता हूँ।' और उन्होंने अन्धकासुर को हिरण्याक्ष के सामने रख दिया। हिरण्याक्ष प्रसन्न हो गया। उसने कहा, 'ठीक है, मेरे वीर्य से न सही, पर आपने तो एक पुत्र दे दिया।' वह अंधकासुर को लेकर अपने स्थान को चला गया।

कुछ समय बाद हिरण्याक्ष पूरी धरती को ही उठाकर समुद्र के गर्भ में ले गया और उसे छुपा दिया। तब महाविष्णु वाराह का रूप लेकर समुद्र के अंदर प्रवेश करते हैं। हिरण्याक्ष के साथ उनका युद्ध होता है। वे हिरण्याक्ष को मार कर पृथ्वी को पुनः जल के ऊपर ले आते हैं और उसे स्थिर बना देते हैं। फिर वे अन्धक को असुर राज्य का सम्राट् बनाकर उसका राज्याभिषेक करते हैं। अन्धक बहुत समय तक राज्य करता है। लेकिन जब अन्धक को खबर मिलती है कि उसके चाचा, हिरण्यकश्यप को भी महाविष्णु ने नृसिंह रूप लेकर मार दिया है और उसके पुत्र प्रहलाद को राजगद्दी दी है, तब उसके मन में क्रोध उत्पन्न होता है कि ये सभी देवता असुरों को तंग करने और उनसे उनका अधिकार छीनने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं, असुरों को अपने अधिकार से हमेशा वंचित रखते हैं और बढ़ने नहीं देते।

इस प्रकार का भाव रखकर वह सोचने लगता है कि मैं किसके साथ युद्ध कर अपने पिता और चाचा की मृत्यु का बदला लूँ। अब चूँकि वह आक्रोश में था, वह भूल गया कि मैं पार्वती द्वारा पोषित शिव पुत्र हूँ। उसके मन में देवताओं के प्रति, महाविष्णु के प्रति द्वेष हो गया। उसने सोचा कि महाविष्णु हमेशा शिव का आश्रय लेते हैं और शिव हमेशा महाविष्णु का। क्यों न मैं

पहले शिव से ही युद्ध करूँ। शिव को परास्त कर फिर मैं महाविष्णु के साथ युद्ध करूँगा। इस विचार से अन्धक अपनी सेना के साथ कैलाश पर्वत पर आक्रमण करता है।

जब अन्धकासुर की सेना कैलाश पहुँचती है तब शिव गणों के साथ उसका भयंकर युद्ध होता है। लेकिन अंधकासुर भी कम नहीं था, उसने शिव के स्वेद से जन्म लिया था। वह भी महाप्रतापी, महापराक्रमी और महाबलवान्, एक प्रकार से कहा जाए कि वह शिवांश ही था। उसके सामने रुद्रगण क्या कर पाते! वे तितर-बितर होकर भागने लगे, तब माता पार्वती के शरीर से भी अनेक रूपों में शक्ति प्रकट होती है और शिवगणों के साथ मिलकर दैत्य सेना के साथ उनका युद्ध होता है। वह युद्ध इतना भीषण था कि उसकी आवाज सुनकर स्वयं शिवजी आ जाते हैं। शिवजी के साथ अन्धक का युद्ध होता है। लेकिन अन्धक की सहायता कर रहे थे शुक्राचार्य। शुक्राचार्य दानवों के गुरु रहे हैं। वे भी एक सिद्ध पुरुष हैं। जो भी दैत्य मरते, वे शुक्राचार्य के उपचार से शीघ्र ही स्वस्थ होकर पुन: युद्ध भूमि में आ जाते।

जब शिवजी देखते हैं कि शुक्राचार्य के कारण दैत्य सेना समाप्त ही नहीं हो रही है, तब वे शुक्राचार्य को अपने मुँह में डाल कर निगल लेते हैं। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। इधर माता पार्वती काली रूप में आकर समस्त दैत्य सेना का संहार करती हैं और उनका रक्त पी लेती हैं। इसी समय शिवजी अपना त्रिशूल अन्धकासुर के शरीर में भोंक देते हैं, लेकिन अन्धक भी शिव पुत्र था। त्रिशूल उसके शरीर में पूरा घुस जाता है, लेकिन वह मरता नहीं है। त्रिशूल के आघात से अन्धकासुर का सारा रक्त बाहर निकल जाता है, मात्र हड्डी और चर्म शेष रहता है। रक्त के बह जाने से अन्धक की मति भी शुद्ध एवं सात्त्विक हो जाती है। त्रिशूल पर लटके-लटके ही वह भगवान की स्तुति करता है–

कृत्स्नस्य योऽस्य जगत: सचराचरस्य कर्ता कृतस्य च तथा सुखदु:खहेतु: ।
संहारहेतुरपि य: पुनरन्तकाले तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥1॥

यं योगिनो-विगतमोह-तमोरजस्का भक्त्यैकतान-मनसो विनिवृत्तकामा: ।
ध्यायन्ति निश्चलधियोऽमितदिव्यभावं तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥2॥

यश्चेन्दु-खण्डममलं विलसन्मयूखं बद्ध्वा सदा प्रियतमां शिरसा बिभर्ति ।
यश्चार्ध-देहमददाद् गिरिराजपुत्र्यै तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥3॥

योऽयं सकृद्विमलचारु-विलोलतोयां गंगां महोर्मिविषमां गगनात् पतन्तीम् ।
मूर्ध्नाऽददे स्रजमिव प्रतिलोलपुष्पां तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥4॥

कैलासशैल-शिखरं प्रतिकम्प्यमानं कैलासशृंग-सदृशेन दशाननेन ।
यः पादपद्म-परिवादनमादधानस्तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥5॥

येनासकृद् दितिसुताः समरे निरस्ता विद्याधरोरगगणाश्च वरैः समग्राः ।
संयोजिता मुनिवराः फलमूलभक्षास्तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥6॥

दग्ध्वाध्वरं च नयने च तथा भगस्य पूष्णस्तथा दशनपंक्तिमपातयच्च ।
तस्तम्भ यः कुलिशयुक्त-महेन्द्रहस्तं तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥7॥

एनस्कृतोऽपि विषयेष्वपि सक्तभावा ज्ञानान्वयश्रुत-गुणैरपि नैव युक्ताः ।
यं संश्रिताः सुखभुजः पुरुषा भवन्ति तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥8॥

अत्रिप्रसूति-रविकोटिसमानतेजाः संत्रासनं विबुधदानव-सत्तमानाम् ।
यः कालकूटमपिबत् समुदीर्णवेगं तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥9॥

ब्रह्मेन्द्ररुद्रमरुतां च सषण्मुखानां योऽदाद् वरांश्च बहुशो भगवान् महेशः ।
नन्दिं च मृत्युवदनात् पुनरुज्जहार तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥10॥

आराधितः सुतपसा हिमवन्निकुञ्जे धूम्रव्रतेन मनसाऽपि परैरगम्यः ।
सञ्जीवनी समददाद् भृगवे महात्मा तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥11॥

नानाविधैर्गजबिडाल-समानवक्त्रैर्दक्षाध्वर-प्रमथनैर्बलिभिर्गणौघैः।
योऽभ्यर्च्यतेऽमरगणैश्च सलोकपालैस्तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥12॥

क्रीडार्थमेव भगवान् भुवनानि सप्त नानानदी-विहगपादप-मण्डितानि ।
सब्रह्मकानि व्यसृजत् सुकृताहितानि तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥13॥

यस्याखिलं जगदिदं वशवर्ति नित्यं योऽष्टाभिरेव तनुभिर्भुवनानि भुंक्ते ।
यः कारणं सुमहतामपि कारणानां तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥॥14॥

शंखेन्दु-कुन्दधवलं वृषभप्रवीरमारुह्य यः क्षितिधरेन्द्र-सुतानुयातः।
यात्यम्बरे हिमविभूति-विभूषितांगस्तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥15॥

शान्तं मुनिं यमनियोगपरायणं तैर्भीमैर्यमस्य पुरुषैः प्रतिनीयमानम् ।
भक्त्या नतं स्तुतिपरं प्रसभं ररक्ष तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥16॥

यः सव्यपाणि-कमलाग्रनखेन देवस्तत् पञ्चमं प्रसभमेव पुरः सुराणाम् ।
ब्राह्मं शिरस्तरुणपद्मनिभं चकर्त तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥17॥

यस्य प्रणम्य चरणौ वरदस्य भक्त्या स्तुत्वा च वाग्भिरमलाभिरतन्द्रिताभिः।
दीप्तैस्तमांसि नुदते स्वकरैर्विवस्वां स्तं शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि ॥18॥

अन्धक की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान शंकर पूछते हैं, 'तुम चाहते क्या हो?' अन्धक कहता है, 'भगवन्! एक ही प्रार्थना है, सदैव मुझे इसी त्रिशूल में ही पिरोए रहने दीजिए, ताकि इस त्रिशूल के ताप से मेरे शरीर के दोष और विकार जलकर भस्म हो जाएँ और मैं शुद्ध शरीर प्राप्त करूँ।' भगवान कहते हैं, 'तथास्तु'।

इस बीच शुक्राचार्य, जिन्हें शिवजी ने निगल लिया था, उनके शरीर के भीतर चक्कर काट रहे हैं। उनको मालूम भी नहीं कि बाहर क्या हो रहा है। शिवजी ने शुक्राचार्य को अपने पेट रूपी कालकोठरी में बंद कर दिया था और वे बाहर निकलने का मार्ग खोज रहे थे। खोजते-खोजते वे भगवान के लिंग से बाहर निकलते हैं। जब वे बाहर निकले तब भगवान कहते हैं, 'आज से तुम्हारा नाम शुक्राचार्य हुआ।' चूँकि वे भगवान शंकर के लिंग से बाहर प्रकट हुए, इसलिए भगवान शिव ने उनको नाम दिया शुक्राचार्य और कहा, 'अब तुम मेरी संतान के रूप में हो, बोलो मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ।'

शुक्राचार्य दैत्यों के कुलगुरु रहे हैं। उन्होंने कहा, 'भगवन्! आप महादेव हैं, आप ही मुझे मृत संजीवनी विद्या प्रदान कर सकते हैं। मुझे मृत संजीवनी विद्या का ज्ञान दीजिए।' तब भगवान शिव शुक्राचार्य को मृत संजीवनी विद्या का ज्ञान प्रदान करते हैं और पुनः कैलाश आ जाते हैं।

गजासुर

जगत् जननी माँ दुर्गा ने इस बीच महिषासुर का वध किया। महिषासुर का एक बेटा था, गजासुर। उसका शरीर हाथी जैसा था। जब गजासुर को मालूम पड़ा कि देवी ने मेरे पिता का संहार किया है, तब वह घोर तपस्या कर ब्रह्माजी को प्रसन्न करता है और उनसे आशीर्वाद लेता है कि मेरी मृत्यु किसी ऐसे पुरुष या स्त्री से न हो जो काम के वश में है। अगर मेरा वध होना है तो ऐसे व्यक्ति से हो जिसने काम पर विजय प्राप्त की है।

ब्रह्माजी ने वरदान दे दिया और यह वरदान प्राप्त कर गजासुर ने उन्मत्त गज की भाँति पूरे संसार को अपने अधीन करना आरम्भ किया। इसी क्रम में एक दिन उसने काशी पर भी चढ़ाई कर दी। काशी में भैरव के साथ गजासुर का भयंकर युद्ध हुआ, लेकिन गजासुर की मृत्यु नहीं हुई। तब सभी देवता भगवान शंकर के पास जाते हैं और कहते हैं, 'भगवन्! इस धरती पर गजासुर का आतंक बहुत बढ़ रहा है, उसको खत्म करना है। लेकिन उसने ब्रह्माजी से आशीर्वाद लिया है कि उसको ऐसा कोई प्राणी नहीं मार सकेगा जो काम के वश में रहता है। आपने काम को जीता है, इसलिए प्रभु यह कार्य आप ही कर सकते हैं।

शिवजी युद्ध के लिए तैयार होकर आते हैं और गजासुर के साथ उनका युद्ध होता है। वे गजासुर के शरीर को भी अपने त्रिशूल में पिरो लेते हैं। जब उनका त्रिशूल गजासुर को लगा, तब त्रिशूल के तेज ने गजासुर की कलुषित मानसिकता को दूर कर दिया और उसके भीतर भक्ति भावना जाग्रत हो गयी। उसने कहा, 'प्रभु! आपके हाथों मुझे मुक्ति मिली है, मेरा आप से एक ही निवेदन है कि मेरे इस चर्म को आप धारण करें, क्योंकि यह चर्म भी आपके त्रिशूल के तेज से शुद्ध हो गया है।' शिवजी ने गजासुर के विशाल चर्म को ओढ़ लिया और तब से उनका एक नाम 'कृत्तिवासा' हो गया।

बाणासुर

इधर धरती पर श्रीकृष्ण जन्म हो चुका है। वे द्वारका में आकर बस गये हैं। श्रीकृष्ण के बेटे अनिरुद्ध का जब जन्म हुआ, उस समय शोणितपुर नाम के शहर में बाणासुर राज्य करता था। बाणासुर राजा की एक कन्या थी, उषा। जो विवाह के योग्य हो गयी थी, लेकिन उसके मन में यह कामना थी कि मैं एक ऐसे पुरुष से विवाह करूँ, जो सभी लोकों में सर्वश्रेष्ठ और सुन्दर हो। उसकी सहेली राजघरानों के विभिन्न राजकुमारों के चित्र बनाकर उसके सामने रोज रखती थी और बतलाती थी कि वे किस राज्य के राजकुमार हैं।

एक दिन उषा की सहेली ने कृष्ण पुत्र अनिरुद्ध का चित्र बनाकर उषा को दिखाया। उषा उस चित्र की ओर तुरन्त आकृष्ट हो गयी। उसने अपनी सहेली से कहा कि मुझे इस राजकुमार से मिलना है। जब अनिरुद्ध रात्रि के समय बिस्तर में सो रहा था, तब उषा की सहेली योगसिद्धि के बल से उसके पूरे बिस्तर को ही द्वारका से उठा कर आकाश मार्ग से शोणितपुर ले आयी।

दूसरे दिन जगने के पश्चात् जब अनिरुद्ध की आँखें खुलती हैं, तब वह अपने आपको एक नये स्थान में पाता है। उसके सामने एक कन्या खड़ी होकर, हाथ जोड़कर प्रतीक्षा कर रही होती है। यह देखकर वह पूछता है, 'तुम कौन हो? मैं कहाँ हूँ? यहाँ कैसे आया?' तब उषा सारी बातें बतलाती है और यह भी बतलाती है कि किस प्रकार रात को अपनी सहेली की योगसिद्धि के बल पर वह उसे राजमहल में लायी है। धीरे-धीरे अनिरुद्ध और उषा के बीच अनुराग उत्पन्न होता है।

बाणासुर की बहुत-सी भुजाएँ थीं और वह हमेशा शिव आराधना में तल्लीन रहता था। उसकी आराधना उसी प्रकार की होती थी जैसे पूर्वकाल में रावण ने शिव की आराधना की थी। बाणासुर भी बहुत बड़ा साधक रहा है। उसने शिवजी को प्रसन्न करके उनसे यह वरदान लिया था कि वे सदैव उसके नगर की रक्षा करेंगे और अपने गणों के साथ हमेशा उसके नगर में प्रवास करेंगे। इसलिए शिवजी बाणासुर के नगर में नगर-रक्षक के रूप में अपने गणों के साथ रहते थे।

जब उषा की सहेली चित्रलेखा अनिरुद्ध को द्वारका से उठाकर शोणितपुर ले आती है और शोणितपुर में अनिरुद्ध तथा उषा का मिलन होता है, तब यह सूचना बाणासुर तक पहुँचती है कि कोई पराया पुरुष राजकुमारी के महल में निवास कर रहा है। यह सुनकर वह वहाँ जाता है और अनिरुद्ध से युद्ध कर उसे नागपाश में बाँध लेता है। अनिरुद्ध नागपाश में बंधकर बाणासुर के बंदी हो जाते हैं। जब यह खबर श्रीकृष्ण को मिलती है, तब वे अपने पुत्र अनिरुद्ध को बाणासुर के चंगुल से मुक्त कराने के लिए अपनी सेना लेकर शोणितपुर पर चढ़ाई कर देते हैं, और बाणासुर की सेना के साथ कृष्णजी की सेना का भीषण युद्ध होता है। किसी की हार या जीत नहीं हो रही है। जब कृष्ण जी बाणासुर को मारने के लिए अपने हाथ में चक्र लेते हैं, तब भगवान शिव अपने गणों के साथ स्वयं युद्धभूमि में आ जाते हैं, क्योंकि शिवजी बाणासुर के नगर की रक्षा के लिए वचनबद्ध थे। अब कृष्णजी की सेना के साथ शिवगणों का तथा कृष्णजी के साथ भगवान शिव का भीषण युद्ध होता है। शिव और कृष्ण एक-दूसरे के साथ युद्ध करते हैं। विष्णु कृष्ण के रूप में अनिरुद्ध को बाणासुर के चंगुल से मुक्त कराने के लिए और शिव इस नगर की रक्षा के लिए वचनबद्धता के कारण आपस में युद्ध कर रहे हैं।

बहुत समय तक युद्ध करने के बाद युद्ध का कुछ परिणाम दिखलायी नहीं देता, तब कृष्णजी कहते हैं, 'भगवन्! कुछ ऐसा उपाय बताइए कि युद्ध में मेरी विजय हो जाए, तब शिवजी कृष्णजी को संकेत देते हैं कि जृम्भणास्त्र से मुझ पर प्रहार करो। जब कृष्णजी ने जृम्भणास्त्र से प्रहार किया तब शिवजी को नींद आने लगी। उसी समय कृष्णजी अपने सुदर्शन चक्र से बाणासुर की भुजाओं को काटने लगे। बाणासुर हाहाकार करने लगा। जब कृष्णजी बाणासुर का सिर काटने के लिए तैयार हुए तब शिवजी सोचते हैं, अब बहुत लीला हो गयी, वे तुरन्त जाग कर खड़े हो गये। उन्होंने कहा, 'कृष्ण! जब तक मैं जीवित हूँ, इस नगर की रक्षा के लिए वचनबद्ध हूँ। तुम इसका सिर मत काटो। फिर शिवजी कृष्ण और बाणासुर के बीच संधि करवाते हैं। अब युद्ध नहीं होगा, यह घोषणा हो जाती है और अनिरुद्ध उषा को लेकर श्रीकृष्ण के साथ वापस द्वारका आ जाते हैं। बाणासुर भगवान शिव को ताण्डव नृत्य द्वारा प्रसन्न करता है और शिव स्तोत्र से उनकी आराधना करता है।

वन्दे सुराणां सारं च सुरेशं नीललोहितम् ।
योगीश्वरं योगबीजं योगिनां च गुरोर्गुरुम् ॥1॥

ज्ञानानन्दं ज्ञानरूपं ज्ञानबीजं सनातनम् ।
तपसां फलदातारं दातारं सर्वसम्पदाम् ॥2॥

तपोरूपं तपोबीजं तपोधनधनं वरम् ।
वरं वरेण्यं वरदमीड्यं सिद्धगणैर्वरैः ॥3॥

कारणं भुक्तिमुक्तीनां नरकार्णवतारणम् ।
आशुतोषं प्रसन्नास्यं करुणामय-सागरम् ॥4॥

हिमचन्दन-कुन्देन्दु-कुमुदाम्भोज-संनिभम् ।
ब्रह्मज्योतिःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् ॥5॥

विषयाणां विभेदेन बिभ्रन्तं बहुरूपकम् ।
जलरूपमग्निरूपमाकाशरूपमीश्वरम् ॥6॥

वायुरूपं चन्द्ररूपं सूर्यरूपं महत्प्रभुम् ।
आत्मनः स्वपदं दातुं समर्थमवलीलया ॥7॥

भक्तजीवनमीशं च भक्तानुग्रह-कातरम् ।
वेदा न शक्ता यं स्तोतुं किमहं स्तौमि तं प्रभुम् ॥8॥

अपरिच्छिन्नमीशानमहो वाङ्मनसोः परम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरं वृषभस्थं दिगम्बरम् ॥9॥

त्रिशूलपट्टिशधरं सस्मितं चन्द्रशेखरम् ।
कथितं च महास्तोत्रं शूलिनः परमाद्भुतम् ॥10॥

शिवजी प्रसन्न होकर बाणासुर को अपना लेते हैं और उसे महाकाल पद प्रदान करते हैं।

द्वापर में नागेश्वर

एक राक्षस दम्पत्ति थे, दारुक और दारुका, जो जगत् जननी माता पार्वती के भक्त थे। माता पार्वती का आशीर्वाद और वरदान इन दोनों को प्राप्त था, लेकिन थे राक्षस। राक्षस वृत्ति इतनी शीघ्रता से तो जाती नहीं है। इस दुनिया में सबसे कठिन है मनुष्य का स्वभाव परिवर्तन। मनुष्य का स्वभाव कुत्ते की दुम की तरह होता है, हमेशा टेढ़ा, हमेशा मुड़ा हुआ। अगर कभी निष्पक्ष भाव से अपने स्वभाव को जानना चाहो, तो कुत्ते की दुम को देख लेना कि वह कैसी है। बस, शत-प्रतिशत तुम्हारा स्वभाव भी वैसा ही है। कुत्ते की दुम को सीधा करना चाहो तो क्या करोगे? उसको एक पाइप में घुसा दोगे, और जब तक वह पाइप में है, सीधी रहेगी। ऐसे ही जब तक गुरु का सान्निध्य रहता है, लोग सीधे रहते हैं, और जैसे ही आश्रम से निकलते हैं, मटरगश्ती शुरू हो जाती है। आश्रम में कहते हैं, 'जी गुरुजी, बहुत अच्छा है।' और जैसे ही गेट के बाहर निकले, जो पहली चाय की दुकान मिलती है वहीं बैठ कर चाय-समोसा खाकर, तृप्त होकर कहते हैं, 'वाह! आश्रम में तो हमको सूखी रोटी मिलती है।'

यह उदाहरण इसलिए दिया कि एक चेला भी गुरु के सान्निध्य में अपनी पूँछ को कुछ समय के लिए सीधा रखने का प्रयास करता है, लेकिन जैसे ही गुरु के सान्निध्य से वंचित होता है, उसकी पूँछ फिर टेढ़ी हो जाती है, चेले का गृहस्थ स्वभाव फिर वापस आ जाता है। इसलिए संसार में सबसे कठिन है स्वभाव को बदलना। अगर एक राक्षस भक्त भी होता है, तो उसकी वृत्ति राक्षस की ही रहेगी, क्योंकि भक्ति का वृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। भक्ति

शास्त्रों में अनेक भावों का वर्णन किया गया है कि इन सभी भावों से युक्त होकर तुम ईश्वर की भक्ति कर सकते हो, उन्हें याद रख सकते हो। इनमें वैर भाव भी है, प्रेम भाव भी है, माधुर्य भाव भी है, साख्य भाव भी है, दास्य भाव भी है।

लोग सोचते हैं कि कंस और रावण बहुत बुरे थे। मैं भी मानता हूँ कि वे बुरे थे, लेकिन भक्त थे। जन्म के पूर्व ही कृष्णजी कंस के मन में समा गये थे और प्रतिदिन कंस एक बार तो निश्चित रूप से कृष्ण का स्मरण किया करता था कि पता नहीं वह कहाँ है। जीवित है या मार दिया गया है, वह मेरा काल है। भय की स्थिति, वैर की स्थिति या अन्य किसी मानसिक अवस्था में जब ईश्वर की स्मृति सतत् रहती है, तब वह भी भक्ति कहलाती है। जब-जब भी ईश्वर की स्मृति सतत् हो जाए, उसको तुम भक्ति मानो। अगर तुम्हारा ईश्वर से द्वेष भी है, वैर भी है, तो कम-से-कम उसके कारण तुम ईश्वर के साथ जुड़ते हो, उन्हें कोसते हो और उनका स्मरण करते हो। इसलिए भक्ति के विशेष नियम नहीं होते।

भक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि तुमको साधु पुरुष ही बनना पड़ेगा। किसी भी रूप में तुम अपनी श्रद्धा, भक्ति और आराधना ईश्वर को अर्पित कर सकते हो। पुराणों में अजामिल, गणिकाओं आदि का नाम आता है, जिन्होंने अपनी जीवन-पद्धति को बदला नहीं, लेकिन ईश्वर का स्मरण एक बार जब सच्चे दिल से किया तो उनका आशीर्वाद उन्हें प्राप्त हुआ। इसलिए हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए भक्ति इस कलियुग में सर्वश्रेष्ठ एवं सरल विधि है। भक्तियोग में कोई खर्चा नहीं है, क्योंकि वह तुम्हारे जीवन की सहज उपलब्धि है। किसी को सिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। क्या तुमने किसी विद्यालय में जाकर सीखा कि गुस्सा, ईर्ष्या, द्वेष या घृणा कैसे करनी चाहिए। यह सब तो स्वत: ही जाना है। इसी प्रकार कहीं जाकर यह पूछना भी सही नहीं कि भक्ति कैसे करनी चाहिए।

लोग हमसे पूछते हैं कि मैं भक्ति कैसे करूँ। अपनी भावना को प्रगाढ़ कैसे बनाऊँ? अपनी भावना को प्रगाढ़ बनाना है, तो पहले अपनी भावना के प्रति सजग हो जाओ, अनुष्ठान के प्रति नहीं। अनुष्ठान तुम कुछ भी करो, लेकिन अगर तुम्हारी बुद्धि और भावना उस कर्म, अनुष्ठान और व्यवहार से नहीं जुड़ी हैं, तो कोई फायदा नहीं।

यह बात मैं दारुका के संदर्भ में बतला रहा हूँ, क्योंकि दारुक और दारुका राक्षस थे, लेकिन पार्वतीजी के अनन्य भक्त थे और उनका वरदान एवं सान्निध्य इन दोनों को प्राप्त था। दारुक और दारुका अपनी जाति के मुखिया थे और पार्वती ने इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर इन्हें पश्चिम समुद्र के तट पर, याने आज के गुजरात प्रदेश के पास सोलह योजन का एक वन प्रदान किया था, जिसमें ये लोग निवास करते थे। बाद में यह दारुका वन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये लोग इस वन में रह कर तरह-तरह के राक्षस कृत्य किया करते थे–लोगों को तंग करना, परेशान करना, चोरी करना, लूटना, मारना, काटना, पीटना, इत्यादि। फिर भी ये निर्भय रहते थे, क्योंकि इन्हें माता पार्वती से वरदान जो प्राप्त था।

दारुक और दारुका से पीड़ित होकर कुछ लोग महर्षि और्व के पास जाते हैं और अपना दुःख सुनाते हैं कि राक्षस साधुओं, गृहस्थों और पूरी जनता को परेशान करते हैं, समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं। और्व ने प्रजा की बात सुनकर राक्षसों को शाप दिया कि अगर तुम आज से कभी किसी सत्पुरुष को सताओगे या यज्ञों का विध्वंस करोगे, तो उसी समय तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। अब तो दिक्कत हो गई, क्योंकि जो भी राक्षस किसी को सताने जाए, सताने के पहले ही उसकी मृत्यु हो जाए।

जब यह बात देवताओं को मालूम पड़ी, तब वे बहुत प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा, 'यही समय है जब हम लोग राक्षसों पर आक्रमण कर सकते हैं। अगर वे हमें मारने के लिए युद्ध करते हैं, तो उसी समय उनकी मृत्यु हो जाएगी।' जब राक्षसों को मालूम पड़ा कि देवता हम लोगों पर आक्रमण कर हमें मारने की योजना बना रहे हैं, तब वे अपने मुखिया, दारुक के पास गये और कहा, 'और्व ऋषि ने हमें शाप दिया है, जिससे यह गड़बड़ होने वाली है।' यह सुनकर दारुका कहती है, 'चिन्ता नहीं करो, पार्वती जी ने मुझे एक और वरदान दिया है कि मैं स्वेच्छा से इस वन को धरती पर कहीं भी ले जा सकती हूँ। देवताओं के आने से पहले हम लोग समुद्र में छिप जाते हैं।'

दारुका माता पार्वती के वरदान से युक्त थी, इसलिए उसकी इच्छा से वे दानव वन सहित समुद्र के गर्भ में जाकर छिप गये और वहीं अपना समय व्यतीत करने लगे। समय बीतता है। एक बार बहुत-सी नौकाएँ उधर से निकलीं, जिन पर बहुत से मनुष्य सवार थे। राक्षसों ने सोचा कि

अब तो अच्छा अवसर है, ये लोग खुद हमारे पास आ रहे हैं, इनको पकड़ा जाए। उन लोगों ने नाविकों को पकड़ लिया और दारुका वन में लाकर एक कोठरी में बन्द कर दिया। व्यापारियों के उस समूह में सुप्रिय नाम का एक व्यापारी था, जो शिवभक्त था और समूह का सरदार भी था। सुप्रिय ने अपनी दैनिक आराधना के रूप में जेल के भीतर ही एक शिवलिंग का निर्माण किया और वहाँ शिवजी का चिन्तन करते हुए उनका नाम जपने लगा।

शिवजी भी सुप्रिय नामक इस भक्त से बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने अपनी शक्ति से सुप्रिय के शिवलिंग के चारों तरफ खम्भा, छत वगैरह का निर्माण कर दिया। जेल के भीतर ही एक सुन्दर दिव्य मन्दिर अपने आप बन गया। जैसे ही यह सूचना दारुक के पास पहुँचती है, वह क्रोध से भरकर अपने अनुयायियों के साथ सुप्रिय को मारने के लिए आता है। जब वे लोग जेल में घुसते हैं तो देखते हैं कि वहाँ एक बहुत सुन्दर मंदिर है, जिसके मध्य भाग में अद्भुत ज्योतिर्मय शिवलिंग प्रकाशित हो रहा है, उससे तेज निकल रहा है। भगवान शिव ने सुप्रिय से प्रसन्न हो, अपने ज्यातिर्मय रूप में प्रकट होकर स्वयं पाशुपत अस्त्र लेकर दारुक के साथियों को अस्त्र-शस्त्र सहित साफ कर दिया। उसके बाद भगवान शिव ने उस वन को यह वर दिया कि आज से श्रेष्ठ मुनि यहाँ निवास करें और तमोगुणी राक्षस यहाँ कभी न रहें।

यह देखकर दारुका भयभीत हो गयी कि अब तो सब मरने वाले हैं, मेरा पति भी मृत्यु को प्राप्त करेगा। वह तुरन्त पार्वती की शरण में गयी, और दीनचित्त होकर पार्वती की स्तुति की। उनसे अपनी एवं अपने पति की रक्षा के लिए प्रार्थना की। पार्वती उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान शंकर के पास आती हैं और कहती हैं, 'प्रभु! दारुका एवं दारुक, दोनों मेरे भक्त हैं और इन्होंने मुझमें शरणागति खोजी है। मैं आपसे यह निवेदन करती हूँ कि दारुक और दारुका इस वन में रह कर राक्षसों के राजा बनें और हम दोनों इनको नियंत्रण में रखने के लिए दारुका वन में ही निवास करें।' शिवजी ने कहा, 'जैसी तुम्हारी इच्छा। तुम मेरी स्वरूपभूता हो, मैं तुम्हारी इच्छा कैसे टाल सकता हूँ?'

वहाँ वन में एक विवर था, शिवजी एक सर्प का रूप लेकर उस विवर में प्रवेश कर गये। पार्वती भी उनके पीछे सर्पणी का रूप लेकर उस विवर

में प्रवेश कर गयी। इस प्रकार दारुका वन में भगवान शंकर नागेश्वर के रूप में अपने आप को स्थापित करते हैं और पार्वती वहाँ नागेश्वरी के रूप में रहती हैं।

द्वापर में ओंकारेश्वर

जब दारुका वन में यह घटना घट रही थी, तब नारद जी गोकर्ण में आकर भगवान शिव का एक बड़ा अनुष्ठान कर रहे थे। भगवान शिव के प्रति नारद जी का यह अनुष्ठान लम्बे समय तक चलता है। उस अनुष्ठान को समाप्त कर नारद जी गोकर्ण से विंध्य पर्वत की ओर आते हैं। जब नारद जी विंध्य में प्रवेश करते हैं, तब वह दिव्य रूप धारण कर उनका स्वागत-सत्कार करता है। नारद जी कहते हैं, 'विंध्याचल, तुम बहुत विशाल हो। लेकिन तुमको शिव की अराधना कर उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए, ताकि तुम मेरु से भी ऊँचे हो सको। तुम महान् हो, श्रेष्ठ हो, लेकिन मेरु पर्वत तुमसे बहुत ऊँचा है। मैं चाहता हूँ कि तुम शिव की आराधना करउनसे यह वरदान लो कि मैं मेरु पर्वत से भी ऊँचा होकर स्वर्ग को, आसमान को छू सकूँ।'

नारद हमेशा देवताओं का ही कार्य करते हैं। नारद ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिसके पीछे कोई प्रयोजन न रहा हो, जो हरि इच्छा के विरुद्ध गया हो। अगर उन्होंने दो व्यक्तियों के बीच कलह भी करा दी, तो वह हरि इच्छा के अनुसार ही हुआ। विंध्य भी नारद जी के विचारों से सहमत होकर शिव की आराधना और साधना के लिए तैयार होते हैं। वे एक ऐसे क्षेत्र में गये जहाँ आज ओंकारेश्वर द्वीप है। वहाँ उन्होंने एक शिवलिंग का निर्माण किया और देवाधिदेव महादेव की आराधना की। उसकी साधना से प्रसन्न होकर शिवजी वहाँ प्रकट हुए और उसे वर दिया। उस समय नारद, अन्य देवता और ऋषि-मुनि भी वहाँ आ जाते हैं और कहते हैं, 'प्रभु आप यहाँ ओंकारेश्वर रूप में सदा के लिए विराजमान हो जाएँ।' शिवजी ने कहा, 'ठीक है।' और वहाँ का ओंकार लिंग, जिसकी स्थापना विंध्य ने की थी, दो रूपों में बँट गया। आज भी ये दो लिंग ओंकारेश्वर में हैं। एक का नाम है 'ओंकारेश्वर' और दूसरे का नाम है 'अम्लेश्वर'। एक ही शिव के दो स्वरूप उस क्षेत्र में साथ-साथ दिखलायी देते हैं।

ओंकारेश्वर क्षेत्र में ही आदिगुरु शंकराचार्य ने अपने गुरु गोविंदपाद के दर्शन किये और उनकी सेवा की। उनकी साधना भी वहीं हुई। जब

आदिगुरु शंकराचार्य ओंकारेश्वर क्षेत्र में गये, तब उनके गुरु गोविंदपाद एक गुफा में ध्यानस्थ थे। उसी समय नर्मदा में बाढ़ आ गयी। जल स्तर बढ़ने लगा और पानी गुफा के अन्दर प्रवेश करने लगा। शंकराचार्य जी ने देखा कि मेरे गुरु गोविन्दपाद जी यहाँ समाधिस्थ हैं और जल का स्तर बढ़ रहा है, उनकी समाधि भंग हो जाएगी। उनकी साधना भंग नहीं होनी चाहिए, यह विचार कर शंकराचार्य जी ने अपना कमण्डलु गुफा के दरवाजे के पास रख दिया। बढ़ता हुआ जलस्तर उस कमण्डलु में समा गया। ओंकारेश्वर तीर्थ में गोविन्दपाद की गुफा आज भी विद्यमान है, और उसके अन्दर जाने से विचित्र अनुभूति होती है। शंकराचार्य जी के स्तोत्र आज भी उस वातावरण में गूँजते सुनायी पड़ते हैं। गुरु की शक्ति आज भी वहाँ जाग्रत है।

द्वापर में महाकाल

दूषण नाम का एक असुर था। उसने अपनी आसुरी सेना के साथ अवन्तिका नगरी पर हमला कर दिया और आसुरी सेना वहाँ सभी स्थानों में घुस कर मार-काट करने लगी। उस समय उस नगर में वेदप्रिय नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह अपने चार पुत्रों, देवप्रिय, प्रियमेधा, सुकृत और सुव्रत के साथ अपने घर में शिव आराधना में तल्लीन था। उसको मालूम नहीं पड़ा कि अवन्तिका में दूषण नाम के असुर ने अपनी सेना के साथ हमला किया है और वह नगर में घुस कर मार-काट मचा रहा है।

जब ये दैत्य जनता में मार-काट करते हुए वेदप्रिय के मकान की तरफ आते हैं, तो देखते हैं कि वह अपने चार पुत्रों के साथ शिव आराधना में संलग्न है। तब दूषण ने उनको मारने और उनकी आराधना भंग करने के विचार से तलवार उठा कर शिवलिंग पर मारने के लिए जैसे ही अपना हाथ उठाया, एक जबरदस्त हुंकार का स्वर सुनायी पड़ा, जमीन फट गयी, गड्ढा हो गया, उस गड्ढे से भगवान शिव महाकाल के रूप में प्रकट होते हैं और अपने हुंकार मात्र से दूषण तथा उसकी सारी सेना को नष्ट कर देते हैं, जला देते हैं। भगवान शिव का यह स्वरूप महाकाल का स्वरूप था।

जब भगवान शिव महाकाल के रूप में प्रकट होते हैं, तब ब्रह्मा जी सामने आकर महाकाल स्तुति करते हैं–

नमोऽस्त्वनन्तरूपाय नीलकण्ठ नमोऽस्तु ते ।
अविज्ञातस्वरूपाय कैवल्यायामृताय च ॥1॥

नान्तं देवा विजानन्ति यस्य तस्मै नमो नमः ।
यं न वाचः प्रशंसन्ति नमस्तस्मै चिदात्मने ॥2॥

योगिनो यं हृदःकोशे प्रणिधानेन निश्चलाः ।
ज्योतीरूपं प्रपश्यन्ति तस्मै श्रीब्रह्मणे नमः ॥3॥

कालात्पराय कालाय स्वेच्छया पुरुषाय च ।
गुणत्रयस्वरूपाय नमः प्रकृतिरूपिणे ॥4॥

विष्णवे सत्त्वरूपाय रजोरूपाय वेधसे ।
तमोरूपाय रुद्राय स्थिति-सर्गान्तकारिणे ॥5॥

नमो नमः स्वरूपाय पञ्चबुद्धीन्द्रियात्मने ।
क्षित्यादिपञ्चरूपाय नमस्ते विषयात्मने ॥6॥

नमो ब्रह्माण्डरूपाय तदन्तर्वर्तिने नमः ।
अर्वाचीन-पराचीनविश्वरूपाय ते नमः ॥7॥

अचिन्त्य-नित्यरूपाय सदसत्पतये नमः ।
नमस्ते भक्तकृपया स्वेच्छाविष्कृत-विग्रह ॥8॥

तव निःश्वसितं वेदास्तव वेदोऽखिलं जगत् ।
विश्वभूतानि ते पादः शिरो द्यौः समवर्तत ॥9॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं लोमानि च वनस्पतिः ।
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यस्तव प्रभो ॥10॥

त्वमेव सर्वं त्वयि देव सर्वं सर्वस्तुतिस्तव्य इह त्वमेव ।
ईश त्वया वास्यमिदं हि सर्वं नमोऽस्तु भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥11॥

फिर ब्रह्माजी भगवान शिव से अनुरोध करते हैं कि आप यहाँ महाकाल के रूप में स्थित हो जाइये।

महादेव ने वहाँ अपने हुंकार से सभी राक्षसों को जलाकर, उनके शरीर की राख को अपने हाथों में लेकर, अपने सिर और पूरे शरीर के ऊपर डाल

लिया था। इसलिए आज भी यह परम्परा महाकाल मंदिर में है कि प्रतिदिन भगवान शिव की अर्चना, आराधना, आरती मृत शरीर की चिता की भस्म से होती है, गोयठे की भस्म से नहीं। इस प्रकार ब्रह्माजी के अनुरोध पर भगवान शिव ने अपने आप को अवन्तिका नगरी में, जो आधुनिक उज्जैन है, महाकाल के रूप में स्थित किया।

महाकाल से जुड़ी एक और कहानी आती है। एक समय अवन्तिका के महाराज चन्द्रसेन शिव के एक गुह्यक के मित्र थे। शिव के इस पार्षद, मणिभद्र ने महाराज चन्द्रसेन को एक ऐसी महामणि प्रदान की थी, जिसे उसने शिव के अनुग्रह से स्वयं प्राप्त किया था। उस मणि का प्रभाव यह था कि वह जिस राज्य में भी रहती थी, उस राज्य में कभी किसी प्रकार का अभाव नहीं होता था। समय पर बारिश, समय पर अन्न, कहीं दरिद्रता नहीं, कोई अभाव नहीं, उस राज्य में सब खुशहाल थे। लेकिन जब अवन्तिका के पड़ोसी राजाओं को इस बात की खबर मिली कि अवन्तिका के राजा चन्द्रसेन के पास एक मणि है, जो सभी इच्छाओं को पूरा करती है, तब उस मणि को प्राप्त करने के लिए सभी राजाओं ने मिलकर एक साथ उज्जैन पर हमला कर दिया।

जब उस मणि के लिए अवन्तिका पर चारों तरफ से हमला होने लगा, तब राजा चन्द्रसेन सीधा महाकाल की शरण में गये और वहाँ उनकी आराधना शुरू की। जब राजा मन्दिर में महाकाल की आराधना कर रहा होता है, तब सारी प्रजा उसकी आराधना देखने के लिए वहाँ आती है। श्रीकर नामक पाँच साल का एक गोप, जो अपनी विधवा माँ के साथ अवन्तिका में रहता था, वह भी अपनी माँ के साथ मन्दिर आया और वहाँ राजा की आराधना देख कर वह इतना आह्लादित हो गया कि जब माँ उसे घर वापस लायी और कहा कि बेटा श्रीकर तुम थोड़ा खेलो, मैं खाना बनाती हूँ, तब श्रीकर सीधा एक पेड़ के नीचे गया और वहाँ उसने एक पत्थर रखकर उसी दृश्य की कल्पना की, जो उसने मन्दिर में राजा को करते देखा था कि किस प्रकार वह पुष्प, फल, जल, दूध आदि चढ़ा रहा है। वही आराधना श्रीकर ने पत्थर के ऊपर शुरू कर दी और अपने आप को भूल गया। वह इतना मग्न हो गया कि सब कुछ भूल गया कि क्या कर रहा है।

इस बीच उसकी माँ आवाज देती है, 'श्रीकर खाना तैयार है। खाने के लिए आ जाओ।' लेकिन वह सुनने वाला कहाँ है। वह तो शिव आराधना में

इतना तल्लीन हो गया है कि उसको कुछ सुनायी नहीं पड़ता है। तब उसकी माँ क्रोध में आती है और देखती है कि मेरा बेटा वहाँ एक पत्थर पर फूल, फल, जल, पत्र, सब चढ़ाए जा रहा है। माता को क्रोध आया कि मैं इसको इतने समय से बुला रही हूँ और यह मेरी बात सुनता नहीं है। उसने सीधा लात मार कर पूजा की सामग्री और पत्थर, जिस पर वह अपनी पूजा अर्पित कर रहा था, सबको तहस-नहस कर बिखरा दिया और श्रीकर का हाथ पकड़ कर उसे घसीटते हुए ले गयी।

लेकिन श्रीकर को चैन कहाँ? वह रोने लगा कि माँ तुमने यह क्या किया। मैं तो पूजा कर रहा था, तुमने सब तहस-नहस कर दिया। वह बेचारा छोटा बालक था, उसकी समझ में कुछ नहीं आया। वह रोते-रोते सो गया। दूसरे दिन जब उसकी नींद खुलती है, तब देखता है कि ईश्वर की कृपा से जिस स्थान पर वह पत्थर पर अपनी शिव अर्चना अर्पित कर रहा था, वहाँ एक सुन्दर दिव्य मन्दिर का निर्माण हो गया है। वह दौड़ता हुआ गया, उसने देखा कि वहाँ पर एक शिवलिंग विद्यमान है। उसने शिवलिंग को पकड़ लिया और रोने लगा। कहता है, 'माँ, आकर देखो क्या चमत्कार हुआ है!' माँ कहती है, 'बेटा, मैं देख रही हूँ कि जिस झोपड़ी में हम रहते थे, वह अब झोपड़ी नहीं रही, एक महल हो गया है। जिस पेड़ के नीचे बैठ कर तुम कल एक पत्थर पर पत्ते, फल, फूल आदि चढ़ा रहे थे, वह आज एक दिव्य मन्दिर में परिवर्तित हो गया है। बेटा! वास्तव में तुम्हारी भावना को मैं नहीं समझ पायी, कल मैंने तुम्हारी आराधना को अस्त-व्यस्त कर दिया था, तुम मुझे क्षमा कर दो।' बेटा कहता है, 'माँ, क्षमा क्या करना? ईश्वर ने जो चाहा, सो हुआ।'

यह बात अग्नि की तरह चारों तरफ उस नगर में फैलती है और राजा चन्द्रसेन भी देखने के लिए आते हैं कि कैसे इस बालक ने महाकाल की कृपा प्राप्त कर ली है। जब राजा श्रीकर की श्रद्धा के बल पर रात्रि में ईश्वर की कृपा से हुए निर्माण को देखते हैं, तो वे भी उसे चमत्कारी बालक मानने लगते हैं। युद्ध के लिए नगर को चारों से घेरे राजाओं ने भी जब अपने गुप्तचरों के मुख यह अद्भुत समाचार सुना, तब वे सभी वैर भाव भूलकर राजा चन्द्रसेन के साथ महाकाल की आराधना करने लगे।

राजा चन्द्रसेन श्रीकर को अपने साथ राजमहल ले आते हैं और कहते हैं कि मेरे राज्य में जितने गोप हैं, यह इन सभी का राजा बनेगा। उसी समय

हनुमानजी भी वहाँ पहुँच गये और आशीर्वाद देते हुए बोले, 'श्रीकर! अभी तो महाराज चन्द्रसेन ने तुमको यहाँ के ग्वालों का राजा बनाया है। तुम्हारी वंश परम्परा के अन्तर्गत आठवीं पीढ़ी में महायशस्वी नन्द उत्पन्न होंगे, जिनके यहाँ महाविष्णु स्वयं पुत्र के रूप में अवतरित होंगे।' ऐसा कह कर हनुमानजी अन्तर्धान हो जाते हैं।

वही श्रीकर आठ पीढ़ी के बाद नन्द के रूप में जन्म लेते हैं और कृष्ण का सान्निध्य तथा कृष्ण द्वारा दिया गया पुत्र-सुख प्राप्त करते हैं।





षष्ठ दिवस

19-02-2009

शिव अनादि देव, अनादि तत्त्व हैं। इनकी उपस्थिति सभी कालों में रहती है। जिस रूप में भी तुम इनको देखना चाहो, देख सकते हो। कभी त्रिगुणातीत रूप में, तो कभी गुणों के बन्धन में; कभी एक तपस्वी और योगी के रूप में, तो कभी एक आदर्श पति एवं पिता के रूप में। शिव के निराकार और साकार, दोनों स्वरूप एक-दूसरे के पूरक माने गये हैं। चाहे हम निराकार शिव की चर्चा करें या साकार शिव की, विषय एक ही होता है, क्योंकि वही निराकार शिव साकार रूप में जगत् में सभी लीलाओं का सम्पादन करता है। यही बात महर्षि उपमन्यु ने श्रीकृष्ण को समझायी थी।

एक बार स्यमंतक मणि के कारण श्रीकृष्ण ने वन में जाकर जाम्बवान के साथ युद्ध किया था। उस समय जाम्बवन्त ने अपनी कन्या जाम्बवती श्रीकृष्ण को सौंप दी थी। द्वारका आकर श्रीकृष्ण ने जाम्बवती से विधिपूर्वक विवाह किया था, लेकिन जाम्बवती की कोई संतान नहीं हुई, इस कारण वह बहुत बेचैन रहती थी। उसने अपनी यह परेशानी श्रीकृष्ण के सामने रखी। श्रीकृष्ण ने कहा, 'देव आराधना और संत प्रसाद ही इस लोक तथा परलोक में मोक्ष के साधन बनते हैं। संत प्रसाद तथा देव अनुग्रह प्राप्त करने के लिए हम लोग हिमालय में महर्षि उपमन्यु के पास चलते हैं।'

श्रीकृष्ण जाम्बवती को लेकर महर्षि उपमन्यु के पास आते हैं और महर्षि उपमन्यु श्रीकृष्ण को पाशुपत धर्म की शिक्षा देते हैं। श्रीकृष्ण महर्षि उपमन्यु से पाशुपत धर्म एवं शिव तत्त्व के बारे में अनेक शंकाओं का समाधान करते हैं। महर्षि उपमन्यु कहते हैं, 'कृष्ण! तुम्हारा चिन्तन सही है, संतान की प्राप्ति गुरु प्रसाद और ईश्वर अनुग्रह के रूप में भी होती है। संतान प्राप्ति होने पर मनुष्य

का इस लोक में तथा परलोक में भी मोक्ष होता है। संतान प्राप्ति के लिए तुम जाम्बवती के साथ पाशुपत धर्म का पालन करो।'

महर्षि उपमन्यु श्रीकृष्ण को पाशुपत धर्म, शिव तत्त्व और शिव के पंचात्मक स्वरूप का अद्भुत वर्णन करते हैं।

शिवलिंग व्याख्या

शैवागमों में कहा है कि आदि शिव के निराकार स्वरूप का प्रतीक शिवलिंग है। शिवलिंग केवल शिव का नहीं, शिव-शक्ति दोनों का संयुक्त प्रतीक माना गया है। शक्ति का निवास शिव में ही होता है। शक्ति शिव की स्वरूपभूता है, इसलिए शिवलिंग में शिव और शक्ति, दोनों की स्थिति रहती है। लिंग नाम इसलिए पड़ा कि संहार के समय सम्पूर्ण जगत् का प्रपंच इस लिंग में विलीन हो जाता है। अत: जो लय का कारण बनता है, उसको लिंग कहते हैं।

इस लिंग का एक भाग ऊपर की ओर बढ़ता है, जो शिव तत्त्व का प्रतीक है। और दूसरा भाग पीठ या अर्घा है, जो शक्ति तत्त्व का प्रतीक है। शक्ति शिवलिंग में स्वयं को दो अन्य रूपों में प्रकट करती है। लिंग स्वरूप में शक्ति स्वयं को कला रूप में प्रकट करती है और अर्घा या अंग-स्थल में शक्ति अपने आपको भक्ति रूप में प्रकट करती है। इस लिंग में शिव के भी दो रूप दिखलायी देते हैं। पहला, संहारकर्त्ता या लय का अवधान और दूसरा, सृष्टि का आधार। अर्घा है सृष्टि का आधार और लिंग है लय का अवधान।

इस प्रकार शिवलिंग शिव-शक्ति स्वरूप है, केवल शिव रूप नहीं। इसमें दोनों स्वरूप हैं, दोनों विग्रह हैं। यह लिंग शिव-शक्ति के निराकार स्वरूप का प्रतीक है, क्योंकि अन्तत: निराकार का भी तो किसी प्रकार अनुभव करना ही होता है। बिना प्रतीक के निराकार का आभास कैसे संभव है?

हमारे गुरु, श्री स्वामी सत्यानन्द कहते हैं कि छत पर चढ़ने के लिए सीढ़ी की आवश्यकता होती है। चढ़ने के बाद तुम सीढ़ी को फेंक दो, कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार निराकार का अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रारम्भ में एक साकार प्रतीक की आवश्यकता होती है। वे कहते हैं कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार विग्रह पूजा, मूर्ति पूजा है। इसी कारण भारतीय संस्कृति ने इतने संघर्षों और ऐसी अनेक सभ्यताओं के आक्रमणों को झेला है, जो कहते हैं मूर्ति पूजा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वर निराकार है, उसे तुम

साकार में परिवर्तित मत करो। लेकिन हमारे गुरुजी का मत है कि अगर तुम ईश्वर को मात्र निराकार मानते हो, और उसके साकार रूप को नकारते हो तो यह उसकी सर्वज्ञता का, सर्वव्यापकता का अपमान है। चूँकि अगर ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है, तो वह सभी में है, चाहे निराकार हो या साकार। अगर तुम कहते हो कि ईश्वर साकार नहीं है, केवल निराकार है, तब तुम उसकी सर्वज्ञता पर, सर्वव्यापकता पर प्रश्न सूचक चिह्न लगा रहे हो। फिर वह ईश्वर पूर्ण नहीं हो सकता। वह अधूरा ही होगा।

दुनिया में आराधना या उपासना की जितनी पद्धतियाँ हैं, सब साकार ही हैं। अगर तुम श्वास पर ध्यान लगाते हो, तो वह श्वास भी साकार है, जिस पर तुम अपने मन को टिका रहे हो। अगर तुम मंत्र पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते हो, तो मंत्र भी साकार है, जिस पर तुम अपने चित्त को एकाग्र कर रहे हो। अगर तुम किसी स्वरूप का ध्यान करते हो, तो वह स्वरूप तुम्हारे मन में साकार हो जाता है, जिससे तुम अपने आपको जोड़ते हो। आराधना या उपासना की पद्धति कभी निराकार पद्धति नहीं हो सकती। निराकार को यह साकार मन ग्रहण कैसे कर पायेगा! जैसे, एक घड़े का मुँह बन्द कर उसे जल में डुबा दिया जाए, तो बाहर का जल घड़े के भीतर प्रवेश नहीं करेगा। लेकिन अगर घड़े का मुँह खुला हो, तो जैसे ही वह जल में प्रवेश करेगा, भीतर भी जल भर जायेगा।

जो निराकार ईश्वर का चिन्तन करते हैं और साकार को नहीं मानते, उनकी स्थिति घड़े के मुँह को बन्द कर जल में डुबाने के सदृश होती है। उसके अन्दर पानी भरता ही नहीं, चारों तरफ रहता है। अपने जीवन में वे ईश्वरीय तत्त्व का अनुभव नहीं कर पाते हैं। इसलिए भारतीय चिन्तन और परम्परा में साकार को निराकार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि वही तुमको अपने इष्ट तक ले जाने का आधार बनता है। शिव और शक्ति ने भी अपने निराकार स्वरूप को एक प्रतीक के रूप में प्रकट किया है, वह प्रतीक है, 'शिवलिंग'।

शिव स्वरूप व्याख्या

शिव देवता हैं, जिन्हें पाँच की संख्या अति प्रिय है। शिवजी के पाँच मुख हैं। चार मुख चारों दिशाओं में देखते है और एक मुख ऊपर की ओर देखता है। प्रत्येक मुख से अलग-अलग अक्षर और वर्ण की उत्पत्ति हुई है। एक मुख से

प्रथम आदि स्वर 'अकार' की उत्पत्ति होती है, दूसरे मुख से पंचम स्वर 'उकार' की उत्पत्ति होती है, तीसरे मुख से पंचम वर्ग, प वर्ग के अन्तिम अक्षर 'मकार' की उत्पत्ति होती है, जो इस वर्ग का पंचम वर्ण है। चौथे मुख से 'बिन्दु' की उत्पत्ति होती है, और पाँचवें मुख से नाद की उत्पत्ति होती है।

अ, उ, म, बिन्दु और नाद, ये सब वर्ण मंत्र रूप में प्रकट होते हैं और इनके एक होने से जो संयुक्त स्वरूप बनता है, वह है, 'ॐ'। ॐ शिव के निराकार स्वरूप का मंत्र माना गया है। जैसे शिवलिंग शिव के निराकार स्वरूप का प्रतीक है, वैसे ही ॐ शिव के निराकार स्वरूप का मंत्र है, शब्द ब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ होता है, अनादि, अनन्त ईश्वर तत्त्व। और शब्द रूप में जिस परम तत्त्व की अनुभूति होती है, उसे शब्द ब्रह्म कहा गया है।

सदाशिव स्वरूप

शिव का एक पंचमुखी साकार स्वरूप भी होता है। हर मुख पर तीन नेत्र और दस भुजाओं से युक्त कपूर जैसा श्वेत वर्ण, यह सदाशिव का स्वरूप बतलाया गया है। इस सदाशिव स्वरूप के जो मुख होते हैं, जिन्हें सादाख्य कहा गया है, वे सब एक-एक भूत, एक-एक तत्त्व के प्रतीक हैं। सदाशिव के पंच मुख क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के प्रतीक माने गये हैं। इन पंच भूतों का मंत्र भी 'नम: शिवाय' है। अत: सदाशिव के स्वरूप का मंत्र है, 'नम: शिवाय', जिसको पंचाक्षरी मंत्र कहते हैं।

शिव के साकार स्वरूप की आराधना होती है, पंचाक्षरी मंत्र 'नम: शिवाय' से, और निराकार स्वरूप की आराधना होती है 'प्रणव' से। अगर 'नम: शिवाय' स्थूल आराधना है, तो 'ॐ' सूक्ष्म आराधना है। अगर 'नम: शिवाय' व्यक्त है, साकार है, तो 'ॐ' अव्यक्त है, निराकार है। ये दोनों शिव स्वरूप के ही द्योतक हैं। चाहे 'ॐ' कहो या 'नम: शिवाय', दोनों को ही प्रणव कहा गया है। सामान्य रूप से लोग 'ॐ' को ही प्रणव मानते हैं। लेकिन शैवागम में 'नम: शिवाय' मन्त्र प्रणव का साकार रूप है और 'ॐ' प्रणव का सूक्ष्म रूप।

प्रणव व्याख्या

'प्र' का अर्थ होता है प्रपंच; 'ण' का अर्थ होता है, नहीं है; और 'व' का अर्थ है, तुम्हारे लिये। इस प्रकार प्रणव का एक अर्थ हुआ, तुम्हारे लिये प्रपंच नहीं

है। अर्थात् जो व्यक्ति इस प्रणव साधना को करता है, वह संसार के प्रपंचों से मुक्त हो जाता है।

'प्र' प्रकृति से उत्पन्न संसाररूपी महासागर का बोधक है और 'णव' का अर्थ होता है हौज, जिसको नाव कहते हैं। नाव का अर्थ होता है वह साधन, जिसके द्वारा तुम समुद्र को पार कर सकते हो। अत: प्रकृति रूपी संसार को पार करने के लिये जिस विधि या माध्यम को हम अपनाते हैं, वह प्रणव कहलाता है। यह दूसरा अर्थ हुआ।

जो 'प्रणव' की उपासना करते हैं, उनके समस्त कर्मों को समाप्त कर यह उन्हें नूतन जीवन प्रदान करता है। मायारहित महेश्वर को ही नव, अर्थात् नूतन कहते हैं। प्रणव साधक को नव अर्थात् नवीन (शिवस्वरूप) कर देता है। यह प्रणव का तीसरा अर्थ हुआ। इस प्रकार व्याख्याकारों ने प्रणव को अनेक रूपों में समझाने का प्रयास किया है। लेकिन शैवागमों में व्याख्या की गयी है कि 'तुम्हारे लिए प्रपंच नहीं है'। जो एक बार शिव की शरणागति प्राप्त कर लेता है, जो शिव की आराधना में तन्मय और तल्लीन हो जाता है, वह अपने आपको जगत् के सभी प्रपंचों से मुक्त कर जीवन में शाश्वत शान्ति और सुख प्राप्त करता है।

अक्षर रूप 'ॐ' को सूक्ष्म प्रणव जानना चाहिए और 'नम: शिवाय' मन्त्र को स्थूल प्रणव के रूप में जानना चाहिए। जिसमें पाँच अक्षर व्यक्त नहीं हैं, वह सूक्ष्म है और जिसमें पाँचों अक्षर स्पष्ट रूप से व्यक्त हैं, वह स्थूल है। पाशुपत धर्म की ऐसी शिक्षा महर्षि उपमन्यु श्री कृष्ण को देते हैं। फिर वे श्री कृष्ण से कहते हैं कि अगर तुम देवाधिदेव महादेव को प्रसन्न करना चाहते हो, तो यह प्रयास करो कि तुम्हारे भीतर मन और बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान के भण्डार सन्तुलित रहें।

महर्षि उपमन्यु श्रीकृष्ण को कहते हैं, जब व्यक्ति का जन्म होता है तब संसार में दिखता है कि वह एक ही शरीर लेकर जन्मा है, लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यह पदार्थमय शरीर छ: कोशों से युक्त है, तीन कोश या शरीर माँ देती है और तीन कोश या शरीर पिता देता है।

सामान्य रूप से योगी या योग शिक्षक, जिन्होंने योग का गहन अध्ययन नहीं किया होता, योग की चर्चा करते हुए कहते हैं कि शरीर में पाँच कोश होते हैं– अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। लेकिन महर्षि उपमन्यु कहते हैं कि कोश पाँच नहीं, छ:

हैं। शरीर, प्राण और मन, अर्थात् अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और मनोमय कोश मनुष्य को पिता से प्राप्त होते हैं। विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश और आत्ममय कोश, इन तीन शरीरों की प्राप्ति माँ से होती है। विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश में मनुष्य स्वयं को क्लेशों से मुक्त कर परम सुख और आनन्द का अनुभव करता है। आत्ममय कोश में मनुष्य अपने अस्तित्व को ईश्वरीय तत्त्व से एक कर देता है। माँ का तात्पर्य यहाँ शक्ति तत्त्व से और पिता का तात्पर्य पुरुष तत्त्व से है।

इन्हीं छः कोशों से युक्त होकर मनुष्य संसार में जन्म लेता है और संसार के सभी व्यापार भी करता है। लेकिन साथ-ही-साथ उसके भीतर एक ऐसी प्रतिभा रहती है, जो उसे आध्यात्मिकता की ओर भी ले जा सकती है। संसार में अन्य कोई प्राणी नहीं, जो भौतिकता और आध्यात्मिकता, दोनों में सन्तुलन बनाकर चले। केवल मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो पदार्थ और अध्यात्म में एक सुदृढ़ सम्बन्ध कायम कर आगे बढ़ सकता है। संसार में अन्य सब प्राणी पदार्थ से प्रेरित और सम्मोहित होते हैं, सब पदार्थमय हो जाते हैं, मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी नहीं जो आध्यात्मिक भी हो। इसीलिये शास्त्रों में कहा है, *'बड़े भाग मानुष तन पावा'*।

तुमको मानव शरीर मिला, यह तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है। इस शरीर में तुम्हारे उत्थान की सम्भावनायें स्पष्ट हो जाती हैं। मानव शरीर को प्राप्त करने के पश्चात् ऋषित्व और देवत्व को भी प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसीलिये कहा गया कि इस मानव शरीर को पा लेना ईश्वर की एक बहुत बड़ी देन है। उसी की कृपा से प्राणी को मानव शरीर मिलता है। जब तुमको मानव शरीर मिलता है, तब उसका यही संकेत होता है कि ईश्वर की कृपा तुम्हें प्राप्त हो गयी है। अब तुम निम्न योनियों में चक्कर नहीं काट रहे हो। तुम्हारे उत्थान का, आगे बढ़ने का मार्ग अब निश्चित हो चुका है। अतः बढ़ते जाओ, ईश्वराभिमुख होकर चलते जाओ।

भोग में लिप्त होकर भी मनुष्य योग प्राप्त कर सकता है, यह मनुष्य-जीवन की सम्भावना है। यही बात महर्षि उपमन्यु श्रीकृष्ण को समझा रहे हैं, कहते हैं, यह जगत् पंचब्रह्मस्वरूप है। इस पंचब्रह्मस्वरूप का सम्बन्ध साकार शिव के पंच मुखों से रहता है। पुरुष, श्रोत्र, वाणी, शब्द और आकाश, ये सदाशिव के ईशान मुख से प्रकट होते हैं। ईशान का अर्थ सूर्य भी होता है। अतः वह मुख जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, जिसको

ईशान मुख कहा गया है, उससे पुरुष, श्रोत्र, वाणी, शब्द और आकाश की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति, त्वचा, पाणी, स्पर्श और वायु, ये शिव के पुरुष मुख से प्रकट होते हैं। यहाँ पुरुष शब्द एक सत्य की ओर संकेत कर रहा है, *'पुरि शेते इति पुरुष:'*। शरीर को एक पुर या नगर की संज्ञा दी गई है। *नवद्वारे पुरे देही*– यह शरीर नौ द्वारों वाला नगर है। वह परमतत्त्व तुम्हारे भीतर इस पुर में, नौ द्वारों वाले इस नगर में वास करता है। यह शरीर एक क्षेत्र है, और इस क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ भीतर निवास करता है, वही पुरुष है। जैसे मुंगेर में रहने वाले मुंगेरिया ही कहलाते हैं, नाम चाहे जो हो। जो जिस नगर में रहता है, उसकी पहचान उस नगर से हो जाती है। उसी प्रकार जो इस देहरूपी पुर में रहता है, उसकी पहचान इस पुर से हो जाती है। क्षेत्रज्ञ की पहचान क्षेत्र से हो जाती है।

अत: पुरुष उस तत्त्व को कहते हैं जो इस नवद्वार रूपी नगर में शयन करता है, निवास करता है। यहाँ पुरुष आदमी नहीं, बल्कि परम तत्त्व है। उस परम तत्त्व का कोई लिंग नहीं होता, वह अलिंगी है। वह न आदमी है, न औरत, लेकिन विविध रूप धारण करता है और विविध रूपों में समाया हुआ है। इसीलिये कहा गया कि प्रकृति, त्वचा, पाणी, स्पर्श और वायु सदाशिव के पुरुष मुख से प्रकट होते हैं।

भगवान सदाशिव के अघोर रूपी तीसरे मुँह से अहंकार, नेत्र, पैर, रूप और अग्नि की उत्पत्ति होती है। अघोर का अर्थ होता है, जो भयानक या घोर न हो। जो शान्त और सौम्य है, वह अघोर कहलाता है।

बुद्धि, रसना, पायु, रस और जल, ये पाँचों शिव के वामदेव स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। मन, नासिका, उपस्थ, गन्ध और पृथ्वी, ये शिव के सद्योजात रूप से प्रकट होते हैं। ये पाँच हैं। पूरी सृष्टि को शैवागमों में पंचब्रह्मस्वरूप माना गया है। इस पंचब्रह्मस्वरूप सृष्टि का संचालन सदाशिव स्वरूप के शब्द ब्रह्ममय शरीर, 'मन्त्र' करते हैं। इसीलिये पाशुपत दर्शन में मन्त्र साधना के बारे में कहा कि मन्त्र साधना के समय अपने चित्त को एकाग्र करके बैठना चाहिए तथा मन्त्र में संलग्न होना चाहिए। मन्त्र पाशुपत धर्म का एक प्रमुख अंग है।

द्वारका में कृष्ण उपासना

महर्षि उपमन्यु श्री कृष्ण को पाशुपत धर्म की उपर्युक्त शिक्षा देते हुए कहते हैं, 'कृष्ण! तुम सन्तानोत्पत्ति के प्रयोजन से मेरे पास आये थे। मेरा सुझाव

है कि तुम जाम्बवती के साथ पाशुपत धर्म का पालन करो और महादेव शिव को प्रसन्न करो। उनकी कृपा जब होगी, तब निश्चित रूप से तुम्हें सन्तान की प्राप्ति होगी।' श्री कृष्ण जाम्बवती के साथ शिव आराधना में तल्लीन हो जाते हैं। उनकी इस आराधना से प्रसन्न होकर शिवजी पार्वती के साथ उनके सामने प्रकट हो जाते हैं और कहते हैं, 'कृष्ण! तुम्हारा क्या मनोरथ है? जो है, सो कहो। तुम तो साक्षात् नारायण हो, किन्तु तुमने मेरी आराधना जगत् में एक विधि की स्थापना के लिए की है।'

कृष्ण कहते हैं, 'भगवन्! मेरा कोई मनोरथ नहीं, किन्तु जाम्बवती एक संतान चाहती है।' शिवजी कहते हैं, 'उसके भाग्य में सन्तान लिखी ही नहीं है।' कृष्ण कहते हैं, 'मालूम है, इसीलिये तो आपकी आराधना कर रहे हैं, आप ही सभी के भाग्यों को बदल सकते हैं। एक अनुरोध मेरा भी है कि इसका जो पुत्र हो, वह आपके समान हो।' शिव जी कहते हैं, 'कृष्ण! सोच-विचार कर कहो, क्योंकि जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ संहार होता है। मेरे जन्म का प्रयोजन है संहार करना। जैसे नारायण का प्रयोजन है पालन करना, ब्रह्मा का प्रयोजन है सृष्टि करना, वैसे मेरा प्रयोजन है नाश करना। अगर मैं पुत्र रूप में तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा, तो तुम्हारे कुल का नाश हो जायेगा।'

कृष्ण ने कहा, 'महाराज, मैं यही चाहता हूँ, क्योंकि आने वाले दिनों में हमारे लोगों की शक्ति इतनी बढ़ जायेगी कि वे अपने आपको अजेय समझ कर संसार में आतंक फैलायेंगे। मैं चाहता हूँ कि मेरे जाने के पहले वे लोग भी इस संसार से चले जाएँ।' शिवजी कहते हैं, 'जैसी तुम्हारी इच्छा। मेरा अंश जाम्बवती के गर्भ से जन्म लेगा और उसका नाम होगा साम्ब।'

कृष्ण चरित्र से मालूम पड़ता है कि अन्त में साम्ब ने ही ऋषियों के पास जाकर उनसे मजाक किया था। अपने पेट में मूसल बाँधकर वह उनके पास गया और उनसे पूछा कि मेरे गर्भ में कौन है, लड़का या लड़की, आप बताइये। जिस मूसल को लेकर साम्ब ऋषि-मुनियों के पास गया था और जिसको चूर कर उसने समुद्र में फेंका था, वही घास के रूप में परिवर्तित होकर यादव कुल के संहार का कारण बनी। यह भी शिव लीला थी, क्योंकि उन्होंने श्री कृष्ण को कहा था कि अगर मैंने तुम्हारे यहाँ जन्म लिया तो तुम्हारे कुल के नाश का कारण बनूँगा।

कृष्ण को भगवान शिव के इस आश्वासन के पश्चात् कि मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा, माता पार्वती भी कृष्ण से कहती हैं, 'कृष्ण! तुमने इतनी उत्तम

आराधना की है, सम्पूर्ण त्रिलोक तुम्हारी आराधना से आह्लादित हो गया है। मैं भी तुम्हें कुछ देना चाहती हूँ। क्या चाहते हो कहो, मैं तुम्हें सहर्ष दूँगी।' कृष्ण कहते हैं, 'माता, यदि आप मेरी तपस्या से सन्तुष्ट हैं और मुझे कुछ देना ही चाहती हैं, तो मुझे एक नहीं, पाँच वरदान चाहिए।

पहला वरदान मुझे यह दें कि मेरे मन में अच्छे लोगों के प्रति कभी द्वेष या ईर्ष्या न हो। जब मैं अपने से श्रेष्ठ, विद्वान् या अधिक सम्पन्न व्यक्तियों को देखूँ, तो यही चाहता हूँ कि उन्हें देखकर मेरे मन में किसी प्रकार द्वेष या ईर्ष्या का भाव न आये।

दूसरा वरदान यह दें कि मैं सदा द्विजों की पूजा, उपासना और सेवा करता रहूँ। इसमें कभी किसी प्रकार की कमी न हो।

तीसरा वरदान यह दें कि मैं इस संसार में जो भी काम करूँ, उससे कोई व्यक्ति नाखुश न रहे। मैं जो भी करूँ, उससे संसार के सभी व्यक्ति प्रसन्न हो जाएँ।

चौथा वरदान यह चाहिए कि मैं जहाँ भी जाऊँ, सभी के प्रति मेरे मन में समभाव बना रहे। मैं कभी किसी को ऊँचा या नीचा मानने की दृष्टि से न देखूँ।

पाँचवाँ वरदान मुझे यह दें कि मैं अनेक प्रकार के यज्ञ करूँ, जिससे देवता सन्तुष्ट रहें और आप लोगों की कृपा से मुझे उत्तम सन्तति की प्राप्ति हो। मैं हमेशा साधु-संन्यासियों का स्वागत-सम्मान करूँ। भाई-बन्धुओं के साथ मेरा नित्य प्रेम बना रहे और मैं सदा सन्तुष्ट रहूँ।' ऐसी प्रार्थना श्री कृष्ण ने माँ पार्वती से की।

कृष्ण के इन वचनों को सुनकर पार्वती बहुत प्रसन्न हो गयीं और कहा, 'कृष्ण! आज तक जिसने भी कुछ मांगा है, या तो पद मांगा है या शक्ति या अमरत्व, किसी ने आज तक ऐसी बात नहीं कही कि मेरे मन में किसी के प्रति एक क्षण भी मलिनता मत आने दो। अत: कृष्ण, तुम्हारी जय हो!' ऐसा कहकर भगवान रुद्र और माता पार्वती, दोनों वहाँ से प्रस्थान कर जाते हैं।

तत्पश्चात् जाम्बवती को लेकर श्री कृष्ण पुन: महर्षि उपमन्यु के आश्रम आते हैं और बतलाते हैं कि आपकी कृपा से मेरी यह साधना और आराधना सम्पूर्ण हो गयी है। फिर वे भगवान शिव से मिले वरदान के बारे में उपमन्यु को बतलाते हैं। तब उपमन्यु कहते हैं, संसार में शिव के सिवा दूसरे और कौन महादानी ईश्वर हैं? जब शिव क्रोध करते हैं, तब वह क्रोध असह्य होता

है। लेकिन जब शिव दान, तप, साधना, शौर्य आदि करते हैं, तब निश्चल भाव धारण कर, इतनी प्रवीणता से करते हैं कि उनके बारे में क्या कहा जाए! इस संसार में शिव से बढ़कर कोई नहीं है। अतः शिव के दिव्य ऐश्वर्यों का स्मरण तुम हमेशा करते रहो। ऐसा कहकर वे श्री कृष्ण को पुनः द्वारका जाने के लिये विदा करते हैं।

प्रपंच

लोग कहते हैं यह संसार प्रपंच है। अगर यह संसार प्रपंच है, तो प्रपंच का अर्थ क्या हुआ? पंचभूतों के विस्तार को ही प्रपंच कहते हैं। पाँच भूत हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। आकाश का एक ही गुण है, शब्द। वायु में शब्द और स्पर्श, दो गुण आते हैं। अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, तीन गुण हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस, चार गुण माने जाते हैं। पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, ये पाँच गुण माने जाते हैं। लेकिन पृथ्वी तत्त्व का मूल गुण है, गंध।

इन पाँच तत्त्वों के गुणों का जब विस्तार होता है, तब उस अवस्था को कहते हैं, 'प्रपंच'। यह संसार प्रपंच रूपी है, क्योंकि इस संसार में ही तत्त्वों और उनके गुणों का विकास एवं विस्तार हुआ है। इन्हीं प्रपंचों के कारण मनुष्य अपनी इन्द्रियों तथा उनके विषयों से प्रभावित होता है। इन्द्रियों के विषय होते हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्द्रियाँ इन्हीं को ग्रहण करना चाहती हैं। आँख एक अच्छे रूप को देखना चाहती है। त्वचा एक अच्छी वस्तु का स्पर्श करना चाहती है। कान अच्छे शब्दों को सुनना चाहते हैं। नाक अच्छी सुगन्ध ग्रहण करना चाहती है। इस प्रकार इन्द्रियाँ प्रपंच रूपी इन्हीं पाँच विषयों को प्राप्त करना चाहती हैं। व्यक्ति माया में इन्हीं पाँच विषयों के कारण लिप्त होता है।

अगर एक सुन्दर फूल दिखायी पड़ जाए, तो उसको प्राप्त करने को कामना होती है। अगर एक स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ दिखायी पड़ जाए, तो उसको ग्रहण करने की इच्छा होती है। जो सुन्दर है, वही इन्द्रियों का विषय बन जाता है, मनुष्य उसे ही प्राप्त करना चाहता है, और जिसमें सौन्दर्य नहीं, वह कभी इन्द्रियों का विषय नहीं बनता।

महात्मा बुद्ध के जीवन की एक कहानी आती है। एक बहुत सुन्दर स्त्री ने आकर उनसे भिक्षुणी की दीक्षा ग्रहण की और उनकी शिष्य मण्डली में

शामिल हो गयी। अब चूँकि वह विश्व-सुन्दरी थी, उसको देखने के लिए हजारों की संख्या में लोग आने लगे। उनमें से कुछ ऐसे बंदे थे, जो कहने लगे कि हम भी भिक्षु बन जाते हैं। बुद्ध की शरण में तो आज तक गए नहीं, लेकिन इस सुन्दरी को देखकर मन में विचार आ गया कि हम लोग भी भिक्षु बन जाएँ तो कितना अच्छा रहेगा, कम-से-कम रोज इसके साथ बैठकर बात करने का अवसर तो मिलेगा!

किन्तु जब उस विश्व-सुन्दरी ने देखा कि लोग बुद्ध की शिक्षा के लिए नहीं, बल्कि मुझे देखने के लिए आ रहे हैं, तब उसने एक सभा में बुद्ध के सामने ही पूछा, 'आप सब यहाँ क्यों आए हैं?' सभी लोगों ने कहा कि हम आपके सौन्दर्य को देखने के लिए यहाँ आए हैं। उस भिक्षुणी ने कहा, 'ठीक है। अगर मेरे लिए आए हैं, तब भिक्षु बनकर यहाँ रह जाइए।' ऐसा कह उसने अपने पूरे चेहरे पर तेजाब डाल दिया। तेजाब से उसका चेहरा विकृत हो गया और जो लोग उसको देखने के लिए लालायित होते थे, उन्होंने अब उसकी ओर देखना बंद कर दिया, वे तो उसके रूप और सौन्दर्य को देखने के लिए आ रहे थे। उसी से प्रभावित होकर वे भिक्षु बन रहे थे कि पता नहीं यह कितने साल तक बुद्ध के साथ रहेगी। इस कठोर जीवन को सह पाएगी या नहीं। जब कुछ सालों बाद यह भिक्षुसंघ को छोड़ना चाहेगी, तब हो सकता है कि हम इसको अपने साथ ले जाने में सफल हो जाएँ।

इस दृष्टांत का तात्पर्य यह कि मनुष्य हमेशा इन्द्रियों के विषयों के पीछे ही भागता है। और जितना वह इन्द्रियों के विषयों के पीछे भागता है, अपने आपको संसार से उतना ही अधिक बाँधता जाता है। जब वह संसार से बँधता है तब शिव और शक्ति तत्त्व से दूर होता जाता है।

शक्ति व्याख्या

शक्ति एक शिवलिंग में दो रूपों में प्रकट होती है, कला रूप और भक्ति रूप। पुन: कला रूप में शक्ति पाँच रूपों में प्रकट होती है। लिंग में शक्ति की ये पाँच कलाएँ दिखलायी देती हैं–कला, विद्या, राग, काल और नियति। इन्हें पंचकला कहते हैं। शैवागमों में इन पंचकलाओं को पंचकंचुक भी कहा गया है, क्योंकि ये पाँच कलाएँ जीव के स्वरूप को आच्छादित कर देती हैं, ढक देती हैं, जैसे वस्त्र शरीर को ढकता है। ये पाँच कलाएँ जीव का, चेतना का आवरण होती हैं। ये चेतना के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने देतीं।

जो शक्ति पंचतत्त्वों या पंचभूतों के रूप में प्रकट होती है, उसका नाम है 'कला'। जो कर्म का हेतु बनती है और जिससे कर्म सिद्ध होता है, उसको कहा गया है 'विद्या'। जिस शक्ति से विषयों में आसक्ति की उत्पत्ति होती है, उसको कहा गया है 'राग'। 'काल' वह है जो पदार्थ को भावनात्मक रूप से धारण कर सम्पूर्ण भूतों का ब्रह्म कहलाता है। और पूरी सृष्टि को नियंत्रण एवं संचालित करने वाली प्रभु की जो शक्ति होती है, उसको कहते हैं, 'नियति'।

अत: कला, विद्या, राग, काल और नियति, ये पाँच कलाएँ लिंग में शक्ति तत्त्व के रूप में स्थित रहती हैं। और नीचे जो पीठ या अर्घा है, उसमें वही शक्ति भक्ति-रूप में स्थित होती है।

भक्ति व्याख्या

भक्ति का प्रयोजन होता है, क्लेशों से निवृत्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति। भक्ति को दु:खान्त का उपाय माना गया है। हमारे शास्त्रों ने दु:खों का अन्त करने का उपाय भक्ति को माना है, ज्ञान या कर्म को नहीं। कर्म दु:ख का कारण बनता है और ज्ञान का मानव खोपड़ी पर कोई असर पड़ता ही नहीं। यहाँ पिछले दिनों से मैं जितनी बातें कह रहा हूँ, एक महीने बाद पूछूँगा तो किसी को याद भी नहीं रहेगा। ज्ञान खोपड़ी के ऊपर से बहता हुआ पानी है। आदमी श्रवण करता है, लेकिन उसको आत्मसात् नहीं कर पाता है। सब कुछ जानते हुए कि क्या उचित है, क्या अनुचित, लोग अपने आपको अधर्म के मार्ग से हटा नहीं पाते हैं।

दुर्योधन के साथ भी यही घटना घटी थी। जब कृष्ण जी महाभारत युद्ध के पहले हस्तिनापुर संधि का प्रस्ताव लेकर गए थे, तब उन्होंने सभी से निवेदन किया था कि इस युद्ध को मत होने दीजिए, क्योंकि यह महाविनाश का कारण बनेगा। लेकिन दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया था कि युद्ध के बिना पाँच गाँव तो क्या, सूई की नोक के बराबर भूमि भी मैं इनको देने वाला नहीं हूँ। तब कृष्ण ने दुर्योधन से पूछा, 'दुर्योधन, क्या तुम नहीं जानते सत्य क्या है, असत्य क्या है? धर्म क्या है, अधर्म क्या है?' दुर्योधन ने कहा, '*जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति:*–धर्म क्या है, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। लेकिन धर्म की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है; रुचि या आकर्षण नहीं है। *जानामि अधर्मं न च मे निवृत्ति:* –अधर्म क्या है, यह भी मैं अच्छे से जानता

हूँ। लेकिन उस मार्ग को छोड़ नहीं सकता हूँ। पता नहीं कौन-सा देवता मेरे हृदय में बैठकर मुझसे यह सब करवा रहा है।'

यहाँ पर ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि दुर्योधन को धर्म और अधर्म का ज्ञान था। वह जानता था कि क्या उचित है, क्या अनुचित। लेकिन वह द्वेष-भाव से इतना प्रभावित था या उसके चंगुल में इस तरह फँसा था कि उसने धर्म का नहीं, अधर्म का मार्ग पकड़ा। अर्थात् बुद्धि के होते हुए भी, सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य का व्यवहार न न्यायसंगत होता है, न धर्म संगत। ज्ञान को जब तक आत्मसात् न किया जाए, वह मुक्ति का उपाय नहीं हो सकता है। इसलिए न कर्म मुक्ति का उपाय है, न ज्ञान, न समाधि, इस दुनिया में मुक्ति का केवल एक उपाय है, भक्ति। हजारों वर्षों तक तुम समाधि लगाकर बैठ जाओ। अपने आपको और संसार को भूल जरूर जाओगे, अपने मन को उस तत्त्व में रमा भी दोगे, लेकिन मुक्ति नहीं मिलेगी। शरीर बिना मुक्ति पाए मर जाएगा। जो भक्ति मार्ग को नहीं अपनाता, उसे मुक्ति नहीं मिलती, वह योग भ्रष्ट कहलाता है, उसकी साधना अधूरी रहती है, चाहे वह कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो।

हमारे गुरु, श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने भी कहा है कि मैंने सभी शास्त्रों और ग्रंथों का अध्ययन किया है, लेकिन मेरा रास्ता स्पष्ट तब हुआ जब मैंने भक्ति को अपने जीवन में अपनाया। जब तक मैंने भक्ति को नहीं अपनाया था, मेरा रास्ता स्पष्ट नहीं था। इसीलिए भक्ति को शक्ति का अवतार माना गया है। लेकिन आज लोग भक्ति को छोड़ माया के पीछे ज्यादा भागते हैं।

बचपन में हमने एक कहानी सुनी थी कि माया और भक्ति, दोनों बहनें थीं। भक्ति बहुत सुन्दर थी और सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करती थी। सब लोग भक्ति की ओर आकृष्ट होते थे। माया कुरूप थी और उसके वस्त्र फटेहाल थे। उसके शरीर पर कोई आभूषण नहीं था और कोई उसकी ओर देखता भी नहीं था। माया के मन में हमेशा यह विचार आता था कि भक्ति मुझसे ज्यादा सुन्दर है। द्वेष और ईर्ष्या होती थी कि लोग भक्ति के पास ही ज्यादा जाते हैं, मेरे पास नहीं आते। मेरे पास न सौन्दर्य है, न सुन्दर वस्त्र और आभूषण, लेकिन भक्ति के पास सबकुछ है। उसने एक चाल चली। एक दिन प्रात:काल जब भक्ति और माया नदी में स्नान करने के लिए गये, तब माया जल्दी से स्नान कर बाहर निकली, उसने भक्ति के वस्त्र एवं आभूषण पहन लिए और भाग गयी।

जब भक्ति बाहर निकली, तब उसने देखा कि उसके वस्त्रों एवं आभूषणों के स्थान पर माया की फटी साड़ी पड़ी है। अब क्या करे? लाचारी से भक्ति को माया के उन फटे वस्त्रों को पहनना पड़ा और तब से परिस्थिति बदल गयी। अब माया को लोग महत्त्व देने लगे, क्योंकि वह दिव्य वस्त्रों एवं अलंकारों से युक्त थी। वह कुरूप थी, लेकिन उसने सुन्दर वस्त्रों से अपना चेहरा ढक लिया, ताकि कोई उसका चेहरा न देख सके। अब सब उसकी चमक-धमक के कारण उसके पीछे भागने लगे।

इधर भक्ति बहुत खूबसूरत है, लेकिन उसके फटे वस्त्रों और आभूषण रहित अंगों को देखकर कोई उसके पास जाता ही नहीं। सब सोचते हैं, यह तो कंगाल है, सुन्दर जरूर है, लेकिन इसमें आकर्षण नहीं है।

कलियुग में लोग माया के पीछे भागते हैं और भक्ति की ओर पीठ कर लेते हैं। सतयुग में लोग माया की ओर पीठ करते थे व भक्ति के पीछे भागते थे। व्यक्ति अपनी मानसिकता या दृष्टिकोण के आधार पर माया या भक्ति को महत्त्व देता है। अगर वह भक्ति को प्राथमिकता देता है, तब उसको नमस्कार है, क्योंकि अन्ततः भक्ति ही जीव का आश्रय है, जिसके द्वारा जीव परम पद प्राप्त करता है।

द्वापर में शिव का सुरेश्वरावतार

महर्षि उपमन्यु, जिन्होंने श्रीकृष्ण को पाशुपत धर्म की शिक्षा दी, व्याघ्रपाद मुनि के पुत्र थे। व्याघ्रपाद मुनि का जीवन बहुत सात्त्विकता से बीतता था। वे एक छोटी-सी कुटिया में रहते थे, जहाँ न खाने को कुछ था न पीने को। बहुत दिनों तक चूल्हा नहीं जलता था। भूख से बिलखते उपमन्यु को उसकी माँ पानी में आटा घोल कर पिलाती थी कि बेटा यह दूध है, इसको पीकर सो जाओ। उपमन्यु देखता था कि अन्य ऋषि सन्तानें जो दूध पी रही हैं, वह श्वेत, स्वच्छ और निर्मल है। जब वह अपने लोटे और अन्य बच्चों के लोटों में भरे द्रव्य की तुलना करता, तब उसे दोनों में अन्तर दिखायी देता था।

उपमन्यु समझ गया कि माँ मुझे जो दूध दे रही है, वह नकली है, असली नहीं। वह खूब रोया। तब उसकी माँ कहती है, 'बेटा, संसार में जो भी वस्तु कोई प्राप्त करता है, वह भगवान शिव की कृपा से प्राप्त करता है। अगर तुमको दूध चाहिए तो तुम उन्हीं की आराधना करो। उनको प्रसन्न करो।' उपमन्यु अपनी माँ की बात मानकर हिमालय चले गये। उस समय उनकी

अवस्था लगभग बारह वर्ष रही होगी। फिर वे अपने माता-पिता के पास लौटकर नहीं आये।

हिमालय जाकर उपमन्यु ने वहाँ पर आठ ईंटों से एक छोटा-सा मन्दिर तैयार किया। उसके बीच में उन्होंने मिट्टी का एक शिवलिंग बनाया। और वहाँ बैठ कर वे शिव-आराधना में तल्लीन हो गये। भूखे-प्यासे वहाँ पर बैठे रहे कि जो ईश्वर जगत् को सब कुछ देता है, आज मैं उसकी आराधना कर रहा हूँ। उस छोटे बालक की आराधना से परमेश्वर प्रसन्न हो जाते हैं और उसकी परीक्षा लेने के लिए इन्द्र का रूप धारण कर उसके पास आते हैं। कहते हैं, 'उपमन्यु! तुम अभी बहुत छोटे बच्चे हो। तुम्हारा शरीर कोमल है। शिव की यह कठोर तपस्या क्यों कर रहे हो? तुम कहो क्या चाहिए, मैं तुम्हें दूँगा।' उपमन्यु इन्द्र रूपधारी शिव से कहते हैं, 'मैंने आपकी उपासना नहीं की है। मैं भगवान शिव की आराधना कर रहा हूँ। लेकिन अगर आप मुझे कुछ देना चाहते हैं, तो शिव-भक्ति दे दीजिए। और उसके पश्चात् चले जाइए, क्योंकि मैंने आपको बुलाया ही नहीं है।'

उपमन्यु ने कह दिया, 'मेरे और मेरे भगवान के बीच मत आइए।' भगवान शिव तो उसकी परीक्षा ले रहे थे। कहते हैं, 'शिव तुमको क्या देगा? स्वर्ग का राजा तो मैं हूँ। सभी वैभव और ऐश्वर्य मेरे पास हैं। सभी देवता मेरी बात मानते हैं। शिव का अपना कुछ नहीं है, वह कंगाल है। उसको तो यह भी नहीं मालूम कि दिन का खाना-पानी कहाँ पर मिलेगा। तुम शिव की क्या आराधना करते हो? तुमको जो चाहिए, मुझसे माँगो।' तब उपमन्यु कहता है, 'मुझे आपसे कुछ नहीं चाहिए।'

यह कहकर उसने इन्द्र को मारने का संकल्प लेने का निश्चय किया, क्योंकि वह उसके आराध्य शिव की निन्दा कर रहे थे। जब भगवान देखते हैं कि अब बालक इन्द्र को मारने का संकल्प ले रहा है, तब वे कहते हैं, मैं भी तुम्हारी सहायता करता हूँ। बालक जब आँख मूँद कर प्रार्थना कर रहा था, 'महेश्वर! इस इन्द्र को यहाँ से हटाओ। यह आपकी आराधना में बाधा दे रहा है।' तब भगवान शिव की कृपा से उपमन्यु के हाथ में अघोरास्त्र आ गया। अघोरास्त्र नाम से तो बड़ा भीषण बाण लगता है, लेकिन स्वभाव से बड़ा सौम्य है। अघोर का अर्थ होता है, जो घोर नहीं, शान्त और सौम्य है।

भगवान की लीला भी ऐसी विचित्र, उन्होंने अघोरास्त्र उपमन्यु को प्रदान किया, ताकि उसके भीतर इन्द्र के प्रति जो आक्रोश है, वह शान्त हो जाए।

जब भगवान ने उपमन्यु को अघोरास्त्र अर्पित किया, वह तुरन्त शान्तचित्त वाला हो गया। उसे लगा कि जो भी हो, यह देव ही है। इसलिए उसने इन्द्र की ओर पीठ कर पुनः अपने शिवलिंग के सामने बैठकर, एकचित्त होकर अपने प्रभु परमेश्वर, शिव का स्मरण किया। उस समय शिवजी पार्वतीजी के साथ प्रकट हो गये।

कथा में कहा गया है कि उपमन्यु को शिव और पार्वती सनातन कुमारत्व प्रदान करते हैं कि तुम हमेशा नौजवान रहोगे, तुम्हें कभी जरा और व्याधि स्पर्श नहीं करेंगे। फिर शिवजी कहते हैं, 'मैंने ही तुम्हारी निष्ठा और श्रद्धा की परीक्षा के लिए इन्द्र का रूप धारण किया था। यह याद रखना कि मैं तुम्हारा पिता हूँ और पार्वती तुम्हारी माता है।' भगवान शिव ने अपने अनुचरों को कहकर ऐसी व्यवस्था कर दी कि उपमन्यु का निवास अब से हमेशा हिमालय में होगा और उसकी पूरी व्यवस्था शिवगणों को करनी है। तब से उपमन्यु हिमालय में ही रहकर हमेशा शिव-आराधना में तल्लीन रहे। वे उस युग के सबसे बड़े तपस्वी माने गए, जिनके यहाँ नारायण ने श्रीकृष्ण के रूप में पाशुपत धर्म की शिक्षा प्राप्त की।

द्वापर में शिव का किरातावतार

महाभारत का समय नजदीक आ रहा है। पाण्डव वन में हैं। वे आपस में विचार-विमर्श करते हैं कि अर्जुन को शिवजी को प्रसन्न कर उनसे दिव्य पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के लिए तपस्या करने हेतु जाना चाहिए। व्यासजी ने भी आकर अर्जुन को कहा कि आने वाले युद्ध में तुमको जिन अस्त्रों का उपयोग करना होगा, वे दिव्य अस्त्र रहेंगे। अतः तुम पहले आशुतोष को प्रसन्न करो, फिर उनकी कृपा से सभी देवताओं के अस्त्र-शस्त्र तुम्हें स्वतः प्राप्त हो जायेंगे।

महर्षि व्यास का यह आदेश पाकर अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर जाते हैं और गंगा के किनारे बैठकर शिव आराधना में तल्लीन हो जाते हैं। जब दुर्योधन को अपने गुप्तचरों से पता चला कि अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर गंगा के किनारे बैठ कर, दिव्यास्त्रों की कामना लेकर शिव की आराधना कर रहा है, तब उसकी तपस्या को भंग करने के लिए दुर्योधन अपने मित्र मूक दानव को बुलाता है। कहता है, 'मूक, मैं अन्य किसी को नहीं भेज सकता, अगर किसी महारथी को सेना के साथ भेजता हूँ, तो सभी को मालूम पड़ जाएगा कि दुर्योधन ही

अर्जुन को रोकने का प्रयास कर रहा है। मैं चाहता हूँ कि यह काम एकदम गुप्त रूप से हो। साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। इसलिए तुम ही जाकर अर्जुन की आराधना भंग करो और अगर सम्भव हो, तो अर्जुन को भी मार दो।'

दुर्योधन की आज्ञा पाकर यह मूक दानव इन्द्रकील पर्वत पर जाता है। वहाँ पहुँच कर वह एक विशाल सूअर का रूप लेता है, जिसके बड़े-बड़े नुकीले दाँत थे। अर्जुन ध्यानस्थ बैठा था, उसे पता ही नहीं चला कि उसके पीछे कोई षड्यंत्र हो रहा है। वह अपनी आराधना में मग्न था। भगवान शिव देखते हैं कि यह मूक दानव अर्जुन की आराधना भंग करने के लिए आ रहा है। वे पार्वती से कहते हैं, 'चलो, कुछ लीला करें।'

उन्होंने किरात का वेश बनाया, पार्वती बन गयी किरात पत्नी और शिवगण बन गए किरात के अनुचर। इन सबके साथ शिव उस वन में आते हैं जहाँ अर्जुन शिव-आराधना में तल्लीन हैं और मूक दानव सूअर के रूप में वन में पशुओं का संहार करते हुए अर्जुन की तरफ बढ़ा चला आ रहा है। शिवजी निर्णय लेते हैं कि इस मूक दानव को मारा जाए और अर्जुन की भी परीक्षा ली जाए।

उस समय सूअर की गुर्राहट से हवा में ऐसा भयंकर शब्द उत्पन्न होता है कि अर्जुन का ध्यान भंग हुआ। वह आँखें खोलकर देखता है कि एक विशालकाय सूअर उसकी ओर दौड़ता आ रहा है। अर्जुन ने अपना धनुष-बाण उठाया और संधान किया। इधर शिवजी भी किरात के रूप में अपना धनुष उठाकर सूअर को लक्ष्य बनाकर बाण मारते हैं। शिव और अर्जुन के बाण एक ही साथ चलते हैं। शिव के बाण का लक्ष्य सूअर का पृष्ठ भाग था। वह बाण मूक दानव के पृष्ठ भाग को बेधते हुए उसके मुँह से निकल कर जमीन में गायब हो गया। इधर अर्जुन ने उसके मुँह पर निशाना लगाया था। अर्जुन का बाण मूक दानव के मुख से अन्दर घुसा और उसके पृष्ठ भाग से होते हुए जमीन में धँस गया। मूक दानव दोनों तरफ से हताहत होकर धरती पर गिर पड़ा और तड़पते हुए उसने दम तोड़ दिया।

अर्जुन अपना बाण वापस लेने के लिए उस विशालकाय सूअर के पास जाता है। इसी समय शिवजी भी लीलावश अपने एक अनुचर को भेजते हैं कि जाओ मेरा बाण ले आओ। रुद्र अनुचर और अर्जुन, दोनों एक ही साथ पहुँचते हैं। शिवजी ने ऐसी लीला की थी कि उनका बाण और अर्जुन का

बाण, दोनों एक समान दिखते थे। शिवजी का बाण तो दैत्य को मारकर गायब हो गया था, उनके पास वापस आ गया था, और अर्जुन का बाण वहाँ पड़ा था। रुद्रानुचर ने पहले बाण को अपने हाथ में लिया, तो अर्जुन ने कहा, 'रुको, वह मेरा बाण है। मुझे मेरा बाण वापस दो।' रुद्रानुचर कहता है, 'नहीं, तुमको कैसे वापस दूँगा? यह बाण मेरे स्वामी का है। मैं उनके पास वापस ले जाऊँगा।'

अर्जुन कहता है, 'यह तुम्हारे स्वामी का बाण कैसे हो सकता है! इस बाण में जितने चिह्न हैं, सब संकेत देते हैं कि यह अर्जुन का बाण है। अत: मुझे मेरा बाण वापस दो।' इस प्रकार अर्जुन तथा रुद्रानुचर में विवाद आरम्भ हो गया। इस विवाद को सुनकर भगवान शिव माता पार्वती के साथ किरात वेश में आते हैं और अपने अनुचर से पूछते हैं, 'क्या हुआ, मेरा बाण कहाँ हैं? जल्दी दो, मुझको जाना है।' रुद्र अनुचर कहता है, 'स्वामी, यह योद्धा कहता है कि बाण मेरा है और बाण देता नहीं है। झगड़ा कर रहा है।' शिवजी कहते हैं, 'बाण इसका कैसे हो सकता है? चलाया तो मैंने है।' अर्जुन कहता है, 'मैं साबित कर सकता हूँ कि यह बाण मेरा है। मैंने अपने बाण को मुख की ओर मारा था और यह उसके मुख को भेदते हुए पृष्ठ भाग से निकला है। अगर आपने मारा होता, जैसाकि आपका कहना है, तो उस समय सूअर का पृष्ठ भाग आपकी तरफ था, आपने पृष्ठ भाग में ही मारा होगा। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो पृष्ठ भाग में बाण मारे और बाण घूमकर, सामने से जाकर उसके मुँह में घुस जाए।'

अर्जुन ने सही तर्क दिया कि अगर आपने मारा होता तो आपका बाण इसके पीछे नहीं, सामने रहता। किन्तु अभी यह बाण पीछे पड़ा है। मैंने इसके मुँह में संधान किया था, और बाण इसके मुँह को भेदते हुए पीछे जा गिरा। लेकिन शिवजी को तो लीला करनी है, वे कहते हैं, 'देखो, इस बाण पर मेरा चिह्न है।' उन्होंने अर्जुन को बाण दिखाया। आश्चर्य! जिस बाण में पहले पाण्डवों का चिह्न था, अब उसमें भील का चिह्न दिखलायी देने लगा। अर्जुन ने कहा, 'वाह! तुम इसका श्रेय लेना चाहते हो।' फिर शिव तथा अर्जुन में विवाद होने लगा और धीरे-धीरे युद्ध की नौबत आ गयी। दोनों में युद्ध शुरू हो गया।

शिवजी परीक्षा ले रहे हैं, और अर्जुन भी विश्व का एक महान् धनुर्धर है। दोनों तरफ से बाण चलते हैं। शिवजी हँसी-हँसी में अर्जुन के सभी बाणों

को काटते जाते हैं। अर्जुन को आश्चर्य होता है कि मैं तो सोचता था मैं ही इस विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हूँ, लेकिन यह भील तो मेरे सभी अस्त्रों को प्रभावहीन किए जा रहा है। अर्जुन के मन में शंका उत्पन्न हो गयी, वे कहीं परशुराम या विश्वामित्र तो नहीं?

अपने जीवनकाल में पहले ही एक श्रेष्ठ धनुर्धर, एकलव्य से अर्जुन का सामना हुआ था, जो अपने को द्रोणाचार्य का शिष्य मानता था और उनकी प्रतिमा बनाकर उसके सामने प्रतिदिन धनुर्विद्या का अभ्यास कर उसने अपने आपको धनुर्विद्या में पारंगत कर लिया था। एक बार द्रोणाचार्य जब अपने शिष्यों के साथ जंगल में गए थे, तब उन्होंने एक कुत्ते को देखा था, जिसका मुख बाणों से भरा हुआ था। उन्होंने अर्जुन से कहा, 'यह कौन-सा धनुर्धर है, जिसने कुत्ते के मुँह को अपने बाणों से भर दिया है। लेकिन खून की एक भी बून्द जमीन पर नहीं गिर रही है!'

पता चला कि वह एकलव्य है। तब द्रोणाचार्य ने एकलव्य से गुरु दक्षिणा के रूप में उसके दाहिने हाथ का अंगूठा माँगा था, क्योंकि जब बाण चलाते हैं तब अंगूठे और अंगुली से उस बाण को पकड़ कर खींचते हैं। द्रोणाचार्य ने सोचा कि जब अंगूठा ही नहीं रहेगा, तब एकलव्य बाण नहीं चला पाएगा और अर्जुन सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बना रहेगा। एकलव्य ने अंगूठा तो दे दिया, लेकिन वह भी एक समर्थ शिष्य था, उसने बाण चलाने की दूसरी विधि खोज ली। और जिस विधि से एकलव्य बाण चलाता था, वही विधि आज ओलम्पिक में प्रयोग में लायी जाती है। उसमें बाण को अंगूठे और अंगुली के बीच रखकर नहीं, बल्कि दो अंगुलियों के बीच रखकर खींचते हैं।

एकलव्य वाली घटना को याद कर अर्जुन के मन में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठा कि यह भील विश्वामित्र, परशुराम या अन्य किसी दिग्गज योद्धा साधु का शिष्य तो नहीं है।

बाण खत्म हो गए, तो दोनों ने तलवारें निकाल लीं। तलवार से युद्ध होने लगा। तलवारें चूर-चूर हो गयीं। फिर गदा से युद्ध हुआ, गदा चूर-चूर हो गयी। अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो गए। शिव और अर्जुन पेड़, पौधों और पत्थरों से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। शिव एक पत्थर फेंकते, तो अर्जुन एक ईंट फेंकता। अर्जुन एक ईंट फेंकता, तो शिव एक चट्टान फेंकते। इस प्रकार जब कंकड़, पत्थर, चट्टान, ईंट, पेड़-पौधे भी समाप्त हो गए, तब फिर दोनों

मुक्केबाजी पर उतर आए। एक-दूसरे पर मुक्के से प्रहार प्रारम्भ हुआ। जब मुक्का मारते अर्जुन का हाथ थक गया, तब वह भगवान शिव पर पैरों से प्रहार करने लगा। लेकिन भगवान शिव ने अर्जुन को उठाकर ऐसी पछाड़ मारी कि अर्जुन जमीन पर चित्त हो गया।

उसके बाद अर्जुन तेजी से उठा और शिवलिंग के पास गया। उसने सोचा, भगवान की आराधना कर लूँ, फिर लड़ता हूँ। लेकिन जब वह शिवलिंग के पास गया, तो देखा कि जो प्रहार उसने उस भील पर किये थे, उसके निशान शिवलिंग पर थे। अर्जुन स्तब्ध रह गया। उसको विश्वास नहीं हुआ, वह पीछे मुड़ कर उस भील को देखता है, भील वहाँ पर खड़े हैं। फिर सामने शिवलिंग को देखता है, शिवलिंग में उसके अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार के पूरे चिह्न दिखलायी दे रहे हैं। वह फिर भील को देखता है, जो वहाँ पर मुस्कुराते हुए खड़े हैं। अर्जुन पहचान गया, यह तो मेरे आराध्य, भगवान शिव हैं।

अर्जुन दौड़ते हुए गया और उनके चरणों पर गिर कर कहता है, 'भगवन्! मुझे क्षमा कर दो। मुझसे घोर अपराध हो गया है, मैंने आपको पहचाना नहीं। आप पर शस्त्र प्रहार किए, मुक्का चलाया, लात मारी। लेकिन आपने सब स्वीकार किया। भगवान शिव मुस्कुराते हुए कहते हैं, 'अर्जुन! तुमने मुझे जो लात मारी और मुक्के बरसाए, वह मेरी ही आराधना थी। इसलिए तुम अपने मन के दु:ख और संताप को दूर कर दो। तुमने मेरा अपमान नहीं किया है। मैंने तुम्हारी परीक्षा ली है। जिस कार्य के लिए तुम यहाँ आए हो, वह अवश्य पूर्ण होगा। ऐसा कहकर भगवान शिव ने अर्जुन को अपना पाशुपतास्त्र प्रदान किया। उसके बाद वे पार्वती सहित अपने धाम को प्रस्थान कर गये।

तत्पश्चात् महाभारत युद्ध हुआ। और युद्ध के अन्त में अर्जुन अपने भाइयों के साथ शरशैय्या पर पड़े भीष्म पितामह के पास जाकर, उनको प्रणाम कर कहता है, 'पितामह, एक शंका मेरे मन में है, कृपया उसका समाधान करें।' पितामह कहते हैं, 'कहो अर्जुन, क्या प्रश्न है तुम्हारे मन में?' अर्जुन कहता है, 'पितामह, युद्ध समाप्त हुए अट्ठारह दिन बीत चुके हैं। दुर्योधन का भी नाश हो गया है, साम्राज्य हम लोगों को मिल चुका है। लेकिन मेरे मन में एक प्रश्न बार-बार उठ रहा है। जब भी मैं युद्ध करता था, अपने सामने एक दिव्य, ज्योतिर्मय पुरुष को देखता था, जो कृष्ण द्वारा संचालित मेरे रथ के आगे-आगे चल कर त्रिशूल से कौरव सेना का संहार कर रहा था। मैं आज तक नहीं समझ पाया हूँ कि वह दिव्य पुरुष था कौन?'

भीष्म कहते हैं, 'अर्जुन, वह दिव्य पुरुष और कोई नहीं, साक्षात् भगवान रुद्र थे। तुम्हारे बाणों को भगवान रुद्र दिशा प्रदान करते थे। तुम्हारा एक भी बाण व्यर्थ नहीं गया है। अन्य योद्धाओं के अनेक बाण व्यर्थ गए, कोई जमीन में धँसा, कोई आसमान में ही उड़ गया, लेकिन तुम जिसको संधान करके अपना बाण मारते थे, वह बाण उसी को जाकर लगता था, क्योंकि उस बाण को स्वयं भगवान रुद्र संचालित करते थे। फिर जहाँ कृष्ण हैं, साक्षात् नारायण हैं, परमेश्वर शिव हैं और अर्जुन तुम हो, वहाँ विजय तो निश्चित होनी ही है।'

कलियुग में घुश्मेश्वर

दक्षिण भारत में देवगिरि नामक एक पर्वत है। उस पर्वत के पास सुधर्मा नाम का एक ब्राह्मण अपनी पत्नी सुदेहा के साथ रहता था। ये दोनों शिव भक्त थे। इन्हें हर प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, लेकिन यह अभाव हमेशा खलता रहता था कि अभी तक हमारी कोई सन्तान नहीं हुई है।

एक दिन सुदेहा ने अपने पति सुधर्मा से कहा, 'लगता है मेरे गर्भ से कोई बच्चा जन्म नहीं लेगा। मेरी एक बहन है घुश्मा, आप उससे विवाह कर लीजिए। उससे जो सन्तानोत्पत्ति होगी, वह हमारे वंश की वृद्धि करेगी और मृत्यु के समय हमें मुखाग्नि देगी।' सुधर्मा ने पहले आनाकानी की कि यह कैसे संभव है, लेकिन बाद में अपनी सहमति दे दी। घुश्मा से सुधर्मा का विवाह हो गया।

घुश्मा का एक नियम था। वह प्रतिदिन प्रात:काल नदी में जाकर स्नान करती और उसके बाद नदी के किनारे ही छोटे-छोटे एक सौ एक पार्थिव लिंग बनाकर उनकी विधिवत् पूजा-आराधना करती थी और पूजा के पश्चात् नदी में उनका विसर्जन कर देती थी। विवाह के पश्चात् भी उसका यह कार्यक्रम निरंतर चलता रहा। कुछ समय पश्चात् घुश्मा के गर्भ से एक सद्गुण सम्पन्न पुत्र ने जन्म लिया। जब घुश्मा के पुत्र का जन्म हुआ, तब सुदेहा चिढ़ गयी, उसके भीतर ईर्ष्या पैदा हो गयी कि अब मेरे पति घुश्मा और उसके बेटे को ही ज्यादा महत्त्व देंगे, मेरी ओर देखेंगे भी नहीं, मुझे भूल जायेंगे। समय बीतने के साथ सुदेहा के मन का डाह बढ़ता गया।

इधर घुश्मा का बेटा बड़ा होने लगा। समय पर उसकी शादी हुई और पुत्र वधू भी घर में आ गयी। पुत्र वधू के घर में आने से सुदेहा को बहुत जबर्दस्त जलन हो गयी, वह अपने आपको नियंत्रित नहीं कर पायी। रात को जब घुश्मा

व सुधर्मा का बेटा अपने बिस्तर पर सो रहा था, तब सुदेहा ने सोते हुए पुत्र के शरीर को छुरे से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया और कटे हुए अंगों को एक बोरे में भरकर रात के समय ही नदी में फेंक दिया। उसके बाद अपने बिस्तर पर निश्चिन्त होकर सो गयी।

प्रात:काल जब घर के लोगों ने देखा कि सुधर्मा और घुश्मा का बेटा बिस्तर पर नहीं है, केवल उसकी वधू है, तब सभी ने सोचा कि वह कहीं बाहर नदी किनारे स्नान करने गया होगा। घुश्मा भी बिना किसी सोच के अपनी दैनिक क्रियाओं को करती रही। फिर वह प्रात: स्नान के लिए जाती है। वहाँ एक सौ एक पार्थिव लिंग बनाकर पूजा करती है और जब वह तालाब के किनारे खड़ी होकर पार्थिव लिंगों का जल में विसर्जन करती है, तब शिवजी जल से प्रकट होकर कहते हैं, 'घुश्मा, मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। तुमको वर देने के लिए आया हूँ।' घुश्मा ने कहा, 'भगवन्! मुझे कोई वर नहीं चाहिए। मैं किसी इच्छा से नहीं, श्रद्धा से आपकी आराधना कर रही हूँ।'

भगवान कहते हैं, 'तुम्हारे मन में कोई इच्छा नहीं है, लेकिन मेरे मन में इच्छा है कि तुम्हें कुछ दूँ। मैं तुम्हें तुम्हारा पुत्र दे रहा हूँ।' घुश्मा ने कहा, 'मेरा पुत्र! आपके यह कहने का क्या अर्थ है कि आप मुझे मेरा पुत्र दे रहे हैं?' शिव जी ने कहा, 'सुदेहा ने ईर्ष्या के कारण तुम्हारे पुत्र को काट कर नदी में फेंक दिया था। वह मृत्यु को प्राप्त कर चुका है। वह इस संसार में जिन्दा नहीं है। उसी पुत्र को लौटाने के लिए मैं यहाँ पर प्रकट हुआ हूँ, क्योंकि तुम्हारी भक्ति अनन्य है। उत्तम और श्रेष्ठ है।'

जैसे ही भगवान शिव ने यह बात कही, जल से घुश्मा का बेटा स्वस्थ शरीर में इस प्रकार बाहर निकला जैसे स्नान करके निकल रहा हो। पास आकर वह शिवजी को और माँ को प्रणाम करता है। शिवजी कहते हैं, 'घुश्मा, मेरे मन में एक और इच्छा हो रही है।' घुश्मा ने पूछा, 'क्या प्रभु?' शिवजी ने कहा, 'मैं तुम्हारी सौत को दण्ड देना चाहता हूँ।' घुश्मा ने कहा, 'नहीं-नहीं महाराज, ऐसा बिल्कुल मत कीजिए। अगर उसने यह सब नहीं किया होता तो मुझे आपके दर्शन नहीं होते। उसने तो मेरा कल्याण किया है। अत: वह मेरी पूज्या है, वंदनीया है। इसलिए अगर हो सके तो भगवन्, मेरे इच्छानुसार आप उसे माफ कर दीजिए और शिव पद की प्राप्ति कराइये।'

घुश्मा के ऐसा कहने पर महादेव प्रसन्न होकर कहते हैं, 'घुश्मा, तुम्हारी इस भक्ति और विकारशून्य स्वभाव से मैं प्रसन्न हूँ।'

अच्छे से समझो! ईश्वर जब सामने आते हैं, तब तुम्हारे भावों का क्या रूप होना चाहिए। किसी प्रकार का विकार तुम्हारे मन में नहीं होना चाहिए। वह विकारशून्य स्थिति ही ईश्वर का सहज बोध कराती है।

भगवान जब प्रसन्न होकर घुश्मा से कहते हैं, 'अब तुम अपनी ओर से कोई वर माँगो।' तब घुश्मा कहती है, 'प्रभु! अगर आप खुश हैं, तो एक कृपा यही कीजिए कि लोगों की रक्षा के लिए सदा यहाँ पर निवास कीजिए और मेरे ही नाम से पूरे संसार में आपकी ख्याति हो।' तब से भगवान शिव घुश्मा के ईश्वर के नाम से जाने गए हैं, 'घुश्मेश्वर'।

घुश्मेश्वर की कथा के साथ शिव के बारह ज्योर्तिलिंगों की कथा यहाँ पूरी हुई। द्वादश ज्योतिर्लिंगों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

द्वादश ज्योतिर्लिंग

केदारेश्वर– शिवजी का पहला ज्योतिर्लिंग हिमालय में केदार में है, जहाँ नर और नारायण ने साधना की थी। केदार शिखर के पश्चिम में मन्दाकिनी के किनारे यह केदारेश्वर स्थित है।

सोमनाथ– दूसरा ज्योतिर्लिंग है सोमनाथ, जो सौराष्ट्र में स्थित है। काठियावाड़ प्रदेश के अन्तर्गत प्रभास क्षेत्र में भगवान शिव सोमनाथ के रूप में अवस्थित हैं।

मल्लिकार्जुन– श्रीशैलम पर्वत पर मल्लिकार्जुन के रूप में भगवान स्थित हैं, जो मद्रास प्रांत के कृष्णा जिले में कृष्णा नदी के तट पर स्थित है। श्रीशैलम को दक्षिण का कैलाश भी कहते हैं।

महाकालेश्वर– उज्जैन में मालवाप्रदेश में क्षिप्रा नदी के तट पर महाकालेश्वर का मंदिर है। वहाँ पर भगवान महाकाल रूप में अवस्थित हैं।

ओंकारेश्वर– ओंकारतीर्थ में नर्मदा नदी के तट पर ओंकारेश्वर व अम्लेश्वर दो पृथक्-पृथक् लिंग हैं। परन्तु दोनों एक ही ज्योतिर्लिंग के दो स्वरूप माने गए हैं।

भीमशंकर– नासिक से लगभग एक सौ बीस मील दूर भीमा नदी के किनारे, उसके उद्‌गम सह्य पर्वत पर भीमशंकर ज्योतिर्लिंग है। सह्य पर्वत के शिखर का नाम, जहाँ पर यह मंदिर है, डाकिनी है।

विश्वनाथ– काशी में विश्वनाथ प्रसिद्ध हैं, जो अविमुक्त क्षेत्र, आनन्दवन में निवास करते हैं। काशी का नाश कभी नहीं होता, प्रलय या संहार के समय

भी, क्योंकि वहाँ पर भगवान ने विश्वनाथ के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित कर रखा है।

त्र्यम्बकेश्वर– नासिक जिले में नासिक पंचवटी से 18 मील दूर गोदावरी के उद्गम स्थान ब्रह्मगिरि के निकट गोदावरी के तट पर ही त्र्यम्बकेश्वर का मंदिर है।

वैद्यनाथ– चिताभूमि में वैद्यनाथ है। पुराणों में देवघर क्षेत्र को चिताभूमि के नाम से जाना गया है। वहाँ सती का हृदय भी गिरा था। वहाँ पर भगवान शिव ने सती की चिता जलायी थी, इसलिए उसको चिताभूमि कहते हैं। और वहीं पर रावणेश्वर लिंग भी है, जिसका नाम है वैद्यनाथ महादेव। शैवागमों में चिताभूमौ, अर्थात् देवघर का नाम दिया गया है।

नागेश्वर– दारुकावन में नागेश ज्योतिर्लिंग का स्थान गोमती द्वारका से 12-13 मील की दूरी पर है। कुछ लोग दारुकावन के स्थान में द्वारकावन भी कहते हैं। यह द्वारका के निकट का क्षेत्र है। कुछ लोग दक्षिण हैदराबाद के अन्तर्गत औढ़ाग्राम में स्थित शिवलिंग को ही नागेश्वर ज्योतिर्लिंग के रूप में मानते हैं। शैवागमों में वर्णन के अनुसार वह द्वारका के निकट का क्षेत्र है।

रामेश्वरम्– सेतुबन्ध में रामेश्वरम्, जो चेन्नई प्रांत के रामनद जिले में है।

घुश्मेश्वर– शिवालय में घुश्मेश्वर, यह हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत दौलताबाद स्टेशन के समीप बेरुल गाँव के पास है।

इन बारह ज्योतिर्लिंगों में भगवान ने स्वयं अपने आपको अपने स्वरूप में स्थित किया है। यहाँ पर आज भी जो व्यक्ति जाकर भगवान शिव की साधना, आराधना, अर्चना करता है, उस पर भगवान शंकर अपनी कृपा की वर्षा करते हैं।

ईश्वर सर्वव्यापी हैं, लेकिन हम ही उन्हें यहाँ-वहाँ खोजते हैं। देवालय भी ईश्वर के केन्द्र माने गए हैं। देवालय उस स्थान को कहते हैं, जहाँ श्रद्धा शक्ति के बल पर ईश्वर चैतन्य हो जाते हैं। और जहाँ ईश्वर की चैतन्यता का बोध नहीं, ईश्वर की जड़ता दिखलायी देती है, वह स्थान संसारालय कहलाता है।

द्वादश ज्योतिर्लिंगों में ईश्वर के अस्तित्व, ईश्वर के प्रभुत्व का बोध होता है। वहाँ पर हजारों वर्षों से करोड़ों की संख्या में लोग श्रद्धा-भक्ति से भगवान की आराधना करते आये हैं, जिसने उस क्षेत्र में ईश्वरीय शक्ति को चैतन्य कर दिया है। भौतिक शास्त्र में इस बात को समझाया गया है।

विलायत के भौतिक शास्त्र के एक बहुत बड़े वैज्ञानिक, डॉक्टर आइसक बेन्टाव का मत है कि अगर तुम एक पत्थर को, जो एक जड़ वस्तु है, अपने घर लाकर उचित आसन पर बैठाकर उसकी पूजा-आराधना करोगे, तो उस पत्थर में, उस जड़ वस्तु में जो शक्ति है, वह चैतन्य हो जाएगी।

मैं एक पाश्चात्य वैज्ञानिक की मान्यता आपको बतला रहा हूँ। पाश्चात्य वैज्ञानिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले नहीं, पदार्थ प्रवृत्ति वाले होते हैं। जब वे अपने चिन्तन, शोध और अध्ययन से यह निष्कर्ष निकालते हैं, तब यह उनके लिए बड़ी क्रान्तिकारी घटना होती है, भले ही हमारे लिए न हो। आज विज्ञान भी इस बात को मानता है कि श्रद्धा-शक्ति के बल पर जड़ वस्तु में भी चैतन्यता आ सकती है और वह आपके इच्छानुसार सभी मनोरथों को पूर्ण करने की क्षमता रखती है। श्रद्धा के बल पर सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं।

भक्ति–शिव प्राप्ति का साधन

भक्ति जीव के बंधन को हटाकर उसे शिवपद दिलाने में सक्षम होती है। इसलिए चाहे तुम योगासन, प्राणायाम, व्यायाम, तपस्या, व्रत या अनुष्ठान करो, चाहे मंत्र जपो या समाधि लगाओ, जो करना चाहो सब करने के लिए स्वतंत्र हो, लेकिन भक्ति के लिए दस मिनट समय अवश्य निकाल कर रखो। भक्ति संसार के प्रति मनुष्य के मोह को दूर करने में सक्षम है। व्यक्ति संसार के विषयों द्वारा सम्मोहित हो जाता है। भक्ति में ही वह शक्ति, वह क्षमता है कि वह मनुष्य के मोह की अवस्था को दूर कर दे। इसलिए भक्ति को निवृत्तिरूपा भी कहते हैं। भक्ति को ऊर्ध्वमुखी, निर्माया और शुद्धा भी कहते हैं। ये सब भक्ति के अलग-अलग नाम हैं। जो माया से परे है, वह भक्ति है। भक्ति छः प्रकार की मानी गयी है–श्रद्धा भक्ति, निष्ठाभक्ति, अवधानभक्ति, अनुभवभक्ति, आनन्दभक्ति और समरस भक्ति।

श्रद्धा भक्ति–श्रद्धा भक्ति में उपास्य और उपासक, दोनों में भेद होता है। इसमें मैं उपासक बनता हूँ और जिसकी मैं उपासना कर रहा हूँ, वह उपास्य बनता है। इस प्रकार 'मैं' और 'तुम' का भाव रहता है। इस द्वैत-भाव में मेरे मन में उपास्य के प्रति जो श्रद्धा, जो भावना उत्पन्न होती है, उसको कहते हैं 'श्रद्धा भक्ति'। मैं ईश्वर पर विश्वास करता हूँ, यह हो गयी श्रद्धा भक्ति। श्रद्धा भक्ति तभी तक सम्भव होती है जब तक मनुष्य को 'मैं' और 'तुम' का आभास होता रहता है, यह ज्ञान रहता है कि मैं एक उपासक हूँ और यह मेरा उपास्य है।

निष्ठा भक्ति– इसके बाद भक्ति, श्रद्धा भक्ति से निष्ठा भक्ति में परिवर्तित होती है। जब श्रद्धा अत्यन्त प्रबल और दृढ़ हो जाती है, तब वह निष्ठा भक्ति कहलाती है। श्रद्धा भक्ति से प्रेम की वृद्धि होती है और निष्ठा भक्ति से प्रेम प्रगाढ़ होता जाता है। श्रद्धा भक्ति का अर्थ हुआ दूध और चीनी। दूध को अलग मानते हो और चीनी को अलग। लेकिन जब चीनी दूध में पड़ जाती है और घुलने लगती है और उस चीनी का स्वाद या मिठास सम्पूर्ण दूध में मिलने लगती है, तब उसका स्वरूप निष्ठा भक्ति का हो जाता है।

अवधान भक्ति– निष्ठाभक्ति की परिपक्व अवस्था ही अवधान भक्ति है। अवधान मन की एकाग्रता से सम्भव है। अवधान भक्ति का अर्थ होता है, मन जहाँ पर टिक गया, वहाँ से फिर हटता नहीं, एकाग्रता की स्थिति। जब चित्त एक प्रक्रिया में पूर्णरूपेण एकाग्र हो जाए, तब वह अवधान भक्ति कहलाती है।

अनुभव भक्ति– अवधान भक्ति अनुभव भक्ति में परिणत हो जाती है। जब साधक का मन आराध्य या उपास्य में पूरी तरह लग जाता है, केन्द्रित हो जाता है, इधर-उधर डाँवाँडोल नहीं होता, तब उस समय वह अपने शिव-स्वरूप का अनुभव करने लगता है। इस शिवानुभव को शिव की कृपा समझना 'अनुभव-भक्ति' कहलाती है।

आनन्द भक्ति– अनुभव भक्ति आनन्द भक्ति में बदल जाती है। शिवतादात्म्य अनुभव से अन्दर में आनन्द का जो स्फुरण होता है, अलौकिक सुख का जो अनुभव होता है, उसे शिव की कृपा समझना 'आनन्द-भक्ति' कहलाती है।

समरस भक्ति– आनन्द भक्ति ही फिर समरस भक्ति में बदल जाती है, जोकि भक्ति की अन्तिम स्थिति है। इसमें मनुष्य जीव-भाव को त्याग कर ईश्वर से एकाकार हो जाता है। इसे समरस भक्ति कहते हैं।

शैवागमों में भक्ति के छः स्वरूप संकेत देते हैं कि भक्ति एक प्रक्रिया है, जिसमें पहले अपने मन को ईश्वर से जोड़ते हैं, फिर श्रद्धा को बढ़ाते हैं। श्रद्धा को कैसे बढ़ाना है, यह आपको स्वयं सोचना है, कहीं पर सिखाया नहीं जा सकता। यह जीवन की स्वतः स्फूर्त्त अभिव्यक्ति है।

श्रद्धा भक्ति निष्ठा भक्ति में परिवर्तित होती है। निष्ठा भक्ति एकाग्र भक्ति में बदल जाती है। एकाग्रता बदल जाती है अनुभव में। अनुभव बदल जाता है आनन्द में। और वही आनन्द बदल जाता है समरस भक्ति में।

भक्ति के इन छः प्रकारों को अलग न मानकर, एक-दूसरे का पूरक माना जाना चाहिए।

ये कदम हैं, जो मनुष्य को उठाने पड़ते हैं। हमारी भारतीय परम्परा में कहा गया है कि यही साधना मनुष्य को मोक्ष तक ले जाती है। अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष–इनसे जीव का चक्र पूरा होता है। मैंने जीवन शब्द का नहीं, जीव शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि संसार में फँसे जीव को ही ये चार अनुष्ठान करने की आवश्यकता होती है।

जीव, जो आबद्ध है, पशु है, उसके जीवन के मल और दूषितता को साधना के द्वारा दूर करना है और फिर पॉलिश करनी है भक्ति के द्वारा। अगर तुम एक पुराने बर्त्तन को बाजार में बेचना चाहते हो, तो पहले उसको खूब रगड़-रगड़ कर उसके कालेपन को दूर करोगे, मल को हटाओगे, खूब साफ करोगे, साफ हो जाने पर फिर ब्रासो से उसको चमकाओगे, ताकि उसकी चमक लोगों को आकृष्ट करे। तभी तुमको अच्छा मूल्य मिलेगा। अगर उसी बर्त्तन को बिना धोये बाजार में बेचोगे तो हो सकता है दमड़ी भी न मिले। लोग कहेंगे, 'कितना पुराना बर्त्तन है। इसे तो कबाड़ी में दे दो, बेचोगे क्यों?'

इसीलिए साधना के द्वारा अपने मल को, जीवन के कालेपन को दूर किया जाता है और भक्ति के द्वारा अपने जीवन रूपी पात्र को चमकाया जाता है।

सृष्टि की उत्पत्ति और लय

भारतीय मत के अनुसार सत्ताईस मन्वंतर बीत चुके हैं। पहला स्वायंभू मनु का काल था और अब है वैवस्वत मनु का काल। सत्ताईस बार महाप्रलय हो चुकी है और सत्ताईस बार नवसृष्टि का निर्माण हुआ है। यह केवल हमारे शास्त्रों में नहीं कहा गया है, बल्कि विज्ञान भी अब इसको स्वीकार करने लगा है। आइंस्टीन ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिसको अँग्रेजी में 'बिग बैंग थ्योरी' कहा गया। आइंस्टीन के अनुसार सृष्टि की शुरुआत एक विस्फोट से हुई। आरम्भ में अन्तरिक्ष में कुछ नहीं था, फिर एक विस्फोट हुआ, जिसको उसने 'बिग बैंग' कहा, बड़ा विस्फोट। उस विस्फोट से ऊर्जा चारों तरफ बिखर गयी। वही ऊर्जा बाद में जब घनीभूत हुई, तब विभिन्न ग्रह, नक्षत्र, आदि उत्पन्न हुए। धीरे-धीरे कालान्तर में फिर प्राणियों का जन्म भी हुआ।

पहले वैज्ञानिक मानते रहे कि यह 'बिग बैंग' पहली बार हुआ है, लेकिन अब उन्होंने यह मानना आरम्भ किया है कि ब्रह्माण्डीय विस्फोट, जिसके कारण सृष्टि उत्पन्न होती है, एक बार नहीं, अनेक बार हो चुका है। संख्या उन्होंने निश्चित नहीं की है। लेकिन उनका मत है कि जब अन्तरिक्ष में विस्फोट होता है, तब नाद अन्तरिक्ष में फैलता है। जैसे, एक पत्थर को जलाशय में डालते हैं, तब उस बिन्दु से जहाँ वह पत्थर गिरा, गोलाकार तरंगों का विस्तार चारों तरफ होता है। दूसरा पत्थर डालेंगे, फिर गोल तरंगों का विस्तार होगा। इस प्रकार पत्थर डालते जाएँ, तो तरंगों का विस्तार होता रहेगा। अगर हम तरंगों के इस विस्तार को नाप सकें, गिन सकें, तो मालूम पड़ जाएगा कि कितने पत्थर पानी में डाले गये हैं।

आकाश तत्त्व का गुण है शब्द। अन्तरिक्ष में जब विस्फोट हुआ, जिसको वैज्ञानिक 'बिग बैंग' कहते हैं, उसकी ध्वनि तरंग अभी भी अन्तरिक्ष में विद्यमान है, क्योंकि ध्वनि, शब्द, नाद अन्तरिक्ष का गुण है। इस विस्फोट का नाद आज भी अन्तरिक्ष में यंत्रों द्वारा सुना जा सकता है।

जब विज्ञान के इस तथ्य को हम शिव चरित्र से या अपने इतिहास अथवा पुराणों के साथ जोड़कर घटनाओं की तुलना करते हैं, तब मालूम पड़ता है कि पुराणों में कही बात सत्य है। वह कपोल कल्पित दर्शन नहीं है। किसी के मस्तिष्क की उपज नहीं है, न किसी ने अपने इच्छानुसार इस दर्शन का निर्माण या सृजन किया है। वैज्ञानिक सत्य, सनातन सत्य को ही पुराणों में लिपिबद्ध किया गया है। अत: अगर कोई ऐसा सोचता है कि हमारे शास्त्रों में लिखी गयी सारी बातें अनर्गल और व्यर्थ हैं, तो उसे पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न उठता है कि जब सृष्टि का संहार होता है, तब यह धरती कहाँ जाती है? चन्द्रमा कहाँ जाता है? हमारे सौर मण्डल में बुध, शुक्र आदि जो अनेक ग्रह और नक्षत्र हैं तथा सौर मण्डल के बाहर भी जो ग्रह, नक्षत्र, तारे, आदि हैं, उनकी क्या गति होती है? कहाँ पर इनका लोप होता है? इस पर कभी किसी ने सोचा है? सृष्टि सनातन नहीं है, सृष्टि-कर्म सनातन है। किन्तु सृष्टि, जिसका जन्म होता है, उसका एक दिन संहार भी निश्चित है।

फिर ये सब जाते कहाँ हैं? कहाँ पर इनका लय होता है? विज्ञान अभी शोध कर रहा है कि होता क्या है। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहों और नक्षत्रों की बात छोड़ो, जब सब कुछ नष्ट हो जाता है, तब प्रकाश का एक कण भी अन्तरिक्ष में

विद्यमान नहीं रहता। तब सब गया कहाँ? क्या यह सारी सृष्टि भस्म हो गयी? क्या यह सारी सृष्टि अदृश्य हो गयी?

लिंग व्याख्या

शैवागमों में समझाया गया है कि सबका अन्त लिंग में होता है। ये लिंग तीन प्रकार के होते हैं। एक होता है स्थूल, दूसरा होता है सूक्ष्म और तीसरा होता है परात्पर। जिसकी स्थापना हम देवालयों में करते हैं, जिसकी आराधना-अर्चना करते हैं, स्थूल लिंग कहलाता है। वह पत्थर या धातु का बना होता है, जो एक पदार्थ है। इस स्थूल लिंग को कहा गया है इष्टलिंग, अर्थात् जो हमारे इष्ट हैं, जो हमें प्रिय हैं, जिसकी हम आराधना करते हैं, जिसको हम अपना देव मानते हैं, जिसके हम उपासक हैं।

जब श्रद्धा इष्टलिंग से जुड़ती है, तब वह उस जड़ लिंग में चैतन्यता लाती है। उस लिंग में दिव्यता और अनुग्रह प्रकट होता है। लेकिन भक्त में साधना, उपासना और संकल्प की क्षमता होनी चाहिए। पुराणों में मार्कण्डेय की कहानी आती है। उसकी आयु मात्र सोलह वर्ष थी। किन्तु जिस रात वह मृत्यु को प्राप्त होने वाला था, उस रात वह एक शिवलिंग के सामने बैठ जाता है और महादेव का ध्यान करता है। जब मृत्यु मार्कण्डेय के समीप आती है और अपना पाश उसके गले में डालती है तथा उसे अपने साथ ले जाना चाहती है, तब उस लिंग से महादेव प्रकट होकर मार्कण्डेय को जीवनदान देते हैं और मृत्यु को कहते हैं, तुम यहाँ से भागो, जो मुझमें शरणागति की खोज कर रहा है, उसको तुम स्पर्श भी नहीं कर सकती हो। उस समय मार्कण्डेय कोई महान् व्यक्ति नहीं था, लेकिन उसमें संकल्पशक्ति, श्रद्धा, निष्ठा और भक्ति थी।

कोई संत-महात्मा, शुद्ध-बुद्ध आसमान से नहीं टपकता, वह माता-पिता से जन्म लेता है, और उसके माता-पिता सामान्य होते हैं। साधु पुरुष सामान्य माता-पिता के यहाँ जन्म लेता है, लेकिन ईश्वर की कृपा से उस नवजात शिशु के भीतर अच्छे संस्कार होते हैं, जो बाद में उसके जीवन की दिशा निश्चित करते हैं। लेकिन जिस प्रकार से भी जीवन दिशा निश्चित हो, इस बात को याद रखना कि हर व्यक्ति के भीतर इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति और क्रिया शक्ति होती है। जब इच्छा, संकल्प और क्रिया में सामंजस्य हो जाता है, तब व्यक्ति अपने जीवन में असम्भव को भी सम्भव बना सकता है। मार्कण्डेय के जीवन में, अन्य मनीषियों, महात्माओं और शुद्ध

आत्माओं के जीवन में इच्छा, संकल्प और कर्म का अलग-अलग रूप नहीं था, एक रूप था। इन तीनों को एकरूपता प्रदान करना हर व्यक्ति के लिए सम्भव है, मेरे लिए भी और आपके लिए भी। केवल लगन और निष्ठा होनी चाहिए, तभी इष्ट लिंग में दिव्यता और ऊर्जा प्रकट होती है, ईश्वर प्रकट होते हैं और उनके अनुग्रह से मनुष्य अपने आपको संसार के क्लेशों से मुक्त करता है।

लिंग का दूसरा प्रकार है, सूक्ष्म। सूक्ष्म लिंग को कहा गया है प्राण लिंग, जो हमारे शरीर के भीतर है। शैवागम और योग शास्त्र बतलाते हैं कि हमारे शरीर में चक्रों में लिंग का स्वरूप है। इनमें एक होता है काला लिंग, दूसरा होता है धूम्र लिंग और तीसरा होता है ज्योतिर्लिंग।

काले लिंग का बोध मूलाधार में उस समय होता है जब मनुष्य ध्यान की गहरायी में प्रवेश करता है। ध्यान की गहरायी में प्रवेश कर व्यक्ति साधना के द्वारा अपने भीतर की सषुप्त शक्ति को जाग्रत करता है, जिसको कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी के उत्थान के साथ-ही-साथ वह अपने भीतर दूसरे लिंग का अनुभव करता है, जो ठोस नहीं है, धूम्र है। काला लिंग ठोस पत्थर का होता है, धूम्र लिंग धुएँ से निर्मित होता है। अगर हम काँच के एक गिलास के अन्दर धुआँ भर दें, तो वह गिलास में जैसे गोल-गोल घूमने लगता है, वैसे ही अपने भीतर धूम्र लिंग की अनुभूति होती है। यह धूम्र लिंग हृदय में स्थित है।

शैवागम और योग के मतानुसार मनुष्य को अपने मन, वासनाओं, चित्त और प्राण के जो व्यक्त अनुभव होते हैं, वे सब मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर तक ही सम्भव होते हैं। इन तीनों चक्रों में ही इनका बोध हो पाता है। हमारे शरीर के भीतर प्रतीक के रूप में जो काला पदार्थ लिंग है, जिसके चारों तरफ कुण्डलिनी अपना कुण्डल मारे सोई पड़ी है, वह इन तीन चक्रों को निर्देशित एवं नियंत्रित करता है। तत्पश्चात् धूम्र लिंग वहाँ प्रकट होता है जहाँ मनुष्य पदार्थ वृत्ति को त्याग कर भाव वृत्ति में अपने आपको स्थिर करता है। धूम्रलिंग अनाहत में स्पष्ट रूप से दिखलायी देता है।

तीसरा लिंग ज्योतिर्लिंग कहलाता है, जो सहस्रार में है। यहाँ पर सदाशिव निवास करते हैं और उनका स्वरूप प्रकाशमय है। योग तथा तंत्र आगमों के अनुसार जब कुण्डलिनी अपने उत्थान के क्रम में सहस्रार में सदाशिव को प्राप्त करती है, तब मनुष्य के जीवन से माया का आवरण हट जाता है। वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है।

अत: पहले प्रकार का शिवलिंग हुआ स्थूल लिंग, जिसको इष्ट लिंग कहते हैं। दूसरा हुआ सूक्ष्म लिंग, जिसको प्राणलिंग कहते हैं। तीसरा है ज्योतिर्लिंग, जो परात्पर, अव्यक्त, अनादि और अनन्त है तथा सभी का अधिष्ठान है।

ज्योतिर्लिंग, परात्पर लिंग को भाव लिंग भी कहा गया है। हमेशा 'शिवोऽहम् शिवोऽहम्' का चिन्तन करते-करते जब साधक अपने अन्दर शिवतत्त्व का अनुभव करने लगता है, तब वह भाव लिंग, परात्पर लिंग प्रकट हो जाता है और उसकी अनुभूति होने लगती है। उस समय संसार के सभी द्वैतभाव समाप्त हो जाते हैं और मनुष्य शिव सायुज्य प्राप्त करता है।

शास्त्रों में कहा गया है, *'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'*। शास्त्रों के विचार के अनुसार हमारे भीतर ईश्वर का अंश विद्यमान है, किन्तु हम ईश्वर नहीं हैं, क्योंकि हमारे जीवन में ऐश्वर्य नहीं है। जिसके जीवन में ऐश्वर्य होता है, वही ईश्वर कहलाता है। जिसके जीवन में ऐश्वर्य नहीं है, वह एक सामान्य सांसारिक प्राणी कहलाता है। मान लो, तुम माचिस की काड़ी हो। माचिस में अग्नि तत्त्व छुपा है। माचिस की काड़ी को घिसोगे, जल जाएगी, लेकिन कुछ क्षणों के लिए ही जलेगी, फिर बुझ जाएगी, वैसे ही क्षणमात्र के लिए हम लोग अपने जीवन में कभी-कभी दिव्यता और अनुग्रह का अनुभव कर पाते हैं। समय बीत जाता है और हम पुन: अपने पुराने आचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिए चिन्तन मात्र से शिवत्व का अनुभव प्राप्त करना, चाहे वह परात्पर या भाव लिंग हो, सूक्ष्म या प्राण लिंग हो अथवा इष्ट लिंग हो, सम्भव नहीं है। शिवत्व का अनुभव प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को एक साधक की तरह अपना जीवन बिताना पड़ता है।

सदाचार

भगवान शिव माता पार्वती को पाशुपत धर्म के बारे में बतला रहे थे, तब उन्होंने एक बात कही कि अगर व्यक्ति अपने जीवन में सदाचार वृत्ति का ही पालन करे, तो उसको और कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है। पाशुपत धर्म या पाशुपत तंत्र का एक नियम महादेव ने पार्वती को समझाया कि सदाचार का पालन करने वाला मनुष्य ही मुझे प्राप्त करने के लिए योग्य व्यक्ति हो सकता है, क्योंकि जो व्यक्ति सदाचारी है, उसका तन कलुषित नहीं है, उसका मन काला नहीं है, उसका हृदय, भावना, विचार और चिन्तन शुद्ध एवं पवित्र हैं। इसलिए ईश्वर प्राप्ति के लिए सदाचार को पहला चरण माना गया है।

ध्यान करते हो, लेकिन सदाचारी नहीं हो तो पूर्ण प्राप्ति नहीं होगी, आंशिक प्राप्ति होगी। लेकिन जब जीवन की अच्छाई, सरलता और सात्त्विकता तुम्हारे कर्मों में दिखलायी देने लगती है, तब वह सदाचार का रूप ले लेती है। इसलिए शास्त्रों में कहा गया है कि जब ईश्वर का अनुष्ठान या आराधना होती है, तब मनुष्य को अपने भीतर के सभी द्वेष, ईर्ष्या, घृणा और आक्रोश को पोटली में बाँध कर किनारे रख देना चाहिए। जब तक मैं साधना कर रहा हूँ, तब तक ये मेरी साधना में व्यवधान नहीं डालें।

सामान्य रूप से अनुष्ठान के समय लोग शरीर पर ज्यादा ध्यान देते हैं कि यह खाना चाहिए, यह नहीं, क्योंकि उनकी वृत्ति भोजन से जुड़ी है। क्या कभी किसी ने मानसिक आचरण के बारे में आज तक सोचा है कि मुझे यह नहीं करना चाहिए। खाने के लिए दिनभर चिन्ता करोगे, यह नहीं वह खाऊँगा, क्योंकि मैं अनुष्ठान कर रहा हूँ। लेकिन व्यवहार में कभी किसी ने यह सोचा कि मुझे यह नहीं करना चाहिए, मैं अनुष्ठान कर रहा हूँ? वास्तव में वही अनुष्ठान का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग होता है। मन गंदा शरीर साफ, फायदा क्या हुआ? शरीर को तुम साबुन से रगड़कर धो दो। शास्त्रों में वर्णित आहार भी ग्रहण करो, पचा लो। शरीर हल्का-फुल्का लगेगा, स्फूर्ति रहेगी, ऊर्जा रहेगी, लेकिन अगर मन मलिन हो तो इस शारीरिक अनुभूति का फायदा क्या? अध्यात्म में तुम्हें जो भी प्राप्ति होनी है, अपनी भावना, विश्वास और निष्ठा के कारण होगी, शरीर के कारण नहीं। इसलिए शैवागमों और योग शास्त्रों में अपने मन में संयम रखने की शिक्षा दी जाती है।

योग में आसन शुरू करने के पहले क्या करना होता है? पातंजल योग दर्शन में लिखा है, पहले यम का अभ्यास करो, फिर नियम का अभ्यास करो, तीसरे नम्बर में आसन करो, फिर उसके बाद अन्य साधना करो। योग में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि जो नियम हैं और सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि जो यम हैं, इनका प्रयोजन क्या है? मानसिक वृत्तियों में परिवर्तन लाना। जब मन शान्त हो जाता है, तब आध्यात्मिक प्राप्ति होती है। अशान्त मन में प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए भारतीय साधना पद्धति में यमों और नियमों का महत्त्व है। चाहे कोई शैव मत का अनुयायी हो या शाक्त अथवा वैष्णव मत का अनुयायी हो, अथवा किसी मत का अनुयायी न हो, नास्तिक हो, हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन को सम्हाले। और मन को सम्हालने के लिए यम एवं नियम का पालन करना आवश्यक है।

योग ग्रन्थों, शैवागमों और तंत्र साहित्य में बतलाया गया है कि इस जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया तब शुरू होती है जब मनुष्य सत्य का आश्रय ग्रहण करता है। इसलिए यम में सबसे पहले 'सत्य' का स्थान आता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, ये पाँच यम है। इनकी शुरुआत तब होती है जब मनुष्य सत्य का आश्रय लेता है। यम और नियम का अभ्यास विकृत मानसिक अवस्था को ठीक करने के लिए किया जाता है। और जब एक बार विकृत मानसिक अवस्था ठीक हो जाती है, तब मनुष्य स्वत: सदाचार के मार्ग पर प्रवृत्त होता है।

प्रणव जप

साधना के रूप में प्रणव ध्यान नियमित होना चाहिए। दिन-रात मिलाकर चौबीस घण्टे होते हैं। लोग चौबीसों घण्टे सांसारिक व्यापार ही करते हैं, परिवार, सम्पत्ति, दोस्ती, मित्रता, शत्रुता आदि के बारे में ही सोचते हैं। अब यह निर्णय लो, संकल्प लो कि 23 घण्टे 50 मिनट संसार के लिए और 10 मिनट अपनी आत्मोन्नति के प्रयास के लिए। यह जो 10 मिनट का समय निकालते हो, इस समय शान्ति से बैठकर भ्रूमध्य में अपने ध्यान को केन्द्रित कर प्रणव साधना किया करो। चाहे स्थूल की साधना करो या सूक्ष्म की।

प्रणव की स्थूल साधना है, पंचाक्षरी मंत्र का ध्यान। मंत्र का एक ही प्रयोजन होता है, *'मननात् त्रायते इति मंत्र:'* – मन को बंधन मुक्त, चिन्ता मुक्त कर स्वतंत्र कर देना।

मंत्र के द्वारा जब हम अपनी भावना को इष्ट के साथ जोड़ते हैं, तब इष्ट हमारे भीतर जाग्रत हो जाते हैं। इसलिए पाशुपत धर्म में मंत्र साधना का निर्देश दिया गया है कि प्रतिदिन संसार के विषयों से अपने मन को अलग कर, मंत्र से जोड़ दो। चाहे ॐ कहो, नम: शिवाय कहो, ॐ नम: शिवाय कहो, सोऽहम् कहो, या अन्य किसी मंत्र का जप करो। लेकिन जप आवश्यक है, और जप करते समय यह बात मन में रहनी चाहिए कि मैं और मेरे आराध्य एक हैं। इसीलिए हमारे शास्त्रों में कहा गया, 'सोऽहम्'। स: अहम्, मैं वह हूँ। कुछ लोग कहते हैं, यह वेदान्त की घोषणा है। अब यह वेदान्त की घोषणा हो या सांख्य, तंत्र अथवा अन्य किसी शास्त्र की। किसी भी विचार का सम्बन्ध दर्शन से नहीं, उस मनुष्य या साधक के जीवन से होता है, जो उसको प्राप्त करना चाहता है। इसलिए इस बात को भूल जाओ कि यह वेदान्त है, शैव है, वैष्णव

है, शाक्त है। साधना पद्धति किसी धर्म, सम्प्रदाय या मत की नहीं होती है। साधना हर व्यक्ति द्वारा की जा सकती है, और अपनी भावना के अनुरूप हम अपनी इच्छा से अपने लिए धर्म, सम्प्रदाय या मत का चुनाव करते हैं।

जो विचार हमें अपने लिए उचित लगता है, उसे हम आत्मसात् करते हैं। लेकिन साधना के क्षेत्र में परम्परा द्वारा निश्चित किये गये क्रम का पालन होना चाहिए। अगर तुम डॉक्टर के पास जाकर कहते हो कि मुझे इस बीमारी के लिए मीठी गोली ही चाहिए। और डॉक्टर कहता है कि इस बीमारी के लिए मीठी गोली नहीं, कड़वी गोली लेनी होगी। तब क्या तुम न कहोगे? तुमको बीमारी दूर करनी है कि मिठाई खानी है? निर्णय कर लो। अगर तुमको बीमारी दूर करनी है, तो जो उपाय डॉक्टर बतलाता है, उसके अनुसार चलो। अगर तुम डॉक्टर के बाप बनकर कहते हो कि डॉक्टर साहब मुझको मीठी गोली दीजिए, तो वह अनुचित है। उपचार का जो क्रम एक डॉक्टर निश्चित करता है, उसके अनुसार चिकित्सा होनी चाहिए।

इसी प्रकार साधना का जो क्रम एक परम्परा निश्चित करती है, उसके अनुसार साधना होनी चाहिए। अपनी इच्छा से, अपनी सुविधा के लिए साधना में परिवर्तन नहीं लाना नहीं चाहिए। सामान्य रूप से लोग अपनी सुविधा और सहूलियत के लिए साधना की प्रक्रिया में परिवर्तन ले आते हैं। साधना को अपने सुविधानुसार परिवर्तित करने की बजाय स्वयं की जीवन पद्धति में उसके अनुसार परिवर्तन क्यों नहीं लाते! वहीं पर तुम फेल होते हो और कोई उपलब्धि नहीं होती, बस हाथ-पैर मारते रहते हो।

एक बार एक नाव में पण्डित जी बैठ गये, लेकिन नाव की रस्सी खोली नहीं और रातभर पतवार चलाते रहे। नाव वहीं की वहीं रही। महाराज ने रातभर नौका विहार का आनन्द लिया, लेकिन गए कहीं नहीं। ऐसा ही आप लोगों के साथ भी होता है। फिर जब कोई उपलब्धि नहीं होती तब कहते हैं कि इस साधना में कुछ दम नहीं है, फालतू है, सब साधु अपनी कमाई के लिए हम लोगों का दिमाग घुमाते रहते हैं। लेकिन कोई साधु किसी का दिमाग खराब नहीं करता, तुम ही अपना दिमाग खराब करते हो, क्योंकि तुम हर चीज को अपने सुविधानुसार, अपने अनुकूल बनाना चाहते हो। तुम एक परम्परा, एक व्यवस्था के अनुसार नहीं चलना चाहते। अगर तुम एक परम्परा, व्यवस्था, विधि और विधान के अनुसार चलोगे, तो निश्चित रूप से अपने जीवन में सुख, शान्ति और समृद्धि को प्राप्त कर पाओगे, इसमें कोई दो मत नहीं है।

शिव व्याख्या

हमने शिवजी के बारे इतनी चर्चा की, लेकिन शिव है कौन? शिव की व्याख्या क्या है? शिव शब्द शकार, इकार और वकार से मिलकर बना है। शिव में शकार का अर्थ होता है, नित्य सुख और आनन्द। इकार का अर्थ होता है, पुरुष। और वकार का अर्थ होता है, अमृत स्वरूपा शक्ति। जब हम शिव शब्द बोलते हैं, तब उसमें शक्ति और शिव, दोनों सम्मिलित हैं। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि अमृत स्वरूपा शक्ति और परम पुरुष, जो कल्याणकारी हैं, जो आनन्द देने वाले हैं, वे शिव कहलाते हैं।

शिव शब्द शिव और शक्ति, दोनों की ओर संकेत देता है कि वही इस सृष्टि में कल्याणकारी तत्त्व है, ज्ञान है, उपलब्धि है। शिव अगर साध्य हैं, तो भक्ति उसकी साधन है। अत: एक बार अपने आपसे फिर पूछो कि सृष्टि के पहले कौन था, सृष्टि के बाद कौन रहेगा। तुम्हें उत्तर मिलेगा, 'सृष्टि के पूर्व शिव थे। सृष्टि के पश्चात् भी शिव ही रहेंगे, तथा शिव और शक्ति दोनों अभिन्न हैं।'

शिव पुरुष नहीं, शक्ति स्त्री नहीं, ये व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्माण्ड के सनातन तत्त्व हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् और जीवन का विस्तार होता है। यह शिव महिमा अपरम्पार है। उनके बारे में हमने यहाँ जो कुछ कहा, उसका श्रेय जाता है महादेव को और अपने गुरु श्री स्वामी सत्यानंद जी को, जिनकी प्रेरणा से यह कार्य सम्भव हुआ।

हर हर महादेव!



क्षमा प्रार्थना

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वर।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥ 1 ॥

आवाहनं न जानामि न जानामि तवार्चनम्।
पूजां चैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥ 2 ॥

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पार्वतीनाथ सर्वपापहरो भव ॥ 3 ॥

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व परमेश्वर ॥ 4 ॥





संस्मरण

बरसता रहा अनुग्रह

अपने 49वें जन्मदिन के एक दिन पूर्व हमारे अपने स्वामी निरंजनानन्द जी ने अचानक एक ऐसा गवाक्ष खोला, जिसमें उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का ऐसा नवीन स्वरूप दीख पड़ा कि हम देखते ही रह गये, हमारी वाणी और मन स्तम्भित हो गये, आँखें खुली की खुली रह गयीं। नेत्र न उस तेज को सहन कर पा रहे थे और न पलकों को बन्द करने का कोई उपाय था, *'भरि जनम हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल।'*

तिथि थी 13 फरवरी 2009, प्रात:काल स्वामी निरंजन जी व्यासपीठ पर विराजमान थे और सामने थी साधकों, जिज्ञासुओं, भक्तों और प्रशंसकों की अपार, पर संयत भीड़। दूसरी ओर थे, एक बार में ध्यान आकृष्ट कर लेने वाले बाल योग मित्र मण्डल के सहस्राधिक छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ, जिन्होंने कथा-स्थल की सारी व्यवस्था का भार अपने कोमल कंधों पर ले रखा था। प्रवेश द्वार पर आगन्तुकों का स्वागत, कथा-स्थल में उन्हें सादर समुचित स्थान पर बैठाना, सुमधुर कण्ठों से कीर्तन-भजन गायन, भगवान शिव का प्रसाद वितरण करना, फिर भोजन के समय लगभग 2000 लोगों को प्रेम से भोजन परोसना, क्या-क्या नहीं कर रहे थे।

प्रात: 5 बजे से संध्या 6 बजे तक वे जिस हर्ष, उत्साह और श्रद्धा से सारी व्यवस्था सम्हाल रहे थे, वह देखने की नहीं, अनुभव करने की चीज थी। ये सभी स्वामीजी की आँखों की भाषा इतनी सहजता और शीघ्रता से समझ लेते हैं कि आदमी उसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है। इनके अनेक रूप थे– कभी ये भगवान शिव के विलक्षण बाराती होते थे, तो कभी द्वादश ज्योतिर्लिंगों के प्रतीकों के समक्ष सौम्य गम्भीर पण्डितों की तरह विभिन्न पदार्थों से सहस्रार्चन कर रहे होते थे। मुस्कान तो इनके चेहरों पर जैसे स्थायी रूप से बस गई थी।

13 फरवरी को प्रात:काल वैदिक मंत्रोचारण के साथ भगवान शिव की भव्य शोभायात्रा कथा-स्थल में पहुँची तो समस्त जन-समूह में एक ज्वार-सा आ गया। शिवलिंग की स्थापना कथा-स्थल में हुई, स्वामीजी श्रीव्यासपीठ पर आसीन हुए, गुरु व्यास पूजा हुई। स्वामीजी ने शिव चरित्र चर्चा और शिवाराधना के सम्बन्ध में संक्षेप में परिचयात्मक भूमिका दी। भूमिका ने प्यास और तीव्र कर दी।

व्यासपीठ पर बैठते ही जैसे स्वामीजी का पूर्ण व्यक्तित्व एक दिव्य आवेश से भर जाता था। शिव चरित्र के गूढ़तम रहस्यों को वे ओजस्वी, पर सरल भाषा में उपस्थित जनमानस को हृदयंगम कराते। तंत्र, दर्शन, आगम के तत्त्वों को स्पष्ट करते समय न भाषा की सरलता आड़े आयी और न सरल भाषा के कारण भाव ही फीके पड़े। क्या मणिकांचन संयोग था। समस्त कथा-स्थल में अद्‌भुत शान्ति रहती चार घण्टे तक, जो एक बार आ जाता, उठने का नाम नहीं लेता। सबकी आँखें स्वामीजी के मुख पर टिकी रहतीं और उनका पूरा शरीर ही जैसे श्रवणेन्द्रिय बन गया होता। सबके चेहरों पर कृतज्ञतापूर्ण अतृप्ति दिखाई पड़ती, जैसे कुछ और, कुछ और का मनुहार हो रहा हो।

इस स्थल पर रामायण का वह प्रसंग बार-बार स्मरण हो आता है जब भगवान राम ने महर्षि वशिष्ठ से वनवास के समय अपने रहने के स्थान के विषय में पूछा था। महर्षि ने पहला स्थान बताया–

जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ।।

यहाँ श्रोतागण की श्रवणेन्द्रिय जैसे समुद्र के समान हो गई थी, जिनमें स्वामीजी की ओजस्विनी वाणी की मन्दाकिनी अनवरत प्रवेश करती जा रही थी, पर वे भर नहीं पा रही थीं। यह कथा सामान्य कथाओं से कुछ भिन्न-सी थी। यह मात्र लोकरंजन नहीं था। ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म, आधुनिक और प्राचीन का अपूर्व समन्वय था।

अब महिमा भगवान शिव की कथा की थी या स्वामीजी की वाणी की मन्दाकिनी की, यह निर्णय करने का सामर्थ्य हममें तो नहीं है।

सात दिनों की कथा को कुछ पृष्ठों में समेटना संभव नहीं है, पर कुछ ऐसे प्रेरक प्रसंग थे, जिन्हें यत्न करके भी भूला नहीं जा सकता।

दक्ष प्रजापति ने पराम्बा शक्ति को पुत्री रूप में प्राप्त करने के निमित्त घोर तपस्या की। जगदम्बा ने प्रसन्न हो वरदान तो दिया, पर एक अनोखी शर्त्त लगा दी–जिस क्षण तुम्हारे द्वारा मेरा अपमान होगा, मैं चली जाऊँगी। दैव संयोग से ऐसा समय आया और सती अपने आराध्य शिव के मना करने पर भी जब अपने पिता के यज्ञ में गई तो दक्ष ने जगदम्बा सती का अपमान कर दिया और तत्क्षण उन्होंने योगाग्नि से अपने को भस्म कर दिया। उसके बाद दक्ष के यज्ञ की और स्वयं दक्ष की जो दशा हुई, सर्व विदित है।

सहसा आज समाज में व्याप्त उस विद्रूप मानसिकता का स्मरण कर रोमांच हो आता है जब माता-पिता भ्रूणावस्था में ही अपनी पुत्री का अपमान क्या, उसकी हत्या कर देते हैं और अपने आपको दक्ष के ही समान किसी भयावह परिणाम के लिए प्रस्तुत कर देते हैं। शायद उन्हें सती का शाप स्मरण नहीं होता या उसका पता भी न हो।

दूसरा प्रसंग था पार्वती और शिव के विवाह का। पार्वती ने मन से शिव का वरण कर लिया था और अपने माता-पिता की अनुमति से शिव को पति रूप में प्राप्त करने के लिए कठोर तपस्या करने लगीं।

संबत सहस मूल फल खाए । सागु खाइ सत बरष गवाँए ॥
कछु दिन भोजनु बारि बतासा । किए कठिन कछु दिन उपबासा ॥
बेल पाती महि परइ सुखाई । तीनि सहस संबत सोइ खाई ॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना । उमहि नामु तब भयउ अपरना ॥

कठिन तपस्या, ऋषियों द्वारा दिये गये प्रलोभन और शिव की आलोचना के बाद भी जब पार्वती अपने संकल्प से विचलित नहीं हुईं, तब शिव ने उनके समक्ष उपस्थित हो उनका हाथ मांगा। पर पार्वती भी धन्य थी, जिन्होंने इतनी कठिन परीक्षा के बाद अपना अभीष्ट अपने समक्ष पाकर भी भारतीय नारी की मर्यादा की एक रेखा खींच दी। उन्होंने कहा–भगवन्! आपको मेरा हाथ चाहिए तो आप मेरे पिता से याचना कीजिये।

उधर शिव पार्वती से भी विलक्षण हैं। वे नट का वेश धारण कर महाराज हिमवान् की सभा में जाते हैं, अपनी कला से हिमवान् को प्रसन्न कर मनचाहा पुरस्कार मांगने का आश्वासन पाते हैं और उनसे देवी पार्वती का हाथ पुरस्कार में मांगते हैं। जो सदा सर्वदा एक-दूसरे को प्राप्त हैं, उसे ही प्राप्त करने के लिए, लीला में ही सही, कितना अद्भुत कठोर प्रयास होता है दोनों ओर से।

संकल्प साधना, संयम, प्रेम और मर्यादा जैसे शब्दों को उन्होंने लीला द्वारा ही पारिभाषित कर दिया। पर आज अपनी वासना के प्रभाव में हम लोग बड़ी सहजता से कह देते हैं, ऐसा तो भगवान ही कर सकते हैं, हम तो मनुष्य हैं। अरे! वही भगवान हम सब में विराजमान हैं। उन्हें देखकर भी हम नहीं देखते। उन्हें सुनकर भी हम नहीं सुनते और अपने पशुवत् व्यवहार को महिमा मण्डित करते हैं।

अन्य प्रसंग था किरातार्जुनीय। पाशुपतास्त्र की प्राप्ति हेतु अर्जुन हिमालय में घोर तपस्या करते हैं। शिव प्रसन्न होते हैं, पर अभी नहीं, एक और परीक्षा बाकी है अर्जुन की पात्रता की, पाशुपतास्त्र धारण करने की पात्रता की। किरात वेश में शिव से अर्जुन का भीषण लोमहर्षक युद्ध होता है। अर्जुन के सारे अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो जाते हैं, पर अर्जुन हार नहीं मानता। मल्ल युद्ध प्रारम्भ हो जाता है दोनों में। एक ओर स्वयं महाकाल और दूसरी ओर भगवान कृष्ण का प्रिय सखा धनुर्धर अर्जुन। सहसा अर्जुन किरात के गले में पड़ी माला को देखता है कि यह तो वही माला है जो उसने प्रात: शिव विग्रह पर अर्पित की थी। उसे स्पष्ट हो जाता है ये किरात वेश में स्वयं शिव हैं। वह शिव के इस अनुग्रह से अभिभूत हो जाता है। शिव प्रसन्न हो उसे पाशुपतास्त्र प्रदान करते हैं।

पर आज तो हम बिना प्रयास के ही पुरस्कार चाहते हैं। एक लोटा देकर एक बेटे की कामना करते हैं और आज ऐसे बेटों की कमी नहीं है जिनके पिताश्री वृद्धाश्रमों की स्थापना की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सागर मन्थन हो रहा है, रत्न निकल रहे हैं। देवता उन्हें आपस में बाँट रहे हैं, कोई ऐरावत हाथी लेता है, कोई उच्चश्रवा घोड़ा लेता है तो कोई सुरभी गाय लेता है। पर जब विष निकलता है और सारी सृष्टि उसके प्रभाव से जलने लगती है तब शिव उसका पान कर लेते हैं। सृष्टि की रक्षा हो जाती है। पर हम हैं जो विश्व हित में, देश हित में, समाज हित में या यहाँ तक कि परिवार हित में भी किसी अप्रिय विचार को स्वीकार करना तो दूर, सहन नहीं कर पाते। परन्तु अवसर आने पर अपने को महान् समझने-समझाने में संकोच नहीं करते।

अनन्त हैं कथायें, अनन्त हैं व्याख्यायें, पर इन सात दिनों में जो सुना, जो पाया, वह अवर्णननीय है। ऐसा अवसर जीवन में कभी-कभी आता है। संतों का संग हो तो परमात्मा का अनुग्रह बरसता है। स्वामीजी ने करुणा कर ऐसा

संयोग जुटाया। भगवान शिव ने स्वामीजी को अपना माध्यम बनाया और हमें अपने जीवन के प्रयोजन का आभास मिला। यह न पूछें हमें क्या मिला और कितना मिला, जो भी मिला, हमारी पात्रता से अधिक ही मिला।

कथा का समापन करते हुए स्वामीजी ने मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए साधना और भक्ति की अपरिहार्य आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया।

न जाने जगज्जननी महामाया हम पशुओं के गले से कब अपना पारा खोलेंगी और कब पशुपति शिव अपने भटके हुए पशुओं की सुध लेंगे। पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी की वाणी से शिव का ही अनुग्रह बरसता रहा और हम भींगते रहे उसमें।

– स्वामी शंकरानन्द सरस्वती

शिव चरित्र एवं आराधना

स्वामीजी ने प्रथम दिन ही कह दिया था कि मैं शिव-कथा कहने नहीं जा रहा हूँ, बल्कि शिव चरित्र एवं आराधना पर ही बोलूँगा। जैसा उन्होंने नाम दिया, वैसा कर भी दिखाया। यथा नाम तथा गुण।

मैंने शिवपुराण पढ़ा और शिव पुराण की कथाओं को भी सुना है। किन्तु जिस प्रकार से स्वामीजी ने व्याख्या की, जिस तरह सरल और सहज ढंग से प्रस्तुत किया, वास्तव में शिव की आराधना के माध्यम से दिल तक पहुँचने, भक्ति को जाग्रत करने और आनन्दरस की प्राप्ति कराने में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। पूरा शिवालय परिसर आध्यात्मिक स्पन्दनों से भर चुका था। प्रातः 6:30 से 11:30 बजे तक बैठते और पुनः 3:30 से 6:30 बजे तक बैठे रहते। एक बार जो बैठते तो हिलने का कोई नाम नहीं लेता था, भक्तिरस में हर व्यक्ति सराबोर हो चुका था। मैंने अब तक शिव पुराण की जो किताबें पढ़ी थीं और कथाएँ सुनी थीं, वे मात्र पढ़ायी तक सीमित थीं, किन्तु स्वामीजी जिस तरह की व्याख्या कर रहे थे, उससे कभी हँसी और कभी आँखों से आँसू भी आने लगते थे। जब मैं 13 वर्ष का था, तब मैं कुछ प्रार्थनाएँ प्रतिदिन किया करता था, उनमें एक प्रार्थना थी, *'हे जगत्राता विश्व विधाता, हे सुख शान्ति निकेतन हे।'* जब स्वामीजी यह भजन कराते थे, तब अन्दर से मैं बहुत ज्यादा भावुक और गद्‌गद् हो जाता था, आँखों में आँसू भर आते थे, इस प्रार्थना का एक-एक अक्षर दिल तक पहुँचता

और खूब आनन्द आता था। जब तक स्वामीजी का सत्संग चलता था, पूज्य गुरुदेव की याद बहुत आती थी। सभी को लगता था स्वामी निरंजनजी के माध्यम से श्रीस्वामीजी स्वयं बोल रहे हों।

हालाँकि अनुभव की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती, लेकिन शिव चरित्र और उनकी आराधना ने दिल में हलचल तो मचा ही दी। गुरु तो भगवान के डायरेक्ट प्रतिनिधि होते हैं और यदि उनके मुखारबिन्द से शिवजी की लीला और उनके गुणों के बारे में सुनने को मिले, तो सवाल ही पैदा नहीं होता कि किसी के दिल का दरवाजा बंद रह सके।

एक दिन मैंने कुछ लोगों से पूछा कि कैसा लग रहा है कथा सुनकर। उन्होंने कहा, बड़ा ही मजा आ रहा है। बाल योग मित्र मण्डल के एक 10 साल के लड़के से पूछा, कैसा लग रहा है कथा सुनकर? कहता है, खूब आनन्द आ रहा है। मैंने पूछा, मजा नहीं आ रहा है? फट से कहता है, मजा मत कहिए, आनन्द आ रहा है कहिए। उस लड़के के इस जवाब को सुनकर मैं गद्‌गद्‌ हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि बच्चों ने भी शिव चरित्र के बारे में सुनकर आनन्द का अनुभव किया। एक सप्ताह ऐसे बीत गया कि पता तक नहीं चला। बचपन में शिव पूजा, प्रार्थना आदि श्रद्धा-विश्वास के साथ करता था। किन्तु गुरुदेव की शरण में आने के बाद अब उनका अनुभव भी कुछ होने लगा है।

– स्वामी गोरखनाथ सरस्वती

अंधकार से प्रकाश की ओर

अनायास ही हमें एक दिन काले रंग का एक निमंत्रण पत्र मिला, जिस पर सुनहले अक्षरों में एक संदेश खुदा था। वह आमंत्रण परम गुरु, स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के नेतृत्व में होने वाले आध्यात्मिक आयोजन, 'शिव चरित्र एवं शिव आराधना' का था। आयोजक थे, श्री मगनीराम बैजनाथ गोयनका दातव्य न्यास, मुंगेर एवं व्यवस्थापक थे, मुंगेर के बाल योग मित्र मण्डल के बच्चे।

आयोजन स्थान, बैजनाथेश्वर शंकर बाग से हम अच्छी तरह परिचित हैं, किन्तु आज इस स्थल का स्वरूप कुछ बदला-सा लगा। हमने देखा, शंकर बाग की दीवारों पर 'नमः शिवाय' मंत्र लिखा है। सभी व्यक्ति अंग

वस्त्रों से सुशोभित हैं, जिन पर महामंत्र जड़ा है। सभी भक्तों के मस्तक पर भस्म एवं कुंकुम का तिलक है एवं उनके अभिवादन का स्वर भी 'हरि ॐ' है। चारों तरफ सुख-शान्ति का साम्राज्य एवं भक्ति का पवित्र वातावरण है। बात ठीक ही थी, इस शिव महोत्सव के जश्न में शंकर बाग, शिव बाग में तबदील हो गया था। इस शिवग्राम के मुखिया, सदाशिव तालाब के मध्य श्वेत संगमरमर निर्मित गर्भगृह में अवस्थित हैं। सामने एक पगडंडी है, जो ग्राम प्रधान सदाशिव के दर्शन को ले जाती है।

गाँव की पाठशाला में बच्चे पढ़ रहे थे 'शिवस्तोत्र माला',
शिव भजनों पर थिरक रही थी सम्पूर्ण नृत्यशाला ।
खेतों में नन्दी बेधड़क घूम रहे थे और जगह-जगह शिव के त्रिशूल गड़े थे।
तालाब में हंसावतार एवं मत्स्यावतार की अठखेलियाँ दर्शनीय थीं।
पेड़-पौधे पशु-पक्षी सभी की मनोरम अभिव्यक्ति थी,
इसी गाँव के चौपाल पर चल रही थी एक कथा,
जिसके श्रवण के बिना यह जीवन है वृथा।

यह कथा है शिव के परिवार की, सृष्टि के करतार की और उनके अवतार की। कथावाचक हैं, परम गुरुदेव। स्वयं शिवमुख से शिव-ज्ञान-कथा का अमृत प्रवाह! यह बात शत-प्रतिशत सही है कि जहाँ सूर्य की प्रखरता एवं चन्द्र की शीतलता, सागर की गहराई एवं पर्वत की उत्तुंगता, विचारों की दार्शनिकता एवं बाल-सुलभ कोमलता समन्वित हो उठे, वहाँ एक ही नाम उभरता है, स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती। इन्हीं गुरुदेव से मुंगेरवासियों ने शिवचरित बताने की अपील की है।

विलक्षण ढंग से यह कथा प्रारम्भ होती है। गुरुदेव कथा को *फ्लैश बैक* में ले जाते हैं। प्रलय हो चुकी है। कई युग और मन्वन्तर बीत चुके हैं। चारों तरफ अंधकार का साम्राज्य है और सभी कुछ अदृश्य एवं अव्यक्त है। अनंतकाल के बाद एक ज्योतिपुंज दृश्यमान् और 'ॐ' शब्द का नाद ध्वनित होता है। यह ज्योतिस्तंभ है 'महाकाल' का और ॐ मंत्र इसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति है।

यह पावन परिसर भी महाकाल के इसी स्वरूप की व्याख्या कर रहा है। व्यासपीठ की विशाल पृष्ठभूमि भी महाकाल के इसी रूप से आच्छादित है। सम्पूर्ण कथा-स्थल मानो अंधकार और प्रकाश की आँखमिचौली खेल

रहा है। यहाँ भी शिवगुरु के नेतृत्व में अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का अभियान है।

सदाशिव का निराकार प्रतीक शिवलिंग, शिव एवं शक्ति का संयुक्त प्रतीक है। समस्त संसार का प्रपंच संहार के समय इस लिंग में विलीन हो जाता है। ॐकार निराकार स्वरूप का मंत्र है। 'अ' आदि स्वर है, 'उ' पंचम स्वर है और 'मकार' भी पाँचवाँ वर्ण है। इनके संयोग से इस निराकार स्वरूप के मंत्र की उत्पत्ति होती है। फिर हमें बताया जाता है शिव के साकार स्वरूप के बारे में। भारतीय संस्कृति का मूल आधार है, मूर्ति पूजा। साकार रूप में शिव पंचमुखी हैं, त्रिनेत्री हैं और दसभुजाधारी हैं। श्वेत कर्पूर वर्ण है उनका। उनकी भुजाओं में कलश, आयुध, शंख, चक्र एवं पद्म हैं। बालों की जटाजूट में गंगा एवं गले में सर्प धारण करते हैं। ललाट पर चन्द्रमा विराजमान है। शिव के पंचमुख आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के प्रतीक हैं। इन सगुण 'रूप' की उपासना 'नमः शिवाय' मंत्र से होती है।

आगे हम समझते हैं कि सृष्टि का सृजन किस प्रकार हुआ। सदाशिव के बायें अंग से विष्णु प्रकट हुए एवं दायें अंग से ब्रह्मा। शिव के पंच कृत्य हैं–सृष्टि, पालन, संहार, तिरोभाव एवं अनुग्रह। शिव ने ब्रह्मा को सृष्टि सृजन एवं विष्णु को स्थिति का प्रभार दिया है। रौद्र रूप संहार कार्य के लिए है। तिरोभाव एवं अनुग्रह सदाशिव के लिए आरक्षित हैं। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन एवं संहारकर्ता शिव हैं एवं इनकी शक्ति शिवा है। इनकी ज्योति से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भासित है।

हम धीरे-धीरे प्रकाश की ओर बढ़ रहे थे, जहाँ गुरुदेव के द्वारा शास्त्रों के चार पुरुषार्थ–अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की शिक्षा दी जा रही थी। कलयुग में धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ अस्तित्वहीन होते जा रहे हैं। इन पुरुषार्थों के सामंजस्य के अभाव में ही अव्यवस्था फैलती है। जीव आँखों से रूप, नाक से गंध, कान से शब्द, त्वचा से स्पर्श एवं जिह्वा से रस पाने के लिए कर्मेन्द्रियों से प्रयत्न करता है एवं अहंकारवश स्वयं को कर्त्ता मानता हुआ कर्मफल से बंध जाता है। कामदेव के बाण से शिव की समाधि भंग हुई। कामदेव भस्म हो गया। जब अद्वैत की आँखें खुलती हैं, तब द्वैत भस्म हो जाता है। पाशुतंत्र एक साधना विधि है। पशु एक आबद्ध जीव है और इसके पति हैं ईश्वर। जीव पाश में बंधा है। ईश्वर की अनुकम्पा होने पर ही मुक्त होता है।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग की समस्त घटनाएँ इस छोटी-सी सृष्टि में घटित हो रही हैं। द्वादश ज्योतिर्लिंग भी एक कतार में आ खड़े हुए हैं। सती की स्मृति में शक्तिपीठों की स्थापना हुई। देव-दानवों के युद्ध, समुद्र मंथन, शिव का विषपान, शिव-सती संवाद, शिव-पार्वती विवाह एवं गणेश-कार्तिकेय के जन्म की कथाएँ हुईं। अनंत शिव की कथाएँ भी अनंत हैं।

शिव एवं विष्णु परस्पर प्रेम-भाव में बंधे हैं। इसीलिए राजधानी से ठाकुर एवं ठकुराईन भी इस महोत्सव में शरीक होने पहुँचे हैं। बिल्कुल राजसी ठाट-बाट के साथ। यूँ तो विष्णु श्रृगांरप्रिय हैं और शिव अभिषेक प्रिय। शायद संगति का ही असर है कि शिव भी श्रृंगारप्रिय हो गये हैं। यूँ तो भोले भण्डारी मृगछाल पहने भभूति रमाये श्मशान में विचरण करते हैं, किन्तु अभी तो नित नये श्रृंगार में दिखाई दे रहे हैं। कपड़े भी एकदम डिजाईनर। एक से बढ़कर एक श्रृंगार प्रसाधन भरे हैं उनके कक्ष में। गंगा, चन्द्रमा, सर्प, रुद्राक्ष, त्रिशूल, जटाजूट एवं विभिन्न सुंदर पुष्पों से सज कर वे अपने भक्तों को मोहित कर रहे हैं।

शिव को बेल-पत्र भी अति प्रिय है। शिव तो एक बेल-पत्र चढ़ाने से ही प्रसन्न हो जाते हैं। यहाँ तो स्वयं सैकड़ों बेल-पौधे ही उनकी अर्चना में चले आते हैं। बाल योग मित्र मण्डल के बच्चे भी छोटे-छोटे बेल-पत्र के बिरवे ही तो हैं, जो सही भूमि और सही निर्देशन में बढ़ रहे हैं। भविष्य में ये ही वृक्ष बनकर फल-फूल और घनी छाँव देंगे। इनके द्वारा सतत् भजन-कीर्तन एवं हवन का कार्यक्रम चलता रहा। *जय शिवशंकर जय शिवशंकर जय शंकर भोले, सब देवों में देव निराले, जय बम-बम भोले* और *हे जगत्राता, विश्व विधाता, हे सुख शान्ति निकेतन हे* जैसे स्तोत्रों की लय-ताल पर नटराज का नर्त्तन एवं जय घोष का सिंह गर्जन भी गुंजित हुआ। विद्वान् द्विज एवं ब्राह्मणों द्वारा नित्य वैदिक मंत्रोच्चार द्वारा रुद्राभिषेक एवं सहस्त्रार्चन के अनुष्ठान भी सम्पन्न हुए।

शिव कथा तो हमने पहले भी सुनी थी, परन्तु इतने सहज-सरल ढंग से नहीं। यहाँ सरस प्रसंगों में ही मन नहीं रम रहा था, वरन् ज्ञान एवं दर्शन की बातें भी गुरुदेव हिज्जे करके बतला रहे थे। शिवचरित का क ख ग घ और अ, आ, इ, ई समझा रहे थे। हम अव्यक्त से व्यक्त की ओर जा रहे थे। हम मूढ़ अज्ञानियों को वे ऐसे समझा रहे थे जैसे कोई माँ जबरदस्ती बच्चे को

दूध पिलाकर ही दम लेती है। जिस प्रकार आलू उबलने के पश्चात् स्वादिष्ट एवं मुलायम हो जाता है, उसी प्रकार तप में तपकर हृदय कोमल हो जाता है और तभी संतत्व की प्राप्ति होती है। इन सरल उदाहरणों द्वारा गूढ़ बातों का रहस्योद्घाटन हर किसी के बस की बात नहीं। फिर भी अगर हम नहीं समझ पाते हैं, तो यह हमारी कुपात्रता ही है।

कबीरदास ने कहा है– *दोनों हाथ उलीचीए यों सतंन को काम*। यहाँ सहस्त्रों हाथों से प्रसाद रूप में बँटे हैं–शिव-भस्म, रुद्राक्ष, गंगाजल एवं शिव स्तोत्र माला की पुस्तकें। संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जो सज्जन, निष्काम और परोपकारी है। इष्ट की भक्ति एवं गुरु सेवा ही जिनके जीवन का लक्ष्य है, जिनके हाथ बड़े ही मनोयोग से शिव का श्रृंगार करते हैं और पाँव अनवरत शिव की ही परिक्रमा करते हैं। गोयनका परिवार के ऐसे सद्गृहस्थ संतों की लोकमंगलकारी भावनाओं के फलस्वरूप ही ऐसे विराट् आयोजन सफलतापूर्वक पूर्णता प्राप्त करते हैं।

शिव-चर्चा का अन्तिम चरण। अस्ताचलगामी सूर्य की रश्मियों से प्रकाशित होता तालाब। अध्यात्म की आभा से आलोकित होता सम्पूर्ण शिवग्राम। इस विलक्षण प्रकाश में कुछ दीपक तैर रहे हैं। दीपमालिकाओं से झिलमिलाता मानसरोवर। शिवालय का अद्भुत श्रृंगार एवं विस्फारित नेत्रों से इस विहंगम दृश्य को देखता जनसमुदाय। आज हर जिज्ञासु को मोमबत्ती के रूप में प्रकाश की एक अनमोल भेंट मिली है। इस ज्ञान सरोवर में डुबकी लगाने के पश्चात् हम पर्वतों की ऊचाँईयों पर भी पहुँचे। श्वेत शैल शिखरों की ठण्ढक भी महसूस की। शिव के दुर्लभ दर्शन हुए, क्योंकि फरवरी में ही अमरनाथ के कपाट खुल गए थे। हर-हर महादेव!

– मधु-शिव रुंगटा, मुंगेर

शिव चरित्र एवं महिमा–अनुभूति के कुछ अंश

जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाइ–जो शिव को जानने की कोशिश करता है, वह शिवमय ही हो जाता है कुछ ऐसी ही अनुभूति उस समय हुई जब मुंगेर के मछली तालाब स्थित शिवालय में हमारे परम पूज्य गुरु स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के मुख से शिव महिमा के बोल प्राण-स्वरूप पूरे ब्रह्माण्ड में संचरित होने लगे। मानो साक्षात् ब्रह्म अपनी महिमा के आलोक से दिग्-दिगन्तर को

आलोकित कर रहे हों। चेतनाशून्य बना देने वाली ऊर्जा का संचार कण-कण में व्याप्त हो रहा था। इस अमृतवर्षा ने हमें नवजीवन प्रदान किया, मानो हम धरतीवासी न होकर शिव लोक के प्राणी हो गए हों और साक्षात् प्रभु के मुखारवृन्द से उन्हीं की लीलाओं का आनन्द ले रहे हों।

आज संसार के समस्त प्राणी अपने अशान्त एवं कोलाहलमय जीवन से त्रस्त होकर क्षणिक शान्ति की खातिर युगपुरुषों की ओर व्याकुल नजरों से देख रहे हैं। ऐसे में शिव चरित्र एवं शिव महिमा की परिचर्चा घनघोर अंधेरी रात में बिजली की किरण के समान कौंधकर हमें नयी राह दिखा गयी। मंच पर विराजित स्वामीजी ने साक्षात् शिव के रूप में शिव महिमा की गंगा से एक छोटी-सी धारा को प्रवाहित कर विशाल जनसमुदाय का उद्धार कर दिया। इस चर्चा का आनन्द बच्चों ने कहानियों के रूप में, बड़ों ने गूढ़ रहस्य एवं युवाओं ने नयी दिशा के रूप में लिया। यह वेदों का पाठ या किसी पुराण का पठन नहीं था, वरन् स्वामीजी के अन्त:करण के उद्‌गार थे, जिनमें ईश्वर को समर्पण और हम निरीह प्राणियों को दिशा-निर्देश देने की व्याकुलता थी। वाणी के ओजमय प्रवाह स्वत: प्रस्फुटित हो रहे थे।

शिव चरित्र की ऐसी व्याख्या न हमने कहीं सुनी, न पढ़ी और न देखी ही थी। इसकी तो कल्पना भी नहीं जा सकती थी। इस अमृत रूपी रस का पान जिसने किया, वह बतलाने में असमर्थ था, क्योंकि इसकी अनुभूति अपूर्व एवं अवर्णनीय थी। कण-कण में प्राणों का ऐसा संचार हुआ मानो आत्मा उसी में मदहोश हो गयी। प्रतिदिन जब कार्यक्रम शुरू होता, सब मन्त्रमुग्ध स्थिति में बैठे रहते और समाप्त होने पर तन्द्रा टूटती एक अभूतपूर्व ऊर्जा के एहसास के साथ।

असीम को क्या सीमा में बाँध जा सकता है? परम शिव तो अनन्त, अनादि एवं अगोचर हैं। उनकी चर्चा का आदि क्या और अन्त क्या? बस, यूँ समझिए कि हमें आलोड़ित कर जाती। रातभर मन उसी में डूबा, हिलोरें लेता रहता, उस प्रभात की प्रतीक्षा में जब इसकी पुनरावृत्ति होगी। शिव चरित्र रूपी अथाह सागर को किस विनम्रता एवं निष्ठा से एक घड़े में एकत्र करने की कोशिश की गयी, मानो हर प्राणी यह सोचकर संतुष्ट हो गया– *पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।* शिव रूपी खजाने का ऐसा अद्‌भुत वितरण कि सभी राजा बन गए, कोई रंक रहा ही नहीं। मंत्रों का स्पन्दन, कीर्तन के मीठे बोल और साथ ही गुरुजी की निश्छल मुस्कान प्राणों में मिश्री घोल रहे

थे। पूरा वायुमण्डल आहुति की सुगन्ध, शंखनाद और घण्टी की ध्वनि से अभिभूत हो गया।

शिव महिमा के रहस्यमय पक्षों को बड़े सहज भाव से उद्‌घाटित किया गया। महाकाल की महिमा, लिंग पूजा का महत्त्व, रुद्राभिषेक में मंत्रों की सरिता, बारह ज्योतिर्लिंगों की कथा एवं सम्बन्धित घटनाओं का इतना सजीव वर्णन मानो पर्दे पर चलचित्र चल रहा हो। सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलयुग, सभी को हमने उस दौरान जी लिया।

शिव की महिमा भला शक्ति के बगैर पूरी हो सकती है, कदापि नहीं। शक्ति तो शिव की प्राण स्वरूपा है। शक्ति नहीं तो शिव भी नहीं। शक्ति की महिमा का वर्णन शिव की अपार शक्ति के रूप में कर गुरु जी ने हमारे समाज की आँखें खोल दीं, जहाँ आज नारी उपेक्षित है। नर-नारी के सामाजिक पक्ष की विवेचना बड़े सुन्दर ढंग से की गयी, ताकि हम एक संतुलित समाज के गठन की ओर प्रेरित हो सकें।

स्वामीजी के व्यक्तित्व और वाणी से ऐसी चुम्बकीय धारा बह रही थी कि लेखनी स्वत: मुखर हो उठी। स्वामीजी ने ज्ञान के मोतियों को विशाल जनसागर में बिखेरा। उनकी वाणी में हमें ज्ञान एवं सहजता के साथ-साथ विनोद का भी आनन्द आता है।

'व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद'। सभी अपनी अवस्था के अनुसार ही उनका दर्शन करते हैं। गुरु, सखा, भाई एवं बेटा, सब उन्हीं में निहित हैं। मेरे रोम-रोम ने जो अनुभव किया, वह वर्णनातीत है, क्योंकि अनुभूति एवं प्रस्तुति में कोई समन्वय नहीं। जैसे रसगुल्ले का स्वाद खाने वाला ही बता सकता है, भला सुनने वाला क्या जाने। मेरी दशा भी वही है, परन्तु फिर भी अभिव्यक्ति का प्रयास कर रही हूँ।

पूर्णाहुति के दिन पूजा, अर्चना, कीर्तन, भजन से सारा वातावरण गुंजित हो रहा है। सभी भक्ति रस में डूबे हुए हैं। पूरे सप्ताह तक किसी को अपनी सुध नहीं रही। अंधेरे में उठना। नित्य कर्म से निवृत्त होकर शिवालय की ओर बरबस खिंचे चले आना, बस यही दिनचर्या थी। सारा दिन मंत्रों के विधिवत् पाठ एवं आराधना के कार्यक्रम में व्यतीत हो जाता था। बारह नन्हें-नन्हें ज्योतिर्लिंगों की पूजा नन्हें बालकों द्वारा कराया जाना अद्‌भुत था।

लिंग की शोभा यात्रा सहस्त्र जल कलशों के साथ सम्पन्न हुई। सायंकाल का समय अविस्मरणीय, अपूर्व एवं आह्लादकारी था। जिस लिंग की पूजा

पिछले दिनों चल रही थी, उनकी स्थापना गंगादर्शन के अखाड़ा परिसर में परम पूज्य गुरु स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुई। योग की रक्षा हेतु इनका नामकरण गुरुजी ने 'योगेश्वर लिंग' किया। साथ-ही हमारे हृदय मन्दिर में भी प्रेरणा एवं भक्ति स्वरूप स्थापित कर दिया। सात दिनों की अमृत वाणी हमें सात युगों की तृप्ति दे गयी। उन्मादित मन उसी में लीन है। गुरुजी का एक और अनुग्रह, जिसकी याद बार-बार रोमांचित कर जाती है–

शिव स्वरूप जो हृदय विराजैं
श्याम रूप मधुबन में गावैं।
ऐसे हैं सद्‌गुरु हमारे
कोटि-कोटि उन्हें प्रणाम्!

– संन्यासी योगप्रिया, पटना

शिव चरित्र एवं आराधना के अनुभव

जब सन् 1956 में परमहंस सत्यानन्द जी के चरण मुंगेर में पड़े, तब वह इस नगर के लिए ऐतिहासिक घटना थी। किसी को पता नहीं था कि कौन-सी ईश्वरीय प्रेरणा ने उस परिव्राजक संन्यासी को यहाँ टिका दिया। यह अब स्पष्ट होता है।

पुराणों में कहा गया है कि जब सती के शव को अपने कंधे पर लेकर भगवान शिव बौराए भटक रहे थे, उस समय भगवान विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से उस शव को काट-काट कर गिराना शुरू किया और उस देह के अंश जहाँ-जहाँ गिरते गए, वह एक सिद्ध पीठ होता गया। मुंगेर में माता सती के नेत्र गिरे थे, इसलिए यह क्षेत्र नेत्र पीठ कहलाया। नेत्रों द्वारा दृष्टि की प्राप्ति होती है, जिससे सबकुछ स्पष्ट होता है। पर दृष्टि का अर्थ ज्ञान भी है। नेत्र तंत्र नामक एक तंत्र शास्त्र भी है, जिसके प्रथम भाग में भौतिक नेत्र को विषय बनाया गया है और दूसरे भाग में आध्यात्मिक नेत्र, अर्थात् प्रज्ञा चक्षु की चर्चा की गयी है। सन् 1963 में जब स्वामी सत्यानन्द योग की ज्ञान-गंगा को विश्व के कोने-कोने में प्रवाहित करने के उद्‌देश्य से बिहार योग विद्यालय की स्थापना करते हैं, तब आश्चर्य यह कि वे उस विद्यालय का प्रतीक 'आज्ञा चक्र' चुनते हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टि का

स्रोत है। उनके द्वारा प्रवर्त्तित योग प्रणाली में आज्ञा चक्र पर ध्यान विशेष महत्त्व रखता है।

स्वामी निरंजन कहते हैं कि न तो शिवजी ही बौराए होंगे और न श्री विष्णु ने सती के अंगों को काटा होगा। आने वाले युगों को ध्यान में रखते हुए, जगत् कल्याण के लिए परम शिव ने विष्णु के साथ मिलकर 64 शक्तिपीठों की स्थापना की, जो भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्याओं के केन्द्र बने। जैसे हमारे महाविद्यालयों में प्राचार्य होते हैं, वैसे इन पीठों में एक-एक योगिनी को बैठाया गया। शिवजी ने सती को 64 तन्त्रों की विद्या सिखलायी थी, जिनमें सारा विज्ञान, सारी कलाएँ समाहित हैं। उन 64 शक्तिपीठों की वन्दना के रूप में हम स्वामी निरंजन के श्री मुख से सुनते आ रहे हैं–

वेद भूमि भारत से मैय्या वैदिक विश्व बना दो,
जहाँ हो मैय्या वहीं से जल्दी वैदिक विश्व बना दो ।

स्वामी निरंजन द्वारा सृजित बाल योग मित्र मण्डल, जिसके अब तक सवा लाख से अधिक सक्रिय सदस्य हो चुके हैं, इसी ज्ञान की गंगा में स्नान कर रहे हैं। ये बच्चे ही अपने परम प्रिय गुरु से उन्हें शिव कथा सुनाने का आग्रह करते हैं और सहमति हो जाने पर ये सभी गोयनका परिवार के सबल नेतृत्व में आयोजन की तैयारी में जुट जाते हैं। आयोजन की भव्यता और सफलता अविश्वसनीय थी। सद्‌गुरु स्वामी निरंजन बच्चों के साथ बाल सरलता लिए कथाकार बनते हैं। कथाएँ तो पहले भी सुनी हैं, परन्तु एक बाल ब्रह्मचारी संन्यासी के मुख से जब ये नि:सृत होती हैं, तब लगता है मानो सदाशिव ही साक्षात् हमारे सामने अंधकार में प्रकाश पुंज के समान विद्यमान हैं। ज्ञान की गंगा बह रही थी, प्रकाश फैलता जा रहा था, जिसमें भक्ति की मधुरता भी समाहित हो रही थी।

कथा का आरम्भ– कथा तो ज्ञान की गंगा ही थी, जिसने हमारे ज्ञान नेत्र को जगा दिया। लोगों के मन में तरह-तरह की गलत धारणाएँ होती हैं। परन्तु कथा के पहले दिन ही कथाकार सृष्टि की व्याख्या करते हैं और बताते हैं कि सृष्टि के पूर्व अंधकार ही अंधकार था। अन्तहीन आकाश भी नहीं था। कौन है कर्त्ता, कौन है अकर्त्ता, किसी को नहीं पता। सर्वत्र अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उसे ही कहते हैं परम शिव, जो सृष्टि और प्रलय का कारक है, द्रष्टा भाव से सबकुछ देखता रहता है। उसी अंधकार में प्रकाश की झिलमिलाहट

होती है, परम शिव के मन में लीला करने की, एक से अनेक होने की इच्छा होती है। उनके विग्रह से शक्ति का उदय होता है, जो शिवा कहलाती है। शिव पुरुष नहीं है, शक्ति स्त्री नहीं है। जैसे लकड़ी में अग्नि विद्यमान रहती है, किन्तु दिखायी नहीं पड़ती और जिसे प्रकट करने के लिए प्रयास करना पड़ता है, उसी प्रकार शक्ति शिव में व्याप्त है, शिव से अभिन्न है।

शिवलिंग–शिवलिंग शिव और शिवा, दोनों ही का रूप है। शिवलिंग संसार में सदा ध्यान के विकास का प्रतीक है, इसीलिए यह अर्घामुखी है और अर्घा परा शक्ति का, ऊर्जा का स्वरूप है। अर्घा योनि का भी प्रतीक है। इस प्रकार शिवलिंग में शिव और शक्ति, दोनों ही विद्यमान हैं।

शिव कथा के सभी छः दिन शिवलिंग की सम्पूर्ण आराधना होती रही। वाराणसी से आए प्रबुद्ध पण्डितों ने मन्त्रोच्चार के साथ विधिवत् शिवजी की अर्चना की। बारह ज्योतिर्लिंग भी स्थापित थे, जिनकी अर्चना छोटे-छोटे बच्चों द्वारा होती। अपूर्व वातावरण का सृजन था। कथा प्रारम्भ होने से पूर्व वैदिक शान्ति मन्त्रों का पाठ होता, विघ्नेश्वर अष्टोत्तर शतनामावली के साथ बच्चों के हाथों से हवन होता और उसके बाद गुरु स्तोत्रम्, सद्‌गुरु वन्दना, गणेश पंचरत्नम्, शिवपंचाक्षर, शिवषडक्षर, द्वादश ज्योतिर्लिंग और शिवमहिम्न स्तोत्रम् का पाठ होता और क्षमा प्रार्थना के बाद कथा प्रारम्भ होती। इन सभी स्तोत्रों का बच्चे ही उच्चारण करते, जिसमें स्वामीजी का स्वर भी संयुक्त होता। यह पाठ हमें निम्न मानसिकता से बहुत परे ले जाता। स्वामीजी की बाल सुलभ मुस्कान, स्नेह बरसाते नयन, त्रिपुंड लगा हुआ सौम्य-सुन्दर-आभा-सम्पन्न-मुखारविन्द हमारे अन्दर के शिव को बरबस जगा देता।

कथा का विषय तो कठिन था, दार्शनिक था, ज्ञान-विज्ञान से गुँथा था, किन्तु उन सबको जिस धागे में पिरोया गया था, वह सब कुछ योग, भक्ति, श्रद्धा एवं एकत्व के भाव से पूर्ण था। सब कुछ भूलकर एकाग्रता के साथ कथा-गंगा में हम बहते जा रहे थे।

स्वामीजी समझाते हैं कि संसार रथ के चार पहिए हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। परन्तु हमारी गाड़ी मात्र अर्थ और काम पुरुषार्थ के दो चक्कों पर ही लड़खड़ाकर चल रही है। बाकी धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के दो चक्के अचल हैं। अर्थ और काम पुरुषार्थ हमारे नश्वर शरीर के लिए हैं, पर धर्म पुरुषार्थ करो तो अपनी सही पहचान कर पाओगे। तुम कौन हो, कहाँ से आए हो,

तुम्हारा सृजन क्यों हुआ? तुम तो उस अविनाशी के अंश हो, नित्य, शुद्ध और बुद्ध हो। इसे जानो और मोक्ष को प्राप्त हो जाओ, उसी परमात्मा में विलीन हो जाओ। गुरु की कृपा प्राप्त करो, साधना करो, थोड़ी भी, पर नियमित और एकचित्त हो। तुम्हारे अन्दर श्रद्धा जागेगी और भक्ति का विकास होगा, जो तुम्हें अमरत्व प्रदान करेगी।

शिव चरित्र की कथा के साथ शिव आराधना यहाँ इतनी प्रबल थी कि यह स्थान शिवलोक ही बन चुका था। अपराह्न बेला में शिवलिंग का अभिषेक होता। सहस्र नामों से बेलपत्र चढ़ाए जाते। बारह ज्योतिर्लिंगों पर छोटे-छोटे पुजारी मेवा का प्रसाद चढ़ाते। बच्चे एवं गुरुदेव स्वामी निरंजनजी इन सहस्र नामों का पाठ समस्वर करते, पूरा जनसमुदाय भी भाव तथा कण्ठ से अपने को जोड़ देता इस अर्चना में।

पूजा के बाद अपराह्न बेला में स्वामीजी ज्यादातर हमें अपने को बदलने की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देते।

अन्तिम दिन जब विग्रह को अभिषेक के पश्चात् पालकी में विष्णुजी के परिसर में ले जाया गया, तब जनता पागल जैसी हो गयी उस दृश्य को देखने, उस पल की थोड़ी-सी झलक पाने को। कोई-कोई भाग्यशाली जलाभिषेक कर पाये। मुंगेर की आत्मा अब जाग उठी है। उसे नया अर्थ मिला है, जीवन को नयी दिशा मिली है। धन्य हैं ये मुंगेर निवासी, जिन्होंने स्वामी सत्यानन्दजी और स्वामी निरंजनजी को अपने हृदय में रख लिया है।

यह सुन्दर शिवलिंग अन्ततः गंगा दर्शन के अखाड़े में पहुँचता है। वहाँ उनका भव्य स्वागत होता है। सान्ध्यकाल में निरंजन स्वामी अपने हाथों से उस लिंग का अभिषेक करते हैं। शृंगार करते हैं। हम मंत्रमुग्ध से देखते जाते हैं। अभिषेक करने वाले तो खुद शिव हैं, सुन्दरम् हैं। स्वामीजी ने बताया कि यह अखाड़ा परमहंस सत्यानन्दजी का है, इसमें प्रवेशाधिकार और किसी को नहीं, पर उन्हीं के हेतु यहाँ शिवलिंग की स्थापना हुई है। इनका नाम 'योगेश्वर' हुआ। इनमें हमारे परम गुरु 'शिवानन्द' 'शिव' रूप में हैं, गुरुदेव सत्यानन्द के 'सत्यम्' इन्हीं में हैं, और सुन्दरम् तो ये हैं ही, पर हम जानते हैं वह सुन्दरम् आप ही हैं, आप ही हैं, आप ही हैं।

– संन्यासी आनन्दप्रिया, दिल्ली

शिवनामावल्यष्टकम्



हे चन्द्रचूड मदनान्तक शूलपाणे, स्थाणो गिरीश गिरिजेश महेश शम्भो ।
भूतेश भीतभयसूदन मामनाथं, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 1 ॥

हे पार्वती हृदयवल्लभ-चन्द्रमौले, भूताधिप प्रमथनाथ गिरीशजाप ।
हे वामदेव भव रुद्र पिनाकपाणे, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 2 ॥

हे नीलकण्ठ वृषभध्वज पञ्चवक्त्र, लोकेश शेषवलय प्रमथेश शर्व ।
हे धूर्जटे पशुपते गिरिजापते मां, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 3 ॥

हे विश्वनाथ शिवशंकर देवदेव, गंगाधर प्रमथनायक नन्दिकेश ।
बाणेश्वरान्धकरिपो हर लोकनाथ, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 4 ॥

वाराणसीपुरपते मणिकर्णिकेश, वीरेश दक्षमखकाल विभो गणेश ।
सर्वज्ञ सर्वहृदयैक-निवास नाथ, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 5 ॥

श्री मन्महेश्वर कृपामय हे दयालो, हे व्योमकेश शितिकण्ठ गणाधिनाथ ।
भस्मांगराग नृकपाल-कलापमाल, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 6 ॥

कैलासशैल-विनिवास वृषाकपे हे, मृत्युञ्जय त्रिनयन त्रिजगन्निवास ।
नारायणप्रिय मदापह शक्तिनाथ, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 7 ॥

विश्वेश विश्वभयनाशक विश्वरूप, विश्वात्मक त्रिभुवनैकगुणाधिवास ।
हे विश्वनाथ करुणामय दीनबन्धो, संसार-दुःख-गहनाज्जगदीश रक्ष ॥ 8 ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ हरिः ॐ ॥

शिव स्तुति

जय शिवशंकर, जय गंगाधर, करुणाकर करतार हरे,
जय कैलाशी, जय अविनाशी, सुखराशी, सुख-सार हरे,
जय शशि-शेखर, जय डमरू-धर, जय जय प्रेमागार हरे,
जय त्रिपुरारी, जय मदहारी, अमित अनन्त अपार हरे,
निर्गुण जय जय, सगुण अनामय, निराकार, साकार हरे,
पारवती पति, हर हर शम्भो, पाहि पाहि दातार हरे ॥ 1 ॥

जय रामेश्वर, जय नागेश्वर, वैद्यनाथ केदार हरे,
मल्लिकार्जुन, सोमनाथ जय, महाकाल ओंकार हरे,
त्र्यम्बकेश्वर, जय घुश्मेश्वर, भीमेश्वर जगतार हरे,
काशीपति, श्री विश्वनाथ जय, मंगलमय, अघ हार हरे,
नीलकण्ठ जय, भूतनाथ जय, मृत्युंजय अविकार हरे,
पारवती पति, हर हर शम्भो, पाहि पाहि दातार हरे ॥ 2 ॥

जय महेश, जय जय भवेश, जय आदि देव, महादेव विभो,
किस मुख से हे गुणातीत प्रभु, तव अपार गुण वर्णन हो,
जय भवकारक, तारक, हारक, पातक-दारक, शिव शम्भो,
दीन दुःखहर, सर्व सुखाकर, प्रेम सुधाकर दया करो,
पार लगा दो भवसागर से, बनकर कर्णाधार हरे,
पारवती पति, हर हर शम्भो, पाहि पाहि दातार हरे ॥ 3 ॥

जय मन भावन, जय अतिपावन, शोक नशावन शिव शम्भो,
विपद विदारन, अधम उबारन, सत्य सनातन शिव शम्भो,
सहज वचन हर, जलज नयन वर, धवल वरन तन शिव शम्भो,
मदन कदन कर पाप हरन हर, चरन मनन धन शिव शम्भो,
विवसन, विश्वरूप, प्रलयंकर, जग के मूलाधार हरे,
पारवती पति, हर हर शम्भो, पाहि पाहि दातार हरे ॥ 4 ॥





























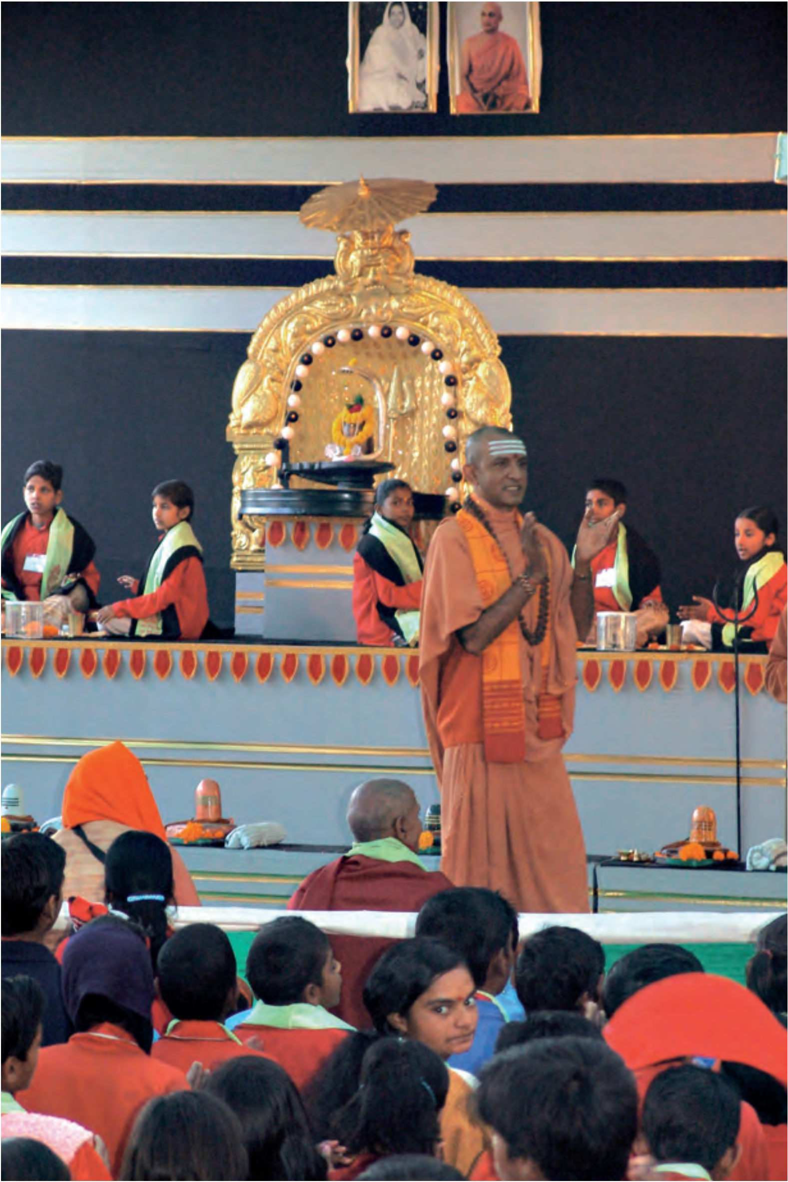
























स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

शिव अनादि देव, अनादि तत्त्व हैं। इनकी उपस्थिति सभी कालों में रहती है। जिस रूप में भी आप इन्हें देखना चाहें, देख सकते हैं। कभी त्रिगुणातीत रूप में, तो कभी गुणों के बन्धन में; कभी एक तपस्वी और योगी के रूप में, तो कभी एक आदर्श पति एवं पिता के रूप में। शिव महिमा अपरम्पार है।

बाल योग मित्र मण्डल के बच्चों के अनुरोध पर शिव-चरित्र-गंगा स्वामीजी के श्रीमुख से निःसृत हो चली। स्वयं शिवमुख से शिव-चरित्र का अमृत प्रवाह! पाशुपत तंत्र, शिव-शक्ति, लिंग, भक्ति व्याख्या के साथ-साथ शिव चरित्र के गूढ़ रहस्य उद्भासित होने लगे। भगवान शिव की निश्छल भक्ति से पूर्ण प्रसंगों ने सम्पूर्ण शिवालय प्रांगण को भक्ति-रस से ओत-प्रोत कर दिया।

सूर्य की प्रखरता एवं चन्द्र की शीतलता, सागर की गहराई एवं पर्वत की उत्तुंगता, विचारों की दार्शनिकता एवं बाल-सुलभ कोमलता के सुन्दर समन्वय के साथ अपनी अद्भुत, अनोखी शैली एवं ओजस्वी वाणी में स्वामीजी योग एवं अध्यात्म की शिक्षा जनमानस को हृदयंगम कराते रहे।

13 से 19 फरवरी 2009 तक शिवालय के प्रांगण में उनके श्रीमुख से जो अमृत वर्षा हुई, उन्हीं अमृत कणों को संजोकर यह पुस्तक तैयार की गयी है। अपने जीवन में शिवानुग्रह की अनुभूति के अभिलाषी भक्तों एवं साधकों के लिए यह एक प्रेरक मार्गदर्शिका है।



[bar code here]

ISBN : 978-93-81620-17-5